प्रकाशक—

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ ( अलीगढ़

# क्षयरोगांक

अनेक रोगानुगतो बहुरोग पुरोगमः ।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ॥
नक्षत्राणांद्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा ।
यच्च राजा च यक्ष्माच राजयक्ष्मा ततो मतः ॥


विशेष सम्पादक
वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह जी
रसायनाचार्य

सम्पादक
वैद्य बांकेलाल गुप्त
वैद्य देवीशरण गर्ग



वार्षिक मूल्य
भारत में ५≡)

इस अङ्क का
मूल्य ४)

क्षयरोगाङ्क की

# विषय-सूची

क्रम संख्या — पृष्ठ संख्या

# क्षयरोगांक

की

## शास्त्रीय एवं कल्पित प्रयोग-सूची



## राजयक्ष्मा पर साधारण प्रयोग-

धन्वन्तरि के ग्राहक बनकर इसी प्रकार के और भी अनेकों उपयोगी विशेषांक खरीदिये और अपना ज्ञान बढ़ाइये। इनके एक एक पृष्ठ में अटूट ज्ञान भरा पड़ा है।

( विवरण अन्यत्र देखिये )

Approved by Dept. of Public Instructions of Central Provinces & Berar.

प्रधान सम्पादक—प्रो० [illegible] आयुर्वेदाचार्य, प्रिंसिपल आयुर्वेदिक कालेज हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस
( अवकाश पर )—शर्मा औषधि भण्डार लिमि० [illegible] ।
सम्पादक—वैद्य [illegible] गुप्त : वैद्य देवीशरण शर्मा ।

भाग २० | अङ्क १-२ | जून-जौलाई | सन् १९४४ ई०

# क्षय-रोगांक

## धन्वन्तरये नमः

आविर्भूय , कलशं दधदर्णवाद्यः,
पीयूषपूर्णममरत्व कृते सुराणाम् ।
आरोग्य जीर्ण जगता जनितं प्रशंसो,
धन्वन्तरिः स भगवान भविकाय भूयात ॥

भावार्थ—

जो देवताओं को अमर और मनुष्यों को निरोग्य करने के लिये हाथ में अमृत से पूर्ण कलश ले समुद्र से प्रादुर्भाव हुए हैं ऐसे "भगवान धन्वन्तरि" हमारा कल्याण करें ।

# धन्वन्तरि प्रशस्तिः

( १ )

यः पाययत्यमृततुल्यमहौपधासवम्,
यो दर्शयत्यनुदिनं मरणि गदानाम।
आश्रित्य यंसमधिकां द्यु तिमेति वैद्यो–
धन्वन्तरिर्विजयता जगदेकबन्धुः॥

( २ )

सन्त्यत्र पत्राणि मनोहराणि किम,
चिकित्सकै श्चारुतया चितानि वै।
प्रचारिताऽप्यत्र तत्र किं तुलाम,
धन्वन्तरे रंग महेश्वराड् हरेः॥

( ३ )

जगद्वन्द्यविद्वद्वरै र्वन्दितो यः,
परं मण्डितः स्वानुभूतैः प्रयोगैः।
क्षयस्य क्षयेन क्षितानां जनानाम,
क्षयाङ्कः क्षयाङ्कः क्षयं नेष्यति द्राक्॥


रचियता–

साहित्यायुर्वेदाचार्य पं० रामेश्वर शास्त्री "विद्यालङ्कार"

लक्ष्मणगढ़ ( सीकर )

# क्षय रोगांक

कारण, पूरब रूप, रूप के भेद लखावे ।
उपशय औ' सम्प्राप्ति, विविधि-विधि से दर्शावे ॥
औषधि, अन्न, विहार, पथ्य, परिचर्या सुखकर ।
दे उपदेश अनूप, बनेगा सबका हितकर ॥
वैद्य-बंधु अपनाइये, "धन्वन्तरि-सुभगाङ्क" को ।
'क्षय' का क्षय कर डालिये, पढ़कर "क्षय-रोगांक" को ॥

—रचयिता—

वैद्य भूषण, वैद्यमार्त्तण्ड कविराज ब्रह्मानन्द जी चन्द्रवंशी,
जमीदार बरोदा जबलपुर सी० पी०

## धन्य हो हे ! क्षय रोगांक !

सफलता का मुकुट पहिने,
वृटियों के हार गहने,
धातुओं की ले गदा कर,
छोड़ता आरोग्य तान ।
धन्य हो हे! क्षयरोगांक ॥

× × × × ×

तुलसी की तलवार लेकर,
अमृता की ढाल लेकर,
वज्र मे वज्रांग होकर,
बन गया है रामबाण ।
धन्य हो हे ! क्षयरोगांक ॥

लेखक—
श्री० ब्रजमोहन जी व्यास
श्री पृथ्वी प्यारा, दादर बम्बई ।

# रणआहुति

धन्वन्तरि ! रण वाद्य बजादे ।

जिससे एक बार गुञ्जारित हो रण, ऐसा साज सजा दे ।

घर घर में वह तान सुने हम

आयुर्वेद जय-गान सुने हम

भारत के कोने कोने में, आप जैसे ही वैद्य बना दे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

महल कुटी झंकृत हो सारा

'आयुर्वेद' सिरमौर हमारा

अन्य 'पैथी' के वक्षस्थल पर, शैल-खण्ड-श्रृंगार सजादे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

पहन अरे केसरिया बाना

कह तूने क्या है अब ठाना

सैना-नायक निज सैना में, अब वह जीवन-ज्योति जगादे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

जागृत ही विजयी होता है ।

सोने वाला नित खोता है

या तो विजय प्राप्त कर रण में, या अपना अस्तित्व मिटा दे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

ढलकादे भीषण मद-प्याला

जग में धधक उठे वह ज्वाला

स्वर्ण-सत्य उज्ज्वल हो निकले, फिर असत्यकी खाक उड़ादे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

नये वर्ष का यह अभिनन्दन

नत-मस्तक-जग का शत वन्दन

यही मात्र अभिलाषा मेरी, ऐसा सुन्दर साज सजा दे ।

धन्वन्तरि ! रण-वाद्य बजा दे ॥

—o—

—रचयिता—
श्री० अम्बालाल जोशी
जोधपुर ।

# सूखे सुमनों के हैं हार!

हृदय सरोवर सब हैं सूखे,
भावुक मन-मराल हैं भूखे,
शुचि सौन्दर्य रहित हैं रूखे,
अरे! आज सूखा संसार ॥१॥

सरस हास के यत्न विफल हैं,
तीखे तीर लगे विष फल हैं,
जीवन के अभिनय कुछ पल हैं,
कर हैं कम्पित, स्वर अनुहार ॥२॥

वंचित होते ही आते हैं
संचित भी खोते जाते हैं
अशन वसन, परवश पाते हैं,
सुख सपना सा विश्व असार ॥३॥

कोटि कोटि जन जब भूखे हैं,
वसन हीन तन मन सूखे हैं,
मेरे प्रति तीखे रूखे हैं,
क्षणिक शांति नाटक निःसार ॥४॥

सूखे मुख सूखी कवि वाणी,
भारत के हम सूखे प्राणी,
सूखे सुमनों की कल्याणी,
माला देते हैं उपहार ॥५॥

रचयिता—

श्री० पं० गिरजादत्त जी शर्मा शास्त्री, काव्यतीर्थ,
बक्सर (आरा)

# कामना

लेखक

'क्षय' होती सब धातु गात भी 'क्षय' हो जाता ।
मज्जिनि कास समेत, ताप अधिकार जमाता ।
क्षीण शक्ति हैं जात, ओज खो कर धोता है ।
नर पिंजरावशेष, भार जीवन ढोता है ।
ऐसा 'क्षय' हो क्षय प्रभो ?, 'क्षय रोगांक' महान से ।
केवल है यह 'कामना' 'धन्वन्तरि' भगवान् से ॥

साहित्य विशेषज्ञ पं० रायबहादुर 'पाण्डेय' आयु० विशारद
विजयगढ़ (अलीगढ़)

## यक्ष्मन् !

जीवन यात्रा की अविच्छिन्न बहती हुई सरिता के रहस्यपूर्ण गर्भ में तुम अपने सुसज्जित मञ्च पर अधिष्ठित होकर, शारीरिक रक्त विभाग का पर्यवेक्षण करते हुए, रासायनिक परिवर्तन से उत्पन्न विदूषित मांसों एवं घातक द्रव्यों को बहिर्मुख कर, स्थानीय शासन क्रिया द्वारा उत्तरकाल में आने वाले रक्तादि धातुओं के लिये उपयुक्त स्थान अधिकृत करा देते हो। तुम्हारी इस रक्षा विभाग की दैनिक व्यवस्था को देखकर ही भगवान विष्णु ने तुम्हें अपना अंश माना है।

\+ + + +

परन्तु, तुम्हारा चण्ड स्वभाव सांप की भांति छेड़ने वाले को नतमस्तक कर, चरण-चुम्बन करने पर भी असन्तुष्ट ही रह कर, अपने शासन-सूत्र से अभियुक्त को सन्देश-वाहक बनाकर मित्र 'यम' के घर अतिथि के रूप से भेजता है। वस्तुतः तुम विश्व की अतुलित स्वतन्त्र शक्ति हो। इतिशम् ॥

लेखक— श्री० जगन्नाथ शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य द्वि० वर्ष

बड़ी सादड़ी (मेवाड़)

## अभि-शाप

कहें भाग्य का दोष या दासता का,
कि विक्षिप्त है वायु मण्डल यहां का ।

विवश आज ऐसे हुये देश वासी,
बनी बुद्धि-विद्या भी औरों की दासी ।

यही प्रश्न है पेट कैसे भरेगा,
कहो स्वास्थ्य की कौन चिन्ता करेगा ।

कठिन हो गया शुद्ध घी दूध मिलना,
पड़े रोटियों के लिये आज पिलना ।

किया स्वास्थ्य का ह्रास है आज 'कल' ने,
न पाता है कोई अछूता निकलने ।

हुआ रोग से "इन्दु" निरतेज प्रानी,
रही स्वास्थ्य की याद केवल कहानी ।

बना देश ही आज है 'राज रोगी',
बताओ भला किस तरह मुक्ति होगी ।

लेखक-श्री० वैद्य पं० हरिवल्लभ मिश्र "इन्दु" आयुर्वेद-शास्त्री,
आयुर्वेद-चिकित्सालय, मण्डनपुर ( अलीगढ़ )

विज्ञ महानुभावो ! आप क्षयरोगांक में प्रकाशित समस्त लेखों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें। यह समस्त लेख भारत के मान्य विद्वानों ने जनता के लाभार्थ उपस्थित किये हैं। मैंने इनमें विशेष परिवर्तन नहीं किया। इस बार मैंने यथा शक्ति चेष्टा की कि लेख एक विषय पर एक ही हो पर न हो सका। करण प्रत्येक व्यक्ति जो साहित्य स्वतन्त्रता पूर्वक लिखकर दे सकता है। वह किसी व्यक्ति की प्रेरणा पर नहीं कर सकता है। और पत्र के विषय में यह है भी कठिन। प्रस्तुत विशेषांक में दिये लेख प्रायः उच्च कोटि के हैं फिर भी विशेषांक को जैसा होना चहिये वैसा नहीं बन सका। विषय सूची के कई विषय तो ऐसे हैं जिन पर कि लिखने का प्रयास भी नहीं किया गया। इसका मुख्य कारण वैद्य समाज की क्षयरोग के बारे में अनभिज्ञता नहीं वरन् समय का अभाव ही है।

धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक वैद्य बांकेलाल जी गुप्त प्रशंसा के पात्र हैं जिन्होंने चेष्टा करके धन्वन्तरि का यह विशाल विशेषांक निकाल कर ग्राहकों को भेंट कर दिया है। मैं धन्वन्तरि के लेखकों एवं प्रेमियों का आभारी हूं जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर अपना समय देकर लेखादि देकर इस अङ्क को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में सहायता दी है। साथ ही वैद्यराज बांकेलाल जी गुप्त प्रधान सम्पादक धन्वन्तरि का विशेषतः आभारी हूं कि मुझे इस प्रस्तुत अङ्क का सम्पादक नियुक्त कर आयुर्वेद सेवा करने का सुअवसर प्रदान किया है।

इस समय आयुर्वेद जगत में धन्वन्तरि सम्पादक आर्थिक संकट सहकर भी इस लोक प्रिय पत्र को जीवित ही नहीं रख रहे पर इसके द्वारा स्थाई साहित्य कि दृढ़ भित्ति निर्माण करने का उत्साह पूर्वक साहस कर रहे हैं। इसके लिये वह समस्त आयुर्वेद प्रेमियों के धन्यवादार्ह हैं। आयुर्वेद संसार में इस पत्र के समकक्ष अन्य कोई पत्र नहीं है ऐसा लिखना अतिशयोक्ति न होगी। इस पत्र ने सामान्य चिकित्सोपयोगी ज्ञान अभिवृद्धि करके वार्षिक अङ्कों द्वारा आयुर्वेद ज्ञान का स्थाई प्रचार किया है।

मैं भारतवर्ष की, क्षय लीग (The Tuberculosis Association of India) जिसके संरक्षक श्रीयुत वायसराय महोदय हैं, के सैक्रेटरी श्रीमान् करिअप्पा महोदय का अति आभारी हूं जिन्होंने उपरोक्त लीग के कार्यालय से चित्र एवं सहित्यादि प्रदान कर अत्यधिक सहायता प्रदान की है। किमधिकम् विज्ञेषु।

विनीत—

कविराज प्रतापसिंह।

धन्वन्तरि का यह विशेषांक "क्षयरोग" जैसे महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाशित किया गया है। क्षयरोग के विषय में आपको इसमें अनेक विद्वानों के गवेषणापूर्ण लेख पढ़ने को मिलेंगे। कौन ऐसा चिकित्सक होगा जो क्षयरोग की महत्ता को स्वीकार न करेगा ? इस विशेषांक की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि आज हम जिधर दृष्टि डालते हैं, उधर ही क्षय रोगी का आर्तनाद सुनाई देता है, छोटे बड़े जितने भी वैद्य हकीम और डाक्टर हैं, वे सब इस रोग से आक्रान्त रोगी के चक्कर में पड़े दिखाई देते हैं। अहर्निश एक से एक उत्तमोत्तम औषधियों के प्रयोग करने पर भी सफलता नजर नहीं आती, हकीम महोदय तो रोज नई नई, कुश्ता तथा माजून आदि के प्रयोग में लगे रहते हैं, यही हालत डाक्टरों की भी है।

भारत जैसे गरीब देश के लिये तो यह रोग अभिशाप सा होता जा रहा है। अतः इस रोग का विशद विवेचन पूर्ण प्रतीकार करना परमावश्यक ज्ञात हुआ। यही सोचकर ऐसे महत्वपूर्ण एवं भयावह रोग पर विशेषांक निकालने का विचार हुआ। किन्तु आवश्यकता हुई कि इस विशेषांक का सम्पादन किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा हो क्योंकि धन्वन्तरि के आज तक जितने भी विशेषांक निकले हैं, वे सब अपने विषय में महत्वपूर्ण और स्थाई आयुर्वेदीय साहित्य के रूप में, यही कारण है कि आज हमारे पास गत विशेषांकों में से एक भी विशेषांक नहीं हैं, उन विशेषांकों की मांग इतनी हो रही है कि यदि दूसरा संस्करण छपाया जाय तो उसे भी निकलते देर नहीं होगी। किन्तु आधुनिक परिस्थिति एवं अवकाशाभाव के कारण हमें विवश होना पड़ता है। अस्तु, आखिर में भारत प्रसिद्ध लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य, मैनेजिंग डाइरेक्टर, आर्य औषधि भण्डार, देहली एवं प्रिंसीपल आयुर्वेदीय कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस (अवकाश पर) से प्रार्थना की। और आपने सहर्ष मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इसका सम्पादन भार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुये विशेषांक की विषय सूची भेज दी।

इसकी विषय सूची जैसी महत्वपूर्ण थी, यदि उन सब विषयों पर विद्वान वैद्यों की लेखनी थोड़ी बहुत चलती तो वास्तव में आज विशेषांक में चार चांद लग जाते। किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि कितने ही लेखकों तथा विद्वान वैद्यों को दो-दो चार-चार लिफाफे-कार्ड दिये गये यहां तक कि टेलीग्राम भी दिये। किन्तु इतनी मिन्नतें करने पर भी मुझे निराश ही होना पड़ा। फिर मैं क्या करता, विवश हो मुझे जितने ही लेख मिले उसी से सन्तोष करना पड़ा।

यह रोग ऐसा भयङ्कर और दुष्ट होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सक को इसका पहचान करना मुश्किल हो जाता है। कभी २ तो चिकित्सक से भारी भूल भी हो जाती है। जब तक यह अपना पूर्ण रूप से रोगी पर कब्जा नहीं कर लेता तब तक चिकित्सक को सन्दिग्ध में ही रहना पड़ता है। आपको इस विशेषांक में ऐसी गलती से बचने के लिये कितने ही खोज पूर्ण लेख मिलेंगे, जिससे आप बड़ी सुविधा से प्रारम्भिक क्षयरोग

की पहिचान कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त अनेक उपयोगी प्रयोग तथा महत्व पूर्ण लेख मिलेंगे।

हमारे आयुर्वेद शास्त्र रूपी समुद्र में अनेक तरह के रत्न भरे पड़े हैं, किन्तु आवश्यकता है उन्हें अन्वेषण करने की। जिसके द्वारा हम आज कल के विपक्षियों द्वारा उठने वाली अनेक तरह की शंकाओं का उत्तर दे सकें। प्रस्तुत विशेषांक में ऐसे आक्षेपों के लिये भी कई लेख हैं।

आज कल एलोपैथिक डाक्टरों की खूब बन आई है, वे अपने को समझते हैं कि हम जो कुछ भी उल्टी सीधी कह देंगे वही सत्य होगा। ये लोग भोली भाली जनता एवं छोटे मोटे वैद्यों की आंखों में धूल झोंकने में बड़े बहादुर होते हैं। एक साधारण रोग को भी बड़े रोग में परिणत कर लोगों में फैला देना इनके बांयें हाथ का खेल है। यथा—उरस्तोय को एलोपैथी डाक्टरों ने प्लुरसी संज्ञा देकर *क्षय रोग में गणना* करने लगे हैं, परन्तु यह क्षयरोग के अन्तर्गत नहीं है। प्राचीनाचार्यों ने आयुर्वेद में इसकी गणना पार्श्व वेदना के अन्तर्गत की है। हां यह क्षयरोगोत्पादक कारण हो सकता है, न कि क्षयरोग में इसकी गणना हो सकती है। मैंने इसकी आवश्यकता समझ कर ही इस विषय पर आयुर्वेदीय प्रमाणों सहित संक्षिप्त में कुछ दिग्दर्शन करा दिया है। जो आगे आप लोगों के सामनेहै।

अन्त में मैं इस अङ्क के प्रधान सम्पादक श्रीयुत वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य का विशेष आभारी हूं, जिन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर इस अङ्क का सम्पादन किया है। साथ ही साथ हमें धन्वन्तरिके स० सम्पादक पं० रमाकांत जी झा आयु० शास्त्री का भी आभारी हूं जिन्होंने मुझे सम्पादन कार्य में विशेषतया सहायता दी है।

## उरस्तोय ( प्युरसी )

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में उरस्तोय रोग का वर्णन नहीं मिलता, हमें जहां तक पता चला वहां तक यही मालूम हुआ कि सबसे पहिले महामहोपाध्याय गोविन्द दास महोदयने अपनी भैषज्य रत्नावली पुस्तक में इसका *संक्षिप्त वर्णन किया है*।

एलोपैथी चिकित्सक इसको क्षय का ही एक रूप मानते हुए प्लुरसी कहते हैं और क्षय रोगियों के साथ ही इस रोग के रोगी को रखते भी हैं और उसी भांति चिकित्सा भी करते हैं। यह रोग फेफड़े का होते हुए भी क्षय रोग या उसका कोई अंश नहीं है। इस रोग के अधिकतर रोगी फेफड़े के आवरण में जल संचय वाले देखे गये हैं। प्राचीनाचार्यों ने इस रोग का अन्तर्भाव पार्श्व शूल में किया है। उपर्युक्त महामहोपाध्याय जी ने स्वरचित 'भैषज्य रत्नावली' में निम्न लिखित लक्षण लिखे हैं यथा—

उरस्येकतरे पार्श्वे पार्श्वयोर्वाप्यसंचयः।
उरस्तोयगदोनाम व्याधिः प्राणनाशनः॥

अर्थात् उरःस्थान के एक पार्श्व या दोनों पार्श्वों में जल ( तरल पदार्थों ) का संचय होना, उस व्याधि को 'उरस्तोय' कहते हैं। यह रोग बहुधा प्राणों का नाश करने वाला होता है।

## उरस्तोय के भेद—

साधारणतः इसके तीन भेद होते हैं। यथा—

१—आशुकारी फुफ्फुसावरण प्रदाह।
२—चिरकारी फुफ्फुसावरण प्रदाह।
३—रक्त पूय भृत फुफ्फुसावरण प्रदाह।

## निदान—

शीत लगने से, छाती पर आघात होने से, ज्वर, सन्निपात ज्वर, राजयक्ष्मा तथा अन्य विविध प्रकार के फुफ्फुस जन्य रोगों, न्यूमोनियां, दमा, यकृत रोग के कारण उत्पन्न हुए पाण्डु एवं शोथ के कारण छाती में फुफ्फुसावरण में तीव्र शोथ एवं शूल हो जाता है। कभी २ यह रोग यहीं पर शांत हो जाते अर्थात् शोथ और शूल क्रमशः क्षीण होते हुए नष्ट हो जाते हैं। परन्तु कभी २ यह शान्त न होकर दोष आगे बढ़ने लगता है। जिससे आवरण कला के स्तरों के मध्य में पीत वर्ण सा स्राव होकर वहां संचित होने लगता है, संचित होते समय ज्वरादि प्रगट हो जाते हैं।

यह रोग उपद्रवात्मक अधिक होता है। इन में ७५ प्रतिशत का सम्बन्ध क्षय रोग से होता है। जिन रोगियों को फुफ्फुसावरण प्रदाह एक बार हो जाता है उनमें से अधिकांश को १-२ वर्ष के भीतर राजयक्ष्मा हो जाता है। हो सकता है कि यह रोग शमन होकर राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के लिये कीटाणु या विष की जड़ रह जाती होगी। और रोग मुक्त होने पर प्रमादवशात् पथ्यादि में गड़बड़ी हो जाता है जिससे राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

इनके अतिरिक्त इस उपद्रव भूत रोग की प्रतीत निम्न व्याधियों में होती हैं। यथा—

१-फुफ्फुस प्रदाह-न्यूमोनियां और ब्रांकोन्यूमोनियां।

२-आमवात प्रभृति संक्रामक ज्वर और रक्त में—विष या कीटाणुओं का फुफ्फुसावरण में प्रवेश हो जाय तो।

३-हृदयावरण प्रदाह—उदर्यकला प्रदाह, दन्त वेष्ट प्रदाह आदि से लसीका वाहिनियों द्वारा विष फुफ्फुसावरण में पहुंच जाय तो।

४-यकृद्दाल्युदर चिरकारी वृक्क प्रदाह, कर्क स्फोट आदि रोगों की अन्तिम अवस्था में यह उपस्थित हो जाता है। कचित् वृक्क विकार के हेतु से सर्वाङ्ग शोथ आने पर इस थैली में जल भर जाता उसे 'हाइड्रोथोरेक्स' कहते हैं यह विकार उभय पार्श्वगत होने से इसे अलग रोग माना है।

५-समीपस्थ इन्द्रियों की विद्रधि फुफ्फुसावरण में फूट जाय तो यह रोग होता है।

आशुकारी फुफ्फुसावरण प्रदाह—

इसकी तीन अवस्था होती हैं—

(१) प्रदाहावस्था।

(२) उत्सृजनावस्था।

(३) संशोषणावस्था।

प्रथमावस्था के एक से दो दिन पहिले वक्षः प्रदेश में वेदना होने लगती है, बेचैनी और अस्वस्थता का भास होता है। ऐसे समय पर अकस्मात् शीत लग जाने पर श्वास नलिका प्रदाह, उरस्तोय आदि व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रथमावस्था में फुफ्फुसावरण शुष्क रहता है। किन्तु कभी २ उसमें सौत्रिक तन्तुओं का निर्माण हो जाता है अतः इस अवस्था को शुष्क और सौत्रिक तन्तु भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

द्वितीयावस्था में रस संचित होने लगता है। कभी रक्त और पूय भी संचित हो जाता है।

## सामान्य लक्षण-

कृच्छ्रोच्छ्वास कफ स्रावो नीलावोष्ठौ तथा मुखम्।
शोथ पार्श्वेऽधरा क्षुद्रा विषमावेग वाहिनी॥
मूत्रावरोधं भवेच्चापि स ना शयनतो रुजा।
स्थास्य किंचित समासीनो लभते—रिमन्नूमहागदे॥

श्वासोच्छ्वास क्रिया में कष्ट होना, कफ स्राव, ओष्ठ और मुख नीले हो जाना, पैरों पर शोथ, निर्बल और विषम वेग वाली नाड़ी, मूत्रावरोध, लेटने में अधिक पीड़ा बैठे रहने पर पीड़ा कुछ कम हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

## प्राथमिक अवस्था के लक्षण-

इस अवस्था में प्रारम्भ के दो एक दिन वक्ष-प्रदेश में वेदना ( पार्श्व शूल ) का अनुभव होता है। उस समय अकस्मात् शीत लग जाने पर कास और उरस्तोय आदि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है फिर शीत लगना, कम्प होना, तीव्र पार्श्व पीड़ा (रोगाक्रान्त स्थान पर चुभोने सी पीड़ा होना), श्वास ग्रहण के साथ वेदना वृद्धि, स्तन ग्रन्थि के नीचे वेदना होना, ज्वर १०२ डिग्री तक बढ़ जाना। ज्वर जन्य शिर शूल, बेचैनी, मलावरोध, तेज नाड़ी आदि तथा शुष्क कास इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

कफ बहुत कम निकलता है, श्वासोच्छ्वास क्रिया जल्दी २ होने लगती है। वायु का आकर्षण कम होता है। रोगी कष्ट से श्वास ग्रहण करता है और श्वास लेने को बन्द करता रहता है। जिस पार्श्व में पीड़ा होती है उस पार्श्व में शोथ कम हो तो उस पार्श्व को दबाकर लेटने से पीड़ा कम होती है, किन्तु शोथ अधिक हो तो उस पार्श्व के बल से रोगी नहीं लेट सकता। लेटने पर शोथ के हेतु से वेदना असह्य होती है।

महा प्रचीरा पेशी से सम्बन्ध वाले फुफ्फुसाव-रण में विकृति हुई हो तो उरः फलक के नीचे सिरे पर वेदना, श्वासोच्छ्वास में कष्ट होना और हिक्का उपस्थित होने से रोगी को अति दुःख पहुंचना, वमन होना और कण्ठ नली के मूल में प्रबल वेदना होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस अवस्था में फुफ्फुसावरण के भीतर विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। रक्ताधिक्य होता है और श्लैष्मिक कला कोषों की वृद्धि होकर उनमें से रक्त भरने लगता है।

इस फुफ्फुसावरण के उभय प्रदेश में जो पर्दा होता है वह प्रथमावस्था में सहज दूर हो सकता है परन्तु जब सौत्रिक तन्तु बन जाता है। और फुफ्फुस को वक्ष की दीवार के साथ संलग्न कर देता है। तब फुफ्फुसावरण की कोमलता और उज्वलता सत्वर नष्ट होकर वह रूक्ष और मलिन बन जाता है।

यदि तरल में से सौत्रिक तन्तु बनकर दोनों कलाओं की सलग्नता हो जाती है तो वह आजीवन वैसी ही रह जाती है। रोग चले जाने पर इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

ध्वनि यन्त्र और ठेपन से परीक्षा करने पर आवाज मन्द आती है। इस सौत्रिक तन्तुमय शुष्क प्रकार में बहुत मोटी हो जाती है। ऐसा होने पर उस प्रकार को आच्छादनमय 'उरस्तोय' कहते हैं।

## द्वितीय रसोत्सृजनावस्था-

कुछ दिनों में प्रथमावस्था दूर होकर द्वितीया वस्था की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में विशे-

षतः सब लक्षणों का ह्रास हो जाता है। वेदना मन्द हो जाती है, ज्वर शमन हो जाता है, तथा खांसने में जो प्रबल त्रास होता था वह नहीं होता है। इस अवस्था में रक्त संग्रह और फुफ्फुस पर दबाव या संकोच के अनुसार श्वासोच्छ्वास क्रिया में द्रुतत्व होने लगता है। जिस स्थान पर रस संचय होने लगता है वह ऊंचा उठ जाता है।

फुफ्फुसावरण की थैली में तरल भर जाने पर दोनों कलाओं के परस्पर घर्षण जनित पीड़ा शमन हो जाती है, क्योंकि द्रव भर जाने पर कलायें दूर २ हो जाती हैं। मूत्रोत्पत्ति बहुत कम हो जाती है। जिससे मूत्र गाढ़ा बन जाता है फिर तरल पदार्थ की वृद्धि होने पर मूत्रोत्पत्ति बढ़ जाती है। इससे रोगी रोगाक्रांत पार्श्व की ओर सो सकता है, किन्तु रस का परिमाण बढ़ने पर श्वासोच्छ्वास में कष्ट होता है, जिससे सुख पूर्वक सो नहीं सकता है।

फुफ्फसावरण की थैली में जो रस संगृहीत होता है उसका रङ्ग यदि हरा, पीला होता है तो उसमें सौत्रिक तन्तु का अंश विद्यमान रहता है। तीव्र आशुकारी उरस्तोय में प्रदाह के हेतु से इस की उत्पत्ति हो जाती है।

रस संचय अधिक होने पर फुफ्फुस विधान, श्वास प्रणालिका आदि सब पीड़ित होते हैं, फुफ्फुसों में से वायु निकल जाती है। फुफ्फुस कशेरू की ओर हट जाता है। यकृत और सीहा स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं। ठेपन करने पर प्रतिघात ध्वनि घन निकलती है, यह ध्वनि आगे की अपेक्षा पीछे की ओर अधिक ऊंचाई तक प्रकाशित होती हैं रोगी के बैठने या खड़े होने पर रस गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार वक्ष के निम्न प्रदेश में स्थिर रहता है। तथा रोगी के लेटने पर रस संचय का स्थान बदल जाता है। अतएव आवाज का स्थान परिवर्तित हो जाता है।

फुफ्फुस का जो भाग दब गया हो, उस स्थान की परीक्षा रोगी के श्वासोच्छ्वास, वाक्योच्चारण और कास के समय ध्वनि वाहक यन्त्र से की जाय तो कुछ भी आवाज सुनने में नहीं आती।

रस के स्वल्प सञ्चय होने पर श्रवण ध्वनि मन्द हो जाती है। श्वासोच्छ्वास ध्वनि अस्पष्ट, वाक्योच्चारण की प्रति ध्वनि कुछ स्पष्ट और क्वचित् मेघध्वनि सदृश सहयोगी आवाज सुनाई देती है।

जहां तक घन ध्वनि सुनी जाती है, उस स्थान का अतिक्रम कर ऊर्ध्व स्थान पर ध्वनि यन्त्र द्वारा सुनने से कभी २ घर्षण ध्वनि सुनने में आती है तथा पश्चात् प्रदेश में कशेरू के समीप में जहां दबा हुआ फुफ्फुस स्थित है, वहां सुनने पर वंशी ध्वनि के सदृश आवाज और अपेक्षाकृत अस्पष्ट दूर स्थित वाक् प्रतिध्वनि का बोध होता है।

## तृतीया संशोषणावस्था—

जब रस शोषण होने लगता है तब रस स्थान में से कण्ठ स्वर सुनने में आता है।

स्पर्श परीक्षा से स्वरोत्कम्पन का अनुभव होता है, एवं श्वासोच्छ्वासनीय नाद पुनः द्रुत गति हो जाता है। यह श्वासोच्छ्वासनीय ध्वनि कुछ काल तक मन्द और अनिश्चित सी रहती है। यह आवाज वायु कोप और प्रणालिकाओं की मिश्रित सी होती है। क्रमशः जितना रस शोषित हो जाय उतनी ही

## सामान्य लक्षण—

कृच्छ्रोच्छ्वास: कफ स्रावो नीलावोष्ठौ तथा मुखम्।
शोथ: पादेऽथरा सूक्ष्मा विषमावेग वाहिनी॥
मूत्रावरोधं भवेच्चापि स ना नशयनक्षम: ।
स्वास्थ्यं किंचित् समासीनो लभते—स्मिन्महागदे ॥

श्वासोच्छ्वास क्रिया में कफ होना, कफ स्राव, ओष्ठ और मुख नीले हो जाना, पैरों पर शोथ, निर्बल और विषम वेग वाली नाड़ी, मूत्रावरोध, लेटने में अधिक पीड़ा, बैठे रहने पर पीड़ा कुछ कम हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

## प्राथमिक अवस्था के लक्षण—

इस अवस्था में प्रारम्भ के दो एक दिन वक्ष-प्रदेश में वेदना ( पार्श्व शूल ) का अनुभव होता है। उस समय अकस्मात् शीत लगजाने पर कास और उरस्तोय आदि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है फिर शीत लगना, कम्प होना, तीव्र पार्श्व पीड़ा (रोगाक्रांत स्थान पर चुभोने सी पीड़ा होना), श्वास ग्रहण के साथ वेदना वृद्धि, स्तन ग्रन्थि के नीचे वेदना होना, ज्वर १०२ डिग्री तक बढ़ जाना। ज्वर जन्य शिरःशूल, बेचैनी, मलावरोध, तेज नाड़ी आदि तथा शुष्क कास इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

कफ बहुत कम निकलता है, श्वासोच्छ्वास क्रिया जल्दी २ होने लगती है। वायु का आकर्षण कम होता है। रोगी कष्ट से श्वास ग्रहण करता है और श्वास लेने को बन्द करता रहता है। जिस पार्श्व में पीड़ा होती है उस पार्श्व में शोथ कम हो तो उस पार्श्व को दबाकर लेटने से पीड़ा कम होती है, किन्तु शोथ अधिक हो तो उस पार्श्व के बलसे रोगी नहीं लेट सकता। लेटने पर शोथ के हेतु से वेदना असह्य होती है।

महा प्रचीरा पेशी से सम्बन्ध वाले फुफ्फुसावरण में विकृति हुई हो तो उरः फलक के नीचे सिरे पर वेदना, श्वासोच्छ्वास में कष्ट होना और हिक्का उपस्थित होने से रोगी को अति दुःख पहुंचना, वमन होना और कण्ठ नली के मूल में प्रबल वेदना होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस अवस्था में फुफ्फुसावरण के भीतर विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। रक्ताधिक्य होता है और श्लैष्मिक कला कोषों की वृद्धि होकर उनमें से रक्त भरने लगता है।

इस फुफ्फुसावरण के उभय प्रदेश में जो पर्दा होता है वह प्रथमावस्था में सहज दूर हो सकता है परन्तु जब सौत्रिक तन्तु बन जाता है। और फुफ्फुस को वक्ष की दीवार के साथ संलग्न कर देता है। तब फुफ्फुसावरण की कोमलता और उज्वलता सत्वर नष्ट होकर वह रूक्ष और मलिन बन जाता है।

यदि तरल में से सौत्रिक तन्तु बनकर दोनों कलाओं की संलग्नता हो जाती है तो वह आजीवन वैसी ही रह जाती है। रोग चले जाने पर इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

ध्वनि यन्त्र और ठेपन से परीक्षा करने पर आवाज मन्द आती है। इस सौत्रिक तन्तुमय शुष्क प्रकार में बहुत मोटी हो जाती है। ऐसा होने पर उस प्रकार को आच्छादनमय 'उरस्तोय' कहते हैं।

## द्वितीया रसोत्सृजनावस्था—

कुछ दिनों में प्रथमावस्था दूर होकर द्वितीयावस्था की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में विशे-

पतः सब लक्षणों का ह्रास हो जाता है। वेदना मन्द हो जाती है, ज्वर शमन हो जाता है, तथा खांसने में जो प्रबल त्रास होता था वह नहीं होता है। इस अवस्था में रक्त संग्रह और फुफ्फुस पर दबाव या संकोच के अनुसार श्वासोच्छ्वास क्रिया मे द्रुतत्व होने लगता है। जिस स्थान पर रस संचय होने लगता है वह ऊंचा उठ जाता है।

फुफ्फुसावरण की थैली में तरल भर जाने पर दोनों कलाओं के परस्पर घर्षण जनित पीड़ा शमन हो जाती है, क्योंकि द्रव भर जाने पर कलायें दूर २ हो जाती हैं। मूत्रोत्पत्ति बहुत कम हो जाती है। जिससे मूत्र गाढ़ा बन जाता है फिर तरल पदार्थ की वृद्धि होने पर मूत्रोत्पत्ति बढ़ जाती है। इससे रोगी रोगाक्रांत पार्श्व की ओर सो सकता है, किन्तु रस का परिमाण बढ़ने पर श्वासोच्छ्वास में कष्ट होता है, जिससे सुख पूर्वक सो नहीं सकता है।

फुफ्फसावरण की थैली में जो रस संगृहीत होता है उसका रङ्ग यदि हरा, पीला होता है तो उसमें सौत्रिक तन्तु का अंश विद्यमान रहता है। तीव्र आशुकारी उरस्तोय में प्रदाह के हेतु से इस की उत्पत्ति हो जाती है।

रस संचय अधिक होने पर फुफ्फुस विधान, श्वास प्रणालिका आदि सब पीड़ित होते हैं, फुफ्फुसों में से वायु निकल जाती है। फुफ्फुस कशेरू की ओर हट आता है। यकृत और प्लीहा स्थान भ्रष्ट हो जाते हैं। ठेपन करने पर प्रतिघात ध्वनि घन निकलती है, यह ध्वनि आगे की अपेक्षा पीछे की ओर अधिक ऊंचाई तक प्रकाशित होती हैं रोगी के बैठने या खड़े होने पर रस गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार वक्ष के निम्न प्रदेश में स्थिर रहता है। तथा रोगी के लेटने पर रस संचय का स्थान बदल जाता है। अतएव आवाज का स्थान परिवर्तित हो जाता है।

फुफ्फुस का जो भाग दब गया हो, उस स्थान की परीक्षा रोगी के श्वासोच्छ्वास, वाक्योच्चारण और कास के समय ध्वनि वाहक यन्त्र से की जाय तो कुछ भी आवाज सुनने में नहीं आती।

रस के स्वल्प सञ्चय होने पर श्रवण ध्वनि मन्द हो जाती है। श्वासोच्छ्वास ध्वनि अस्पष्ट, वाक्योच्चारण की प्रति ध्वनि कुछ स्पष्ट और क्वचित् मेघध्वनि सदृश सहयोगी आवाज सुनाई देती है।

जहां तक घन ध्वनि सुनी जाती है, उस स्थान का अतिक्रम कर ऊर्ध्व स्थान पर ध्वनि यन्त्र द्वारा सुनने से कभी २ घर्षण ध्वनि सुनने में आती है तथा पश्चात् प्रदेश में कशेरू के समीप में जहां दबा हुआ फुफ्फुस स्थित है, वहां सुनने पर वंशी ध्वनि के सदृश आवाज और अपेक्षाकृत अस्पष्ट दूर स्थित वाक् प्रतिध्वनि का बोध होता है।

## तृतीया संशोषणावस्था—

जब रस शोषण होने लगता है तब रस स्थान में से कण्ठ स्वर सुनने में आता है।

स्पर्श परीक्षा से स्वरोत्कम्पन का अनुभव होता है, एवं श्वासोच्छ्वासनीय नाद पुनः द्रुत गति हो जाता है। यह श्वासोच्छ्वासनीय ध्वनि कुछ काल तक मन्द और अनिश्चित सी रहती है। यह आवाज वायु कोप और प्रणालिकाओं की मिश्रित सी होती है। क्रमशः जितना रस शोषित हो जाय उतनी ही

ध्वनि स्पष्ट हो जाती है पुनः रस बिल्कुल शुष्क हो जाने पर फुफ्फुसावरण की दोनों शुष्क कलाओं की रगड़ से पुनः घर्षण ध्वनि उत्पन्न होती है। अंगुली से ठेपन करने पर घन ध्वनि के स्थान पर रिक्त ध्वनि की उत्पत्ति होती है। फिर अन्त में अप्राकृतिक झिल्ली उत्पन्न होकर फुफ्फुसावरण की उभय कलाओं को संयोजित कर देती है। पर्शुकाओं के मध्य स्थान का आकार स्वाभाविक हो जाता है या स्थाई रूप से संकुचित हो जाता है।

इस परिस्थिति में रोगी आक्रान्त पार्श्व की ओर सो सकता है। रस शोषित हो जाने पर ज्वर कास और वेदना का उपशम हो जाता है। जैसे २ निःसृत रस शोषित होता जाता है, वैसे २ क्रमशः श्वासोच्छ्वास क्रिया स्वाभाविक होती जाती है। और वक्षः परीक्षा करने पर स्वस्थावस्था के सब भौतिक चिन्ह धीरे २ प्रकाशित होते जाते हैं।

## रोग विनिर्णय–

केवल फुफ्फुस वेदना परसे इस रोग का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि पर्शुका के मध्य में वात वेदना होने पर ऐसी ही वेदना होती है। परन्तु उस वातज व्याधि में अविराम वेदना बनी रहती है। दीर्घ श्वास लेने पर वेदना की वृद्धि नहीं होती, किन्तु इसके विपरीत उरस्तोय रोग में फुफ्फुसावरण की दोनों कलाओं का घर्षण होकर घर्षण ध्वनि अवश्य होती है। एवं शुष्क काम, खांसी होने पर तीव्र वेदना होती है। यही इस रोग का निर्णायक चिन्ह है।

## उरस्तोय के विशेष लक्षण–

१–तीव्र वेदना, घर्षण ध्वनि, शुष्क कास और फुफ्फुस की दीवारों की विलक्षण गति।

२–द्वितीयावस्था में पर्शुका समीप स्थान के बाहर निकल आती है, आक्रान्त स्थान की शिथिलता वृद्धि और विविध यन्त्रों की स्थानच्युति।

३–विशेषतः आक्रान्त स्थान पर ठेपन करने पर घन ध्वनि, ध्वनि वाहक यन्त्र से सुनने पर श्वासोच्छ्वास ध्वनि क्षीण या लोप।

४–द्वितीयावस्था में रोगी आक्रान्त पार्श्व से शयन कर सकता है।

५–फेन रहित कफ, कभी आगन्तुक ध्वनि सुनने में आती है।

६–मन्द ज्वर

७–अनियमित शारीरिक ताप, ताप की कोई विशेष अवस्था नहीं होती। कभी २ उत्ताप बढ़ता है।

८–रोग शमन शनैः २ क्रमशः होता है।

इसकी चिकित्सा आगे अङ्क में प्रकाशित करेंगे।

–वैद्य भास्कर बाँकेलाल गुप्त,
प्रधान सम्पादक—"धन्वन्तरि"

क्षयरोगांक के प्रधान सम्पादक
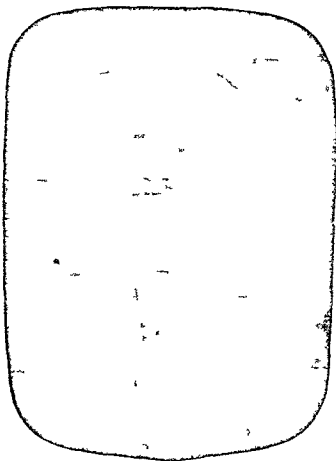
**श्री० वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य,**

मैनेजिंग डाइरेक्टर आर्य औषधि भण्डार लिमिटेड देहली, प्रोफेसर आयुर्वेदिक कालेज हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस (अवकाश पर)

# क्षय-राजयक्ष्मा

लेखक-श्री० कविराज, वैद्यरत्न प्रतापसिंह जी, रसायनाचार्य, मैनेजिंग डाइरैक्टर-आर्य औषधि भण्डार लिमिटेड, न्यू देहली, प्रिंसीपल-आयुर्वेद कालेज, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, बनारस ( अवकाश पर )
प्रधान सम्पादक-धन्वन्तरि चिकित्सानुभवाङ्क और क्षय-रोगाङ्क ।

क्षय रोग और उसकी विविध दशा व चिकित्सा पर अनेक लेख पढ़ने को इस अङ्क में पाठकों को मिलेंगे पर किसी सज्जन ने यह ज्ञात करने यत्न नहीं किया कि हमारे अपने कर्तव्य को राजा तथा राज सहायक शक्तियों ने किस प्रकार अपना कर इस रोग की चिकित्सा व्यवस्था का यत्न किया है। अतः मैं आपकी सेवा मे इस पर प्रकाश डालने का यत्न करूंगा।

हमारे इस विशाल देश मे इस भयङ्कर व्यापक घातक रोग के अवरोध के लिये जो भी यत्न हुआ है वह अन्य समृद्ध देशों के तारतम्य में अत्यल्प है। तथापि इस दशा में श्री गणेश हो गया है और प्रगति कर रहा है। प्रान्तानुसार सूची पाठकों के द्रगनार्थ नीचे दी जाती है।

(१) अजमेर (मेरवाडा) प्रान्त

क्षेत्रफल—२४००. वर्गमील जनसंख्या ५८४०००

राजधानी अजमेर

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनोटोरियम | १ | रोगी शय्या | ५२ |
| जनरल हास्पिटल में | | ,, | २० |
| | | | ७२ |

(२) आसाम प्रान्त

राजधानी शिलांग

क्षेत्रफल—५५०१४ वर्गमील जनसंख्या १०२०५०००

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनोटोरियम | १ | रोगी शय्या | २८ |
| जनरल हास्पिटल्स मे | | रोगी शय्या | ९८ |
| | | | १२६ |
| आउड डोर डिस्पेंसरियां | ३ | | |

(३) बलुचिस्तान

राजधानी क्वेटा

क्षेत्रफल १३४६३८ वर्गमील जनसंख्या ५०२०००

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनोटोरियम | १ | रोगी संख्या | २० |
| जनरल हास्पिटल्स में | | ,, | १२ |
| | | | ३२ |
| आउड डोर डिस्पेन्सरी | १ | | |

(४) बंगलोर सिविल एन्ड मिलिटरी स्टेशन

आउड डोर डिस्पेन्सरी १

(५) बङ्गाल

राजधानी कलकत्ता

क्षेत्रफल ८२९५५ वर्गमील जनसंख्या ६०३०७०००

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनोटोरियम | ७ | रोगी शय्या | ५१ |
| हास्पिटल्स | ३ | ,, | २९८ |
| जनरल हास्पिटल्स में क्षय रोगियों की | | ,, | २४७ |
| | | | ५९६ |

(६) बिहार

क्षेत्रफल ६९३४८ वर्गमील जनसंख्या ३६३४००००

राजधानी पटना

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनोटोरियम | १ में | रोगी शय्या | १२८ |
| जनरल हास्पिटल्स में | | ,, | १०४ |
| | | | २३२ |

आउट डोर डिस्पेन्सरीज १७

### ( ७ ) बम्बई

राजधानी बम्बई

क्षेत्रफल ७७२२१ वर्गमील जनसंख्या २०८५००००

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | ८ में | रोगी शय्या | ५९३ |
| हास्पिटल्स | ,, | ,, | २३५ |
| जनरल हास्पिटल्स | में | ,, | २०७ |
| | | | १०३५ |

### ( ८ ) मध्य प्रान्त और बरार

राजधानी नागपुर

क्षेत्रफल १३१५५७ वर्गमील जनसंख्या १६८२३१००

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | १ में | रोगी शय्या | १५० |
| जनरल हास्पिटल्स में | | ,, | ५२ |
| | | | २०२ |

आउट डोर डिस्पेन्सरियाँ ४

### ( ९ ) देहली

क्षेत्रफल ५७४ वर्गमील जनसंख्या ९१८००

राजधानी न्यू देहली

| | | | |
|---|---|---|---|
| क्षय रोग का हास्पिटल | १ | रोगी शय्या | ९४ |

आउट डोर डिस्पेन्सरी २

### ( १० ) मद्रास

क्षेत्रफल १२४३६३ वर्गमील जनसंख्या ४९३४२०००

राजधानी मद्रास

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | ५ | रोगी शय्या | ५६६ |
| हास्पिटल | १ | ,, | ६२ |
| जनरल हास्पिटल में क्षय रोगियों की | | ,, | ४१० |
| | | | १०३८ |

### ( ११ ) उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रांत

क्षेत्रफल ३६२७६ वर्गमील जनसंख्या ३०३८०००

राजधानी पिशावर

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | १ | रोगी शय्या | १२२ |
| जनरल हास्पिटल्स में | | ,, | ९८ |
| | | | २२० |

आउट डोर डिस्पेन्सरियां ८

### ( १२ ) आसाम

क्षेत्रफल ३२६८१ वर्गमील जनसंख्या ८७२९०००

राजधानी कटक

| | | |
|---|---|---|
| जनरल हास्पिटल में | रोगी शय्या | ११ |

आउट डोर डिस्पेन्सरी १

### ( पंजाब )

क्षेत्रफल १३६३३० वर्गमील जनसंख्या २८४१९०००

राजधानी लाहौर

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | ६ | रोगी शय्या | ५९१ |
| हास्पिटल्स | ३ | ,, | १४८ |
| जनरल हास्पिटल्स में | | ,, | २३१ |
| | | | ९६९ |

आउट डोर डिस्पेन्सरी ७

### दक्षिण

सिकन्दराबाद

आउट डोर डिस्पेन्सरी १

के० ई० एम० हास्पिटल के साथ

### ( १४ ) सिन्ध

क्षेत्रफल ४८१३६ वर्गमील जनसंख्या ४५३५०००

राजधानी करांची

| | | | |
|---|---|---|---|
| सेनेटोरियम | २ | रोगी शय्या | १२३ |
| जनरल हास्पिटल्स | | ,, | ३४ |
| | | | १५७ |

आउट डोर डिस्पेन्सरी ४

(१५) संयुक्तप्रान्त

राजधानी लखनऊ

क्षेत्रफल ११२२५३ वर्गमील जनसंख्या ५५०२१०००

सेनेटोरियम ५ रोगी शय्या २८८

हास्पिटल १ २४

जनरल हास्पिटल में २१२

५२४

## भारतीय राज्य

(१) अलवर

क्षेत्रफल ३१५८ वर्गमील जनसंख्या ८२३०४४

अलेक्जेन्डर हास्पिटल में रोगी शय्या १५

(२) बहावलपुर

क्षेत्रफल १६४३४ वर्गमील जनसंख्या १३४१२०९

बी० वी० हास्पिटल में रोगी शय्या २

(३) बड़ौदा

क्षेत्रफल ८७६४ वर्गमील जनसंख्या २८५५०००

सेनेटेरियम १ रोगी शय्या ७८

जनरल हास्पिटलम में १२

९०

आउट डोर डिस्पेन्सरी १

(४) भरतपुर

क्षेत्रफल १९५८ वर्गमील जनसंख्या ५७५६२५

राव राजा गिरेन्द्रसिंह ट्युवर कुलोसिस हास्पिटल रोगी शय्या २०

(५) भावनगर

क्षेत्रफल २९६१ वर्गमील जनसंख्या ६१६४२९

सर तखतसिंह जी हास्पिटल के ट्युबरक्युलोसिस वार्ड में रोगी शय्या १९

(६) भोपाल

क्षेत्रफल ६९२४ वर्गमील जनसंख्या ७८४५६०

स्टेट जनरल हास्पिटल में रोगी शय्या ६

(७) बीकानेर

क्षेत्रफल २३८१७ वर्गमील जनसंख्या १२९२९३८

गंगा गोल्डन जुबली ट्युबरक्युलोसिस हास्पिटल एण्ड डिस्पेन्सरी रोगी शय्या ६०

(८) कोचीन

क्षेत्रफल १३३८ वर्गमील जनसंख्या ६०९८९८

राजधानी इर्नाकुलम

ट्युबरक्युलोसिस डिस्पेन्सरी टिचूर (कोचीन स्टेट)

(९) कूचविहार

क्षे० फ० १३३७ वर्गमील जन संख्या ६३९८९८

ट्युबरक्युलोसिस् डिस्पेन्सरी सदर हास्पिटल कूचविहार

(१०) कच्छ

क्षे० फ० १३१८ वर्गमील जन संख्या ४००८००

राजधानी भुज

सेठ वल्लभदास करसनदास नाथा ट्युबरक्युलोसिस सनेटोरियम् रोगीशय्या ३१

भुज भारापुर रोड भुज (कच्छ स्टेट)

(११) धौलपुर

क्षे० फ० १९७३ वर्गमील जन संख्या २८६९०१

जनरल हास्पीटल में रोगी शय्या ३

(१२) हैदराबाद

क्षे० फ० ८२६९८ वर्गमील जन संख्या १६१८४०००

डिस्पेन्सरी ३

हास्पिटल १ रोगी शय्या ६०

जनरल हास्पिटल में रोगी शय्या ४८

१०८

(१३) इन्दौर

क्षे० फ० ९९०३ वर्गमील　　जनसंख्या १५८८२९

सेनेटोरियम् १　　रोगी शय्या २२

जनरल हास्पिटल में　　"　४

७६

(१४) जयपुर

क्षे० फ० १५५५ वर्गमील　　जन संख्या ३०४०८७६

सेनेटोरियम् १　　रोगी शय्या १०

जनरल हास्पिटल मे　　"　१८

२८

(१५) जम्बू गोडा

क्षे० फ० १४३ वर्गमील　　जन संख्या १२०००

स्टेट हास्पिटल मे　　रोगी शय्या २

(१६) जम्बू और काश्मीर

क्षे० फ० ८५९९५　　जन संख्या ४०२१६१६

राजधानी श्रीनगर

सेनेटोरियम् १　　रोगी शय्या ८०

हास्पीटल २　　"　३६

११६

(१७) जींद

क्षे० फ० १२९९ वर्गमील　　जन संख्या ३६१२१२

राजधानी संगरूर

जनरल हास्पीटल में　　रोगी शय्या ५

(१८) जोधपुर

क्षे० फ० ३६०२१ वर्गमील　　जन संख्या २५५६०४

विन्डम हास्पिटल में　　रोगी शय्या १२

उम्मेद हास्पिटल में　　"　३०

४२

(१९) कपूरथला

क्षे० फ० ५९९ वर्गमील　　जन संख्या ३५८३८०

लेडीलिनलिथगो ट्युबरक्युलोसिस् डिस्पेन्सरी

(२०) लूना वाड़ा

क्षे० फ० ३८८ वर्गमील　　जन संख्या १०५३२०

ट्युबरक्युलोसिस डिस्पेन्सरी

जनरल हास्पिटल लूनावाड़ा

(२१) मण्डी

क्षे० फ० ११३९ वर्गमील　　जन संख्या २३२५९३

किङ्ग एडवर्ड हास्पीटल में　　रोगी शय्या ६

(२२) मोर्वी

क्षे० फ० २९४७५ वर्गमील　　जनसंख्या ११४०००

जनरल हास्पिटल में　　रोगी शय्या ४

(२३) मैसूर

क्षे० फ० २९४७५ वर्गमील　　जन संख्या ७३२८८९६

सेनेटोरियम　　रोगी शय्या १५०

जनरल हास्पिटल में　　"　४६

ट्युबरक्युलोसिस हास्पिटल में　　"　३२

अन्य संस्थायें—　　२२८

एपिडेमिक डिसीज हास्पिटल　　रोगी शय्या २४

आइसोलेशन हास्पिटल बङ्गलोर सिटी　　"　३६

एपिडेमिकडिसीजहास्पिटल कोलार गोल्डफिल्ड १६

(२४) नाभा नगर

क्षे० फ० ३७९१ वर्गमील　　जन संख्या

राजधानी जामनगर

स्टेट हास्पिटल में　　रोगी शय्या १६

(२५) पटियाला

क्षे० फ० ५९४२ वर्ग मील　　जन संख्या ४०३०००

हार्डिज ट्युबरक्युलोसिस हास्पिटल धरमपुर

रोगी शय्या २०

पुदुकोटाई

क्षेत्रफल ११७९ वर्गमील　　जन संख्या ४०१०००

ट्युवर क्युलोसिस डिस्पेन्सरी
नोर्थ फोर्थ स्ट्रीट, पुडुक्कोटाई

(२७) रामपुर

क्षेत्रफल ९१२५४ वर्गमील जनसंख्या ४७६९१७
सदर हास्पिटल रोगी शय्या ६

(२८) सन्त

क्षेत्रफल ३९४ वर्गमील जनसंख्या ८४-००
राजधानी सन्त रामपुर
स्टेट में एक ट्यूबर क्युलोसिस
आफिसर है कोई संस्था नहीं है।

(२९) ट्रावन्कोर

क्षेत्रफल ७६२४ वर्गमील जनसंख्या ६०७००१८
राजधानी त्रिवन्द्रम्
ट्युबरक्युलोसिस हास्पिटल रोगी शय्या ८०
जनरल हास्पिटल में " २०

१०२

(३०) उदयपुर (मेवाड़)

क्षेत्रफल १२६२३ वर्गमील जनसंख्या १५६७०००
महाराना ट्युवर क्युवलोसिस
हास्पिटल बड़ी ( मेवाड़ स्टेट ) रोगी शय्या २४

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदिक पद्धति से भी कुछ सेनेटोरियम में कार्य कर रहे हैं उनमें उल्लेख योग्य कुछ नीचे लिखे जाते हैं।

शिमला हिल्स में—
गड़खड़ (कसौली के पास में)

१—तुलाराम गोयनका मारवाड़ी सेनेटोरियम
२—मंगलाप्रसाद ट्युबरक्युलोसिस सेनेटोरियम सारनाथ बनारस
३—वैद्यनाथ घाट सेनेटोरियम मन्डी स्टेट
४—आयुर्वेदिक सेनेटोरियम बाराबंकी यू० पी०
५—क्षयरोग स्वास्थ्य शाला हकीम नगर डा० लक्ष्मीपति गारू मद्रास प्रेसीडेन्सी
६—वैद्य शिवराम जी द्विवेदी एम एल ए. का सेनेटोरियम लखनऊ।
७—आयुर्वेदिक सेनेटोरियम सीतापुर यू० पी०
८—ओझा आयुर्वेदिक सेनेटोरियम करांची

कुछ अज्ञात संस्थायें भी हैं जो इधर उधर देश के किसी कोने में कार्य करती हैं और जिसका व्यौरा महा मण्डल को प्रति वर्ष प्रकाशित करना चाहिये ताकि वैद्य समाज अपनी प्रगति को संभाल सके। पर यहां तो अपने राम को सदस्यों के लाभ हानि की क्या पर्वाह है वोट समय पर अपनी शक्ति स्थिर रखने को मिलना चाहिये।

अस्तु आप उपरोक्त तालिकाओं के निरीक्षण से ज्ञात कर चुके होंगे कि इस ४० करोड़ की आबादी के देश में इस भयङ्कर रोग को नियन्त्रण करने के लिये कितना अल्प कार्य हुआ है। केवल १२१ डिस्पेन्सरियां हैं ७२ हास्पिटल और सेनेटोरियम्। इस विषय में अधिक ज्ञातव्य करने की जिज्ञासा वाले को ट्युबरक्युलोसिस आसोसियेशन आफ इन्डिया न्यू देहली से पत्र व्यवहार करना चाहिये। सेक्रेटरी महोदय बहुत ही सज्जन पुरुष हैं वे आपको इस विषय में सब बातें व्यौरे बार बता सकेंगे। हमें इस संस्था की प्रगति को विशेष महत्व की दृष्टि से देखते रहना चाहिये। अन्यथा अपनी गति विधि का ज्ञान तुलनात्मक न रहने से महती हानि की सम्भावना है।

हमारा व्यवसाय सेवा प्रधान है यदि सर्व-व्यापक रोग को दूर करने के लिये उचित यत्न नहीं

हुआ तो आपके प्रधान विषय आजीविका की स्थिति डामाडोल हो जावगी।

लेफ्टानेंट जनरल डा० ज बी हूस महोदय ने २० मार्च के दिन तृतीय ट्युबरक्युलोसिस वर्कर्स कान्फरन्स में जो अपना भाषण दिया है उसका सिंहावलोकन करने से आपको विदित होगा कि कि पाश्चात्य चिकित्सक किस प्रकार इस महामारी को समूल नष्ट करने के लिये यत्नशाल हैं। पर उनकी चिन्ता यह है कि भारतवर्ष में रजिस्ट्रेशन किये हुए डाक्टर लगभग ४२हजार हैं। इनका अनुपात १ डाक्टर का ८२०० मनुष्यों के साथ है किन्तु युनाइटेड किङ्गडम म डाक्टरों का अनुपात १ १००० से भी कम पड़ता है। इसलिये भारतवर्ष म भी कम से कम १-१५०० रखने के लिये २७ ००० डाक्टर आवश्यक होगे। नर्सों की दशा इससे भी गई बीता है। कवल ७००० शिक्षित नर्सें है जिनका अनुपात १का ४६ ०० जनमरण के साथ रहता है। युनाइटेड किङ्गडम में १-३ ० जनो का अनुपात है। ऐसी दशा में भारत म भी १ का ५०० का अनुपात रखा जाव तो ८०००० नर्सों का आवश्यकता होगी। हल्थ विजिटस की दशा तो इससे भी गई बीती है। अनुमानत केवल ८० हल्थ विजिटस हैं जिसका अनुपात १ का ५००००० के हिसाब स रहता है। एक हल्थ विजिटर (स्वास्थ्य निरीक्षक) १६५७ वर्गमील भूमि में रहने वाला का स्वास्थ्य निरीक्षण कैसे कर सकता है। इनकी सख्या कम से कम १-५००० मनुष्यों की देख रेख के लिय भी रखा जावे तो ८ ०० स्वास्थ्य निरीक्षकों की आवश्यकता है। नर्सें और हल्थ विजिटर्स मिलाकर ८८० ० होने से किसी प्रकार कार्य निर्वाह हो सकता है। शिक्षित (मिडवाइफ) धात्रियों की सख्या लगभग ५००० है। १ का ८०००० स्त्रियों का अनुपात रहता है अर्थात ३१६ वर्गमील में १ मिडवाइफ का औसत आता है। यदि एक धात्री के जुम्मे १०० शिशु उत्पादन का कार्य रखा जावे तो १००००० धात्रियों की आवश्यकता होगी। शिक्षित नर्सें मिडवाइफें और हेल्थ विजिटर्स को मिलाकर जोड़ा जाये तो ६८००० *व्यक्तियों की आवश्यकता है। इन दसलाख* सेवक सेविकाओं की शिक्षा का प्रब ध होने से भारत के वासियों का स्वास्थ्य सरक्षण होसकता है।

अब जो औषधि निर्माण कर्ताओं का दशा य सवथा शोचनीय है। सारे भारत म कवल ७९ व्यक्ति हा शिक्षित फार्मासिष्ट हैं। उनका अनुपात १ का ४३००००० का है। इस दशा में ६ ००० फार्मासिष्ट तैयार करने की आवश्यकता है।

अस्पताला की तरफ ध्यान देने से ज्ञात होता है कि १००० व्यक्तियों के लिये ७ अस्पतालों में रोगीशय्या का प्रब ध रहना चाहिये। अपने विशाल दश के लिये २८०० ०० रोगा शय्या की व्यवस्था आवश्यक है। कि तु इस समय लगभग ७४००० सर्व प्रक र के रोगिया के लिये अस्पतालों में शय्या का प्रबन्ध है जिसका अनुपात ०४ एक हजार जन सख्या म आता है।

भारतवष म दो प्रबल राग लाखों प्राणियों का प्रतिवष हनन कर रह है। सब से प्रथम विषम ज्वर (मलरिया) का सहार है। इस रोग क शिकार लगभग पाच करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष होते हैं। अथवा किसी न किसी समय देश का अष्मांश जन मलरिया ज्वर से पीड़ित होता है।

द्वितीय शत्रु हमारा क्षय (ट्युबरक्युलोसिस) है। इसके जानकारों की सम्मति है कि इस देश में प्रति वर्ष पांच लाख रोगी इस महामारी से काल कवलित होते हैं। नगर और ग्रामों में समान रूप से इसका प्रकोप प्रसरित होता जाता है। सर्वे करने वालों का मत है कि २५ लाख रोगी क्षय से पीड़ित हैं। इससे आपको पता लगेगा कि यह रोग मन्द २ सर्व व्यापी बडवानल की तरह भारतीय जनता की जीवन शक्ति का स्वाहा कर रहा है। विशूचिका या प्लग की तरह इसके लिये रोकने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि यह रोग बढ़ता ही जा रहा है। इसकी अभिवृद्धि को देखकर इसे प्रधान संक्रामक रोग की श्रेणी में रखकर इसके अवरोध व निर्मूल करने के लिये नीचे लिखे उपाय काम मे लाये जा सकते हैं।

(१) जातीय रक्षण के सब उपाय।
(२) प्रारम्भिक रोग निर्णय की सुव्यवस्था।
(३) निर्णीत रोगियों का पृथक्करण और चिकित्सा व्यवस्था।
(४) चिकित्सित स्वस्थ रोगियों के लिये कार्य व्यवस्था तथा निवास।
(५) स्वास्थ्य रक्षण शिक्षा और प्रचार व्यवस्था।
(६) कानूनी प्रतिबन्ध।

इस प्रकार व्यवस्था करने से रोगियों का उपकार होसकता है। जातीय स्वास्थ्य रक्षण के नियमों से रोगियों को शिक्षित करना रोग उत्पन्न होते ही परीक्षा का निर्णय कर चिकित्सा की सुव्यवस्था करना, जिन रोगियों का पूर्ण क्षय निर्णय हो उन्हें आवश्यकतानुसार सेनेटोरियम या अस्पताल में दाखिल कर चिकित्सा प्रवन्ध करना, ऐसे स्वस्थ पुरुषों को ऐसे कार्य में लगाना जिससे वे पुनः रुग्ण न हो, इसके लिये कालोनिया (ग्राम बसाना) बनाना, पूर्ण सबल होने पर भी कानूनी नियमों के अनुसार उनके रहन सहन की देख-रेख करते रहना इस रोग को नष्ट करने में सहायक हो सकता है। इस कार्य को सफल करने के लिये अन्दाजा लगाया गया है कि नगर निवासियों के लिये ५०००० आबादी के पीछे एक ट्यूबरक्युलोसिस क्लिनिक हो और ग्राम निवासियों के लिये १००००० जन-संख्या के लिये क्लिनिक बनाया जावे। इनमें कुछ ऐसे क्लिनिक भी रहेंगे जो घूम फिर कर स्थान २ पर जाकर रोगियों को परामर्श दे सकें।

भारतवर्ष में १५ प्रतिशत नगर निवासी हैं ८५ प्रतिशत ग्राम निवासी जनता हैं। इनके लिये १२०० नगरों में और ३४०० ग्रामों में क्लिनिक बनाने होंगे यदि प्रति क्लिनिक २ डाक्टर नियुक्त किये जावें तो ९२०० डाक्टर इसी कार्य मे खप जावेंगे। १०० रोगियों के लिये १ डाक्टर और १० रोगियों के लिये १ नर्स नियुक्त की जावे तो १४३०० डाक्टर और ५०००० नर्सों की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार प्रत्येक क्लिनिक के लिये दो हेल्थ विजिटर रखे जावें तो ९२०० हेल्थ विजिटरों की नियुक्ति करनी पड़ेगी।

यदि उक्त कार्य के लिये आवश्यक धन एकत्रित कर भी लिया जावे तो शिक्षित कार्य कर्ताओं का प्राप्त होना सम्भव नहीं है इस लिये सब विश्वविद्यालयों में ट्यूबरक्युलोसिस के डिप्लोमा की शिक्षा व्यवस्था और मेडिकल कालेज खोलने की जरूरत है। सर्व प्रथम शिक्षा केन्द्रों की व्यवस्था तथा शिक्षकों

को तैयार करने का प्रबन्ध करना चाहिये।

इस वक्तव्य को पढ़कर आशा है कि पाठक भी इसी निर्णय पर पहुंचेंगे कि विदेशी व्यवस्था के कारण कितनी दुर्दशा देश के स्वास्थ्य की हो रही है। यहां के जलवायु के अनुकूल परम्परा से दीक्षित वैद्यों को जो सर्वत्र व्यापक है उचित शिक्षा देकर अल्प व्यय में व्यवस्था करने की आयोजना नहीं करते, रूस ने अल्प काल ही में अपने जनता के हितार्थ स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध ग्राम २ नगर २ और कस्बे २ में कर दिया है। यदि यहां का जनबल इस कार्य में शिक्षित कर दिया जाये तो अत्यल्प व्यय में यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न हो सकता है। राष्ट्र का भलाई राष्ट्रीय सरकार के बिना सम्भव नहीं है। तथापि यह स्मरण रहे कि गवर्नमेंट की शक्ति भिक्षा से प्राप्त होने की चीज नहीं है। इस की प्राप्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न करने पड़ेंगे, एवं जनता जनार्दन की सेवा करनेवाले वैद्यों को त्याग, पुरुषार्थ और सतताभिनिवेश से अहोरात्र सेवा पूर्वक कार्य करना पड़ेगा तब कहीं जाकर आपको स्वास्थ्य स्वायत्त का शासन प्राप्त होगा और देश का स्वास्थ्य सुधर कर स्वतन्त्र देशों के मुकाबले में आ सकेगा।

यक्ष्मा चिकित्सा के विषय में एक बात सदा स्मरणीय है कि संसार के चिकित्सा व्यवसायी मात्र स्वर्ण मुक्तादि द्रव्यों का किसी न किसी रूप में प्रयोग करने में प्राचीन आयुर्वेद पद्धति का अनुकरण कर रहे हैं, किन्तु हम भारतीय मांस परायण औषधियों का प्रयोग प्रायः नहीं करते हैं इससे हमे सफलता शत प्रतिशत नहीं होती है। प्राचीनों ने छागलाद्य घृत, अमृतप्राशादि अनेक मांस मय योग शास्त्रों में लिखे हैं पर वैद्य जी केवल श्लेष्माभिवृद्धिकारक पथ्यों पर ही रोगी को रखकर काम चलाते हैं। वानर मांस, शृगाल मांस के प्रयोग बड़े विचित्र प्रभाव पैदा करते हैं। रोगी शीघ्र बल संग्रह करने लगते हैं। बर्मी चिकित्सक कृष्ण मुख के लंगूर का रक्त ब्रांडी ( एक्स्ट्रा नं० १ ) में बराबर का मिलाकर चाय चम्मच की मात्रा से दिन में २—३ बार रोगी को देते हैं इससे शीघ्र उपकार होता है। मैं आजकल शशक रक्त का इसी प्रकार प्रयोग कर लाभ पहुंचा रहा हूं।

क्षय की प्रारम्भिक व द्वितीयावस्था में नीरो ( प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व निकाली हुई ताड़ी ) का पेट भर प्रातःकाल पिलाने से रोगी शीघ्र बलवान होकर रोग मुक्त हो जाता है।

जो रोगी मांस का या रक्त व नीरो का प्रयोग न कर सके उनके लिये एलादिरस (चरक) दें या—

> शृत पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधु सर्पिषी।
> यक्ष्म सार भिद योऽयम् रसायन मनुत्तमम्॥

का अग्निबल के अनुसार प्रयोग करें।

रोगी के मन से ग्लानि तथा निराशा का भाव दूर करने का सतत प्रयत्न करता रहकर वैद्य सावधानी पूर्वक नियमित स्नानादि की व्यवस्था कर आयुर्वेदीय प्रणाली से क्षय की चिकित्सा करें तो मेरा विश्वास है कि हमारी चिकित्सा अल्प व्यय साध्य, शीघ्र गुण प्रदर्शक और आशु लाभकारी सिद्ध हो सकती है। आशा है वैद्य बन्धु इसके लिये अपना दायित्व समझ कर शीघ्र यत्नशील बनेंगे।

# फेफड़ों की रचना
और
# उसकी कार्य प्रणाली तथा अन्यान्य अवयवों का संक्षिप्त परिचय।

लेखक—कविराज सुरेन्द्रकुमार जी शर्मा, १४३, इमली बाजार, इन्दौर।

मर्त्यस्य वक्षसोमध्ये विद्येते फुफ्फुसावुभौ।
वामदक्षिण भेदेन तयोर्वामो लघुः स्मृतः॥१॥

गोपुच्छ शंकुवच्चास्य फुफ्फुसस्या कृतिर्मता।
या चैव भागतस्तन्वी परिणाहेऽल्प विस्तृता॥२॥

तृतीय भागतः स्थूला परिणाहेऽधिका तथा।
अयमेव तनुभागो शिखरं फुफ्फुसस्य च॥३॥

ग्रीवापार्श्वेऽस्थिका स्थनश्च पृष्ठेऽस्तिविनिवेशितः।
स्थूलःपरिणाहभागोयं निम्नोयःफुफ्फुसस्यच॥४॥

सच मध्येष्वतः सम्यक्पेशीपूदर वक्ष सो।
विभाजयन्ति खल्वेताः कोष्टावुदरवक्षसोः॥५॥

गत्यागत्यै शिराणांच छिद्राण्यास स्थितानिच।
दक्षिणःफुफ्फुसश्चात्र द्विरेखावाम् हि मध्यतः॥६॥

याभ्यांभाग त्रयंचास्य कल्पयन्ति भिषग्वराः।
वामोऽयमेक रेखावान् फुफ्फुसो विद्यतेयतः॥७॥

अतोऽस्यसंयुतौ भागौ द्वावेवस्तोन संशयः।
फुफ्फुसस्य महान् रक्तो गर्भेवर्णोनिरीच्यते॥८॥

नवजातस्य वालस्य कुब्ज पुष्पसमो भवेत॥६॥

प्रौढपुंसो भवेद्रक्तः ईषन्नीलित धूम्रः।
स्त्रीणां तथैवविज्ञे योमानतो न्यून इष्यते॥१०॥

फुफ्फुसौभवतः स्निग्धौ कोमलौ चन्द्रकान्वितौ।
अङ्गुल्याः स्पंज संस्पर्शौसंदृष्टौ वैद्यसत्तमैः॥११॥

मरुतः पूरणादत्र शब्दो मन्दश्च श्रूयते।
कर्त्तना दृष्टु छिद्राणि दृष्टान्याकार भेदतः॥१२॥

पीडनादङ्गुली भिश्चछिन्नस्यास्य तुच्छिद्रतः।
फेनवत्तरलांगच्छेतयथा स्पञ्जाञ्जलादिकम्॥१३॥

शिरामुखानिजानीयाच्छिद्राण्येता निवुद्धमान्।
या वहन्ति तनौरक्तं वायुञ्च प्राण रत्तकम॥१४॥

## भाषानुवाद

फुफ्फुस की रचना समझने के लिये सर्व प्रथम वक्षःस्थल का ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिये हम फुफ्फुस वर्णन करने से पहिले वक्षःस्थल की रूपरेखा का वर्णन करते हैं।

## वक्षःस्थल—

शरीर का वह ऊपरी भाग जो गले के नीचे और पेट के ऊपर, पीछे की ओर कशेरुकास्थियों (Vertilara) से एवं आगे की ओर वक्षोऽस्थि (Sternum.) से जुड़ी हुई पसुलियों (Ribs) से बना हुआ है।

वक्षःस्थल या वक्षोगर्त वा उरो गुहा कहलाता है। चारों ओर हड्डियों से आवृत्त इस सुरक्षित स्थान के भीतरी भाग में शरीर के महत्व पूर्ण अवयव तथा जीवन के प्रधान मर्मस्थान फुफ्फुस (Lungs) और हृदय (Heart) सुरक्षित है। इनके साथ ही महा धमनी (Aorta) महा शिरा इत्यादि भी हैं।

फेफड़ों के बाहरी भाग में कण्ठमूल अक्षकास्थि और पहली पसुली है। नीचे उदराच्छादिनी (Diaphragma) पेशी का ऊपरी कुब्ज (Convex) भाग है। इसी पेशी द्वारा वक्षःस्थल उदर से पृथक किया जाता है। सामने पसु-

लियों की उपास्थियाँ तथा वक्षोऽस्थि हैं। पीछे की ओर अहार नलिका ( Oesophagus ) मेरु-दण्ड और पसुलियों के मूल देश हैं।

## स्वरूप

फेफड़ों का अग्रभाग अक्षिकास्थि के १½ इञ्च ऊपर से आरम्भ होता है। दाहिने फेफड़े का अग्र भाग बाये की अपेक्षा कुछ ऊंचा होता है। गले के भीतर स्वर यन्त्र ( Larynx ) से निकला हुआ श्वासपथ ( Trachea ) चौथी पसुली के पास वाम और दक्षिण दो भाग वायु नलिका ( Bronchi ) के स्वरूप में विभक्त होकर फेफड़ों में प्रवेश करता है। स्वरूप से फेफड़ा भी इसी जगह वाम और दक्षिण ( Left and Right ) इन दो भागों में विभक्त होता है। इस स्थान को फुस्फुसमूल कहते हैं। इसी स्थान पर वायु नलिका धमनी, शिरा और नाड़ी भी प्रत्येक फुस्फुम में प्रवेश करता है।

दाहिने फुस्फुस का अपेक्षा बाया वजन और चौडाई में कुछ मोटा होता है, किन्तु लम्बाई में कुछ बडा।

दाहिना फुस्फुस तीन भागों में विभक्त है। दोनों फेफड़ों के बीच में, कुछ बाईं ओर हृदय होता है, इसलिये बाया फेफड़ा दो भागों में ही विभक्त है। फेफड़ों के प्रत्येक भाग को फुस्फुस खण्ड ( Lobe ) कहते हैं।

दाहिने फेफड़े में जहां धमनी और वायु नली आदि प्रवेश करता हैं, वहां आगे की ओर वायु नली, मध्य में फुस्फुस धमनी, और पीछे की ओर फुस्फुस शिरा रहती है। बाये फेफड़े में सामने फुस्फुस धमनी ( Pulmonary artery ) बीच में वायु नली और फुस्फुस सिरा ( Pulmonary vein ) रहते हैं। फुस्फुस नाड़ी ( Pulmonary Nerve ) दोनों तरफ सिरा के साथ रहती है।

पुरुषों के दाहिने फेफड़े का वजन १० से ११ छटांक और बाये का ९ से १ छटांक होता है। स्त्रियों के दाहिने का ८½ और बाये का ७½ छटांक होता है। दोनों मिलकर लगभग १ सेर होते हैं। सबका वजन एकसा नहीं होता, शारीरिक परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक भी होता है। दोनों फुस्फुस, हृदय, महाधमनीमूल और महासिरामूल को अपने मध्य में रखकर सम्पूर्ण वक्षोगर्त को आवृत किये हुए हैं।

अहार नलिका उनके पीछे रहती है। फुस्फुस छोटे २ अगणित वायु कोशों द्वारा बने हुए हैं। इसलिये वे स्पंज की तरह सछिद्र और देखने में शुण्डाकार है। वे एक बारीक और अत्यन्त चिकनी झिल्ली से लिपटे हुए रहते हैं। इस झिल्ली को फुस्फुसावृत्तकला ( Pleura ) कहते हैं। उसमें एक प्रकार का तैल जैसा चिकना तत्व रहता है, जिससे श्वास प्रश्वास के समय जब फेफड़े सिकुड़ने और फैलते हैं तब उनका आपस में व अन्य अङ्गों से घर्षण नहीं होता और यदि हो तो भी कोई हानि नहीं होती। फेफड़े ऊपर से अधिक चिकने चमकीले और मृदु होते हैं।

फुस्फुस व प्रत्येक अंश और वायु कोष स्थिति स्थापक होते हैं। प्रत्येक वायु कोष के चारों ओर एक २ केशिका ( Capillary ) धमनी रहती है। केशिका और वायुकोष का आवरण इस प्रकार का होता है कि जिससे उनमें से एक का तत्व दूसरे में अत्यधिक सुगमता से जा सकता है। ऐसा

होने से श्वास वायु का प्राणतत्व ( Oxison ) वायु कोषों द्वारा केशिकाओं में प्रविष्ट होकर रक्त को स्वच्छ करता है, और उनमें का मारकाम्ल ( Carbonic acid ) वाष्प वायु कोषों में से होकर सरलता से बाहर निकल जाता है। यदि ऐसा न होता तो श्वास पवन का समस्त प्राणपोषक नष्ट होजाता है और फेफड़े में मारकाम्ल वाष्प एकत्र होकर समस्त रक्त दूषित होजाता है।

युवा मनुष्यों के फुफ्फुसों का वर्ण नील श्याम श्वेत और छोटे बच्चों के गुलाबी और गर्भस्थ शिशुओं का लाल होता है। निरन्तर वायु भरे रहने के कारण किसी भी प्राणी के फेफड़ों को हाथ में लेकर देखने से कर कर शब्द होता है, और वे जल से अधिक हल्के होते हैं, इसलिये पानी में नहीं डूबते। परन्तु निमोनियां, यक्ष्मा, कासादि व्याधियों के कारण बिगड़े हुए फेफड़े भारी हो जाने के कारण जल में नहीं तैर सकते।

## फुफ्फुसों के उपादान–

फुफ्फुस खण्डों में और भी बहुत से छोटे २ खण्ड होते हैं। वह स्नायु तन्तुओं द्वारा आपस में जुड़े रहते हैं। फुफ्फुस के प्रत्येक छोटे खण्ड की रचना भी फेफड़ों के समान ही होती है। वायु नालियों से निकली हुई सूक्ष्म वायु प्रणालिका (Bronchiole) नाड़ी, केशिका (Nerve and capillary) धमनी और रसायनी ( Artery and Lamphatie Glands) प्रत्येक खण्ड में रहती हैं। सबसे छोटी वायु प्रणालिकायें अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। वे सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा ही देखी जा सकती हैं। वे स्फीत होकर वायु कोषों के रूप में परिणित हो जाती हैं। वायुकोष सूक्ष्म हैं। और स्नायु सूत्रों से बन्धे हुये हैं। उनका आकार अर्ध-गोल है। उनमें संकोचन और प्रसारण की शक्ति के अतिरिक्त एक और ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा श्वास प्रश्वास के साथ धूल गुबार और कोई बाहरी वस्तु जो फेफड़ों में चली जाती है, बाहर निकाल दी जाती है। एक प्रकार के सूक्ष्म सूत्रों के द्वारा यह क्रिया होती है।

अभिप्राय यह है कि फेफड़े चैतन्य कोष्ठिकाओं ( सेलों ) से बने हुए अगणित वायुकोषों, स्थित स्थापक गुण विशिष्ट सूक्ष्म स्नायु सूत्रों वायुनलिका की छोटी २ शाखाओं, केशिकाओं, नाड़ियों आदि से बने हुये हजारों सूक्ष्म फुफ्फुस खण्डों से बने हुये हैं।

## विशिष्ट फुफ्फुस परीक्षा–

निष्कास्य मानौच मृताच्छरीरात
तौ फुफ्फुसौवै तरतो जलादौ।
नोचेद् भवेतां क्षय यक्ष्म रोगात,
न्यूमोनियायाश्चतथारुजातः ॥१५॥
यस्मान्न तौ पूरिक छिद्र यातौ,
दोषैश्चसंरुद्ध विलौ भवेताम्।
तस्मान्न तौ गौरवतः प्लुवेताम,
प्रक्षिप्यमाणौसलिलेगम्भीरे ॥१६॥

अनुवाद—मृतक शरीर से निकाले हुए फेफड़े जल आदि मे निःसन्देह तैरते हैं, यदि वह क्षय, राजयक्ष्मा रोगों के तथा निमोनियां के रोगी के न हों, क्योंकि दोषों से भरे रहने के कारण उनमें हवा नहीं भरती, अतः भारी होने के कारण गहर जल में तैराने पर भी नहीं तैरते।

गर्भस्थस्य शिशोर्ज्ञेयौ फुफ्फुसौ शून्य मारुतौ।
तस्माच्छ्वसन्तिनो बाला गर्भ मध्ये कदाचन ॥१७॥

जन्मलब्ध्वायदा बालोवार मेकमपि श्वसेत ।
तदा तस्य प्लवेतेच फुफ्फुसौ स्वमारुतौ ॥१८॥

अनुवाद—गर्भस्थ बालक के फुफ्फुसों में हवा नहीं भरी होती, इसलिये फुफ्फुस सांस नहीं लेते हैं। जो शिशु माता के उदर से बाहर आकर एक बार भी श्वास लेता है, तो वायु से भर जाने के कारण उसके फेफड़े पानी में तैरते हैं।

यदि गर्भमृतो बालो निर्गच्छेद्योनिमार्गत ।
फुफ्फुसौ तस्योनैव तर्हिनद्यादि के जले ॥१९॥

फुफ्फुसौ सूक्ष्म वस्त्राभद्वयावरणेन वेष्टितौ ।
एषामावरणश्चेयं फुफ्फुस पृष्ठ संयुतम् ॥२०॥

अपर वक्ष कुक्षे संलग्नं पर्शु मान्सजे ।
एतौहि पृष्ठभागौरत्यिक्णौ चन्द्रिकाधिनौ ॥२०॥

सर्वदावरलेनार्द्रौमेवपेस्य निरोधकौ ॥२१॥

यद्यस्मिन्नावरणे भवेत्प्रदाहोऽनिमित्त तस्तथात ।
तदाच पार्श्वशूलं जनयेत्पीडा कर नृणाम ॥२२॥

अनुवाद—यदि गर्भ से मरा हुआ बालक उत्पन्न हो तो नदी आदि के पानी में फेफड़े नहीं तैरते हैं। फेफड़े बारीक कपड़े के समान झिल्लियों मे ढके हुए होते हैं। एक तरह फुफ्फुस की पीठ से बिलकुल चिपटी रहता है, दूसरी तह छाती की भीतरी दीवार से चिपटी रहती है। जो दीवार पसुलियां और पसुलियों के रहने वाले मांस से बनती हैं। इन दोनों तहों के सन्मुख पृष्ठ बहुत चिकने और चमकीले होते हैं और सर्वदा तरल पदार्थ से भीगे रहते हैं। इन पृष्ठों के चिकने रहने के कारण फेफड़ों के फैलने के समय किसी प्रकार की रगड़ नहीं होती यदि इस झिल्ली में बिना कारण के गर्मी से दाह हो तो पुरुषों को पीड़ा करने वाला ·का शूल होता है।

केषाञ्चिद शयानान्तु कार्यमेतन्निरन्तरम्।
यदा रक्तं विशेत्तेषु शुद्धं गृह्णन्ति ते तदा ॥ २४ ॥

श्वासमूत्राश्वनोऽशुद्धं तथा स्वेदस्य मार्गत :
बहिर्निष्कासयन्त्येते रक्तं शुद्धि करं तनौ ॥ २४ ॥

यकृत्प्लीहे च वृक्कौ द्वौत्वगेका फुफ्फुसा उभौ ।
रक्तशोधक यन्त्राणि सप्त स्थानानि वैद्य के ॥ २६ ॥

अनुवाद—किन्हीं आशयों का यह निरन्तर कार्य है कि जब उनमें रक्त पहुंचता है तो वह शुद्ध रक्त को ले लेते हैं और अशुद्ध रक्त को श्वास, मूत्र तथा स्वेद के मार्ग से बाहर निकाल देते हैं। क्योंकि यह रक्त शरीर के रक्त की शुद्धि करने वाला है। दो फेफड़े, दो गुर्दे, एक त्वचा, १ यकृत्, एक प्लीहा यह रक्त की शुद्धि करने वाले यन्त्र वैद्यक शास्त्र म मात कहे हैं।

फुफ्फुस स्त्रीणि वस्तून बहिस्त्यजति नित्यश ।
एकं स्वच्छं च गृह्णातियत्प्राण प्रायव. स्मृत ॥

निपात्र वायु श्चैको हानि प्रदोर र गन्तृ द्रव्यं च ।
तृतीयमौदक वाष्पं त्रिव मेतत्यं जति बाष्प देशेष ॥

शरीरं यच गृह्णाति द्रव्यं फुफ्फुस मार्गत ।
तदेव ह रवर्षीयैर्गैसोषजन उच्यते ॥ २६ ॥

अनुवाद—फेफड़ा तीन चीजों को नित्य बाहर निकालता है और एक स्वच्छ वस्तु को लेता है। जिसका नाम प्राण वायु वा आक्सिजन है। शरीर मे फेफड़ों द्वारा यह तीन पदार्थ (१) मारकाम्ल वाष्प (२) दहनशील मारक पवन (३) दूषित जल की भाप यह बाहर निकालते हैं और शरीर फेफड़ों के मार्ग से जिस द्रव्य को लेता है उसको हमारे महर्षि विष्णुपदामृत वा आम्बर प्यूष या आकाशामृत तथा प्राण वायु कहते हैं। अंग्रेजी के डाक्टर लोग आक्सिजन गैस कहते हैं।

## तथात्र–

शरीरे यो विषाक्त वायुः ( कार्बोनिक एसिड गैसः ) समुत्पद्यते स च येन। सृजाधिकं संयुक्तः तस्य श्याम वर्णो भवति । स च तनोः सर्वभागेभ्यः संचित्य यदा हृदो दक्षिणे ग्राहक कोष्ठं प्राप्य फुफ्फुसौ याति तदा तत्राप चयनाधिक्येन बहु निःसरति । तत्स्थाने प्राणदो वायुः ( आक्सिजन गैसः) समायाति । अयमत्राभि सन्धि हृदयस्य दक्षिण कोष्ठाद्रक्तं फुफ्फुसावा गच्छति तच्च श्यामलं भवति तस्मिन्नाक्सिजनस्य न्यूनत्वं कार्बोनिकेसिडगैसस्याधिक्यं भवति । फुफ्फुसाद् हृदयस्य वामकोष्ठे च रक्तं गच्छति तद्रक्तं वर्णं भवति तस्मिन्नाक्सिजनस्याधिक्यं, कार्बोनिकेसिडगैसस्य न्यूनत्वमभवति।

## भाषानुवाद–

मनुष्य के शरीर में जो विषाक्त वायु उत्पन्न होती है, वह विषैली होने से जिस रक्त मे अधिक मिलती है उसका रङ्ग स्याही मायल होता है। वह रक्त शरीर के समस्त भागों में इकट्ठा होकर हृदय के दक्षिण ग्राहक कोष्ठ में जाकर फेफड़ों में जाता है यहां अधिक एकत्र हो जाने से बाहर बहुत निकल जाता है और उसकी जगह आक्सिजन गैस आ जाती है। यहां यह अभिप्राय है कि हृदय के दक्षिण कोष्ठ से जो रक्त फुफ्फुस में आता है वह कुछ काला होता है, इसमें प्राणदा की कमी और विषाक्त वायु की अधिकता होती है। फेफड़े से हृदय के बांए कोष्ठ को जो रक्त जाता है वह लाल वर्ण का होता है उसमें प्राणदा वायु की मात्रा अधिक एवं विषैला पन कम होती है।

## श्वास प्रश्वास–

श्वास प्रश्वास और रक्त की शुद्धि फेफड़ों के दो प्रधान कार्य हैं। फफड़ों के अन्दर वायु के जाने और बाहर आने को श्वास प्रश्वास कहते हैं।

## श्वास मार्ग और वायु नलिका–

नासिका के द्वारा वायु गले (स्वरयन्त्र) में आकर जिस पथ से फुफ्फुसों में जाती है उसे श्वास मार्ग कहते हैं। गले में सामने की ओर बाहर से टटोलने पर ( बड़ी उमर वाले को बिना टटोले भी दिखाई देती है ) जो एक कड़ी और लम्बी चीज मालूम होती है, वह स्वरयन्त्र है। इसके ठीक नीचे से प्रारम्भ होकर छाती के अन्दर चौथी पसली तक जो नली जाती है वही श्वास मार्ग व श्वास पथ है। विस्तार के लिये हमारे अन्यान्य साहित्य रचना में देखें। वह ४½ इञ्च लम्बा है उसका छिद्र लगभग गोल होता है इसका बाहरी भाग गोल और कुछ चपटा होता है श्वास मार्ग का बाहरी भाग उपस्थियों के छल्लों से बनता है जिनकी संख्या १६ से २० होती है। वे सब छल्ले स्नायु तन्तुओं से आपस में जुड़े रहते हैं। अन्दरूनी भाग मांस, स्नायु, सूत्र और पतली झिल्ली बनता है। श्वास पथ के दोनों ओर धमनियां के सामने मांस पेशी एवं त्वचा और पीछे आहार नलिका रहती है।

श्वास मार्ग के वक्षःस्थल में जाकर दो भाग हो जाते हैं उन दोनों भागों को वायु नलिका कहते हैं। दाहिनी वायु नलिका ६ से ७ और बांए ९ से १२ उपास्थियों के छल्लों से बनती हैं।

फेफड़ों में प्रवेश करने के पश्चात वे दोनों वायु नलिकायें अगणित शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाती हैं, जिन्हें सूक्ष्म वायु प्रणालिका ( Branchiole ) कहते हैं।

## फुफ्फुस की परीक्षा–

हमारे उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थों में फुफ्फुस

और उसकी परीक्षा के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। केवल सुश्रुताचार्य जी के सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान ७ वा और दसवा अध्ययाय में हम फुफ्फुस परीक्षा के कुछ संकेत पाते हैं।

हृदय और फेफड़े की व्याधियों में विकृताविकृत क्रियाओं एवं श्वास, कास, क्षयादि रोगोंको ठीक २ ज्ञान प्राप्तिके लिये फुफ्फुस परीक्षा का ज्ञान अत्यावश्यक है।

वक्ष स्थल के बाह्य स्पर्श द्वारा भी अन्दर के अवयवों का सुगमता से बोध हो जाता है, जैसे कौन सा स्थान में कौन सा यन्त्र विशेष है इसी प्रकार फुफ्फुस का ज्ञान होना भी आवश्यक है। एक कोष्ठ द्वारा संक्षिप्त वर्णन आगे करेंगे।

फुफ्फुस व वक्ष स्थल परीक्षा के ४ उपाय हैं—

( १ ) निरीक्षण ( २ ) स्पर्शन ( ३ ) आघातन ( ४ ) श्रवण।

## (१) निरीक्षण—

रोगी के छाती को देखना कि श्वास प्रश्वास के साथ वक्ष स्थल का फैलाव और संकोचन फैला हुआ है या सुकड़ा हुआ? कम वा ज्यादा या शीघ्र व देरी से तथा उभरा हुआ है या बैठा हुआ। इस के अतिरिक्त पसलियों की खेंचातानी भी देखने के योग्य होती है। बच्चों की पसलियां प्रायः भीतर की ओर खींचती हैं और हंसली की हड्डियों के ऊपर के स्थान में गढ़े पड़ जाते हैं।

## ( २ ) स्पर्शन—

स्पर्श द्वारा श्वास की खरखराहट आदि का अनुभव करना।

## (३) आघात व प्रहार—

करके भी वक्ष स्थल की परीक्षा की जाती है जैसे रोगी की छाती के विभिन्न स्थानों पर बाएं हाथ की उंगलियां रखकर दाएं हाथ की मध्यमा अंगुलियों से उन आघात किया किया जावे तो प्रहार का शब्द स्पष्ट सुनाई देता है। क्योंकि वायु फेफड़ों से सुगमता से निकल नहीं पाती बल्कि भरी रहती है। परन्तु जब फेफड़े की बारीक हवाई नालियों में सचिक्कन कफ एकत्र हो गया है और वहां हवा प्रविष्ट हो ही नहीं सकती ऐसी अवस्था में प्रहार का शब्द मध्यम सुनाई देता है।

## (४) श्रवण—

अर्थात् कान द्वारा शब्द श्रवण करके फेफड़ों का हाल जान लेना यह वक्ष स्थल की श्रवण परीक्षा कहलाती है। इस साधारण क्रिया द्वारा फुफ्फुसोत्थ शब्द कान लगाकर सुन समझ सकते हैं। इस कार्य के लिये स्टेथस्कोप यन्त्र एक अच्छा साधन उपलब्ध है। प्रत्येक वैद्य कार्य में ला सकता है।

श्रवण यन्त्र ( स्टेथस्कोप ) वक्ष स्थल पर लगा कर सुनना, जब रोगी के सीना में यन्त्र लगाकर सुनें तो जहां पर हवाई नालियां विस्तृत हो जाती हैं वहां आवाज तेज और जहां नालियां सूजन के कारण तङ्ग हो गई हों वहां आवाज कमजोर सुनाई देती है। रोगारम्भ में नालियों की भीतरी झिल्ली शुष्क (सूखी) और चिपटी होती है और श्लेष्मा तरावट नहीं पाता तो दो प्रकार की सूखी आवाज सुनाई देती हैं। वृद्धिगत शोथ में हवाई नालियां

[ शेषांश पृष्ठ ३० पर ]

# राज यक्ष्मा

लेखक-श्री० अज्ञान।

—०—

मानव जाति की सृष्टि के साथ २ उसकी उन्नति और ह्रास लगा हुआ है। अर्थात् वृद्धि करना और क्षीण होना उसका सनातन नियम है। प्राकृतिक अवस्था नियमित परिस्थितियों तथा निर्धारित आयु में इस संसार को छोड़ना नश्वर प्राणी का सामान्य नियम है। इसके अतिरिक्त आधिदैविक, आधिभौतिक बाधाओं के द्वारा अप्राकृतिक अवस्थाओं में पड़कर अप्राकृतिक अवस्थाओं तथा अनियमित या अनिश्चित समय में इस संसार से सम्बन्ध तोड़ना अप्राकृतिक कारणों में जहां अनेक कारण हो सकते हैं वहां आयुर्वेदीय सिद्धांतानुसार पांच भूतोत्पन्न सम्वात पित्त श्लेष्मात्मक शरीर में वात, पित्त, कफ जिन्हें त्रिधातु कहा जाता है, इनका किन्हीं कारणों से अपनी समावस्था को छोड़कर विषमावस्था को प्राप्त करना ही व्याधि है। इस व्याधि से ही जर्जरित और क्षीण मानव शरीर पुनः पंचभूतों की प्रागवस्था को जिनसे उसकी उत्पत्ति हुई थी, प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह पञ्चत्व को प्राप्त हो जाता है। ऐसी दृढ़ मान्यता है।

चरक शरीर स्थान अध्याय दो से व्याधियों के कारणों का ज्ञान सम्यक् तया हो सकता है। इसे हम नीचे उद्धृत करते हैं—

प्रज्ञापराधो विषमस्तथार्था हेतुस्तृतीय परिणाम कालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिः ज्ञानार्थ कालः समयोगयुक्ताः॥

इसका अर्थ है कि रोगों का प्रथम कारण प्रज्ञापराध, द्वितीय अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से इन्द्रियों के विषयों का उपभोग। तीसरा कारण परिणाम काल है।

आयुर्वेद के महान् सिद्धान्त जिनका वर्णन ऊपर के श्लोक में है वस्तुतः बहुत सारवान और सुव्यवस्थित हैं। संसार में इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी हेतु नहीं हो सकता जिससे मनुष्य के शरीर पर व्याधि या दुखों का आक्रमण हो सके। ये सब कारण शरीर की धातुओं को विषमावस्था में लाने के सहायक मात्र हैं। यदि धातुयें स्वभावतः बलवान हैं तो इन कारणों की कोई सत्ता नहीं। वर्तमान स्थावर और जंगम वस्तुओं के कण २ इन्हीं धातुओं से बने हुए हैं। श्वास लेता हुआ भौतिक जगत इन त्रिधातुओं की समावस्था की सरल व्याख्या है। और इसी को प्राकृतिकता या स्वास्थ्य कहा जाता है।

जब किन्हीं भी उत्पादक ( Predisposing ) या व्यञ्जक ( Exiting ) कारणों से शरीरस्थ धातुयें विषमता को प्राप्त होती हैं उसी को आयुर्वेद में व्याधि नाम दिया गया है। जिसका व्यक्त वर्णन आगे व्यंजक कारणों की व्याख्या में करने की कोशिश करूंगा। संसार में व्याधियों की अनेकता त्रिदोषों के भिन्न २ न्यूनाधिक अनुपात से मिलने के कारण हैं। इन असंख्य व्याधियों में राजयक्ष्मा भी अपनी विशेष सत्ता रखता है। आज कल भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जगत इस व्याधि के पाशों में न्यूनाधिकता से जकड़ा हुआ है। और जनता की पर्याप्त संख्या मृत्यु के मुख में जा रही है

## राजयक्ष्मा का इतिहास–

इससे पूर्व कि मैं इस व्याधि पर अपने कुछ विचार रखूं, पहिले इसकी प्रचीनता और इतिहास का दिग्दर्शन करना अधिक अच्छा होगा। भारत वर्ष जैसा देश जो कि संसार का ज्ञानदाता समझा जाता है, इस व्याधि के विषय में बहुत प्राचीन काल से जानकारी रखता आया है। इसीलिए हमारी प्राचीन से प्राचीन पुस्तक वेदों में इस रोग के विषय में तथा इसके निवारण क्रिया के संबन्ध में स्थान २ पर वर्णन आते हैं। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद के एक मन्त्र को लेते हैं जिसमें रोगी के रोग निवारणार्थ वैद्य कहता है।

> अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
> यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्का जिह्वया विवृहामसि॥

इसका भावार्थ है कि हे यक्ष्मा पीड़ित मनुष्य! (मैं तेरे पास आया हुआ वैद्य) यक्ष्मा नामक रोग को जो कि तेरी आँखों में, तेरी नासिका में, कानों में, हन्वस्थि में तथा मस्तिष्क शिर और जिह्वा में प्रविष्ट हुआ है, दूर करता हूं। इसी प्रकार अनेक स्थलों में अनेक बार इस व्याधि के विषय में वर्णन मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि भारतीयों ने इस व्याधि की थाह बहुत पहिले से पाई हुई है। इसी प्रकार पुराणों में एक कथा आती है और उसको हमारे चरक, सुश्रुत ने अपने राजयक्ष्मा के विषय में लिखा है कि यह रोग सर्व प्रथम नक्षत्र-राज चन्द्रमा को हुआ था और उसके बाद इस रोग का प्रसार मनुष्यों में हुआ। प्रमाणार्थ सुश्रुत का निम्न श्लोक उद्धृत करता हूं।

> राजश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः।
> तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः॥

(सु० उ० अध्याय ४१)

इसी प्रकार चरक ने भी इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

> शोषो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःख सज्ञित।
> यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मत॥

(च० चि० अ० ८)

इस विषय में वाग्भट्ट की निम्न सम्मति है—

> नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा।
> यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मत॥

(वाग्भट्ट चि० अ० स्था० ५)

इन तीनों श्लोकों का भावार्थ यह है कि राजयक्ष्मा नामक व्याधि जिसको शोष, दुःख, ज्वर, रोगादि अनेक नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, सब प्रथम नक्षत्र राज चन्द्रमा को हुआ था। इसीलिए इसको 'राजयक्ष्मा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार या "राजा च यक्ष्मा च' इस व्युत्पत्ति के अनुसार "राज यक्ष्मा" यह नाम दिया गया। नक्षत्र राज चन्द्रमा के बाद मानव समाज में इस रोग का प्रसार किस प्रकार से हुआ इसके लिये निम्न आख्यायिक का उद्धरण अत्यावश्यक है।

---

[ शेषांश पृष्ठ ३० का ]

पर तो खरखराहट की आवाज सुनाई देती है जिसे शरीर शास्त्र में सूनवर्स रॉकस कहते हैं और छोटी हवाई नालियों पर सीटी की सी सुरीली आवाज सुनाई देती है। जब उपरोक्त नालियों में सूजन उत्पन्न हो जाती है तो वह शुष्क आवाजें तर आवाजों में बदल जाती हैं तथा बड़ी और सूजन प्राप्त नालियों पर लम्बी खशखशा व बलबलाहट की आवाजें सुनाई देती है और छोटी नालियों पर बारीक खशखशा घोष होता है।

ऐसी मान्यता है कि प्रजापति दक्ष की अश्विनी, भरणी, रोहिणी आदि २८ कन्याएं थीं। प्रजापति ने अपनी कन्याओं का पाणिग्रहण नक्षत्र राज चन्द्रमा से कर दिया। विवाह पश्चात चन्द्रमा अपनी नव विवाहिता वधुओं पर अत्यधिक आसक्त होकर उनमें ही रमण करने लगा। इन कन्याओं में रोहिणी की अत्यधिक सुन्दरता के कारण उसने अपना सारा प्रेम उसी को समर्पित किया। दूसरी कन्याएं अपने पति के इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार को देखकर अति विक्षोभित हुईं और इसकी सूचना पिता प्रजापति को दी। पुत्रियों की शिकायत पर एक दीर्घ श्वास छोड़कर चन्द्रमा को क्षय पीड़ित होने का शाप दिया। रति क्रीड़ा में संलग्न तथा शाप से पीड़ित चन्द्रमा दिन प्रतिदिन क्षीणता को प्राप्त होने लगा तथा उसकी कान्ति में मलिनता झलकने लगी। अपनी यह दुर्दशा देखकर चन्द्रमा को अपने पूर्व कार्यों का बोध हुआ और उसने अपने अनुचित कार्यों के लिए प्रजापति से क्षमा प्रार्थना की तथा सह पत्नियों के प्रति विषम व्यवहार को त्यागने का वचन दिया। तत्पश्चात प्रसन्न प्रजापति ने अश्विनीकुमारों द्वारा उसकी चिकित्सा करवाई। परिणाम स्वरूप चन्द्रमा रोग से मुक्त हो गया इस प्रकार मुक्त हुई व्याधि स्वर्गलोक में अपने स्थान को न पाती हुई मनुष्य सृष्टि में आ पहुंची और वहां के भोगी और विलासी पुरुषों पर अपना आधिपत्य किया। इस प्रकार से यक्ष्मा का अवतरण मानव समाज में हुआ। यह कहानी तो सामान्य है परन्तु इससे यक्ष्मा के प्राचीन इतिहास का पर्याप्त ज्ञान होता है। साथ २ ही इसके हेतु का भी कुछ प्रकाश इसमें मिलता है जिसको कि मैं लेख के अगले भाग में स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

मानव जाति की उत्पत्ति भारत में भारत के निकट ही स्वीकृति की जाती है क्योंकि उत्पत्ति के साथ २ ही यक्ष्मा का भी प्रादुर्भाव हुआ। अतः इस स्थान से ज्यों २ मानव जाति का प्रसार हुआ, राजयक्ष्मा भी उसी ओर बढ़ता गया। इस प्रकार पूर्व से इस व्याधि का प्रसार पश्चिम में गया परन्तु पाश्चात्य लोगों को शीत देश में रहने के इस व्याधि का ठीक ज्ञान न हो सका। उपेक्षा के कारण पीछे से इसके अत्यधिक उपद्रवकारी और घातक परिणाम के कारण उन मनुष्यों का ध्यान हठात् इस व्याधि पर आकर्षित हुआ परन्तु यह समय बहुत पीछे का है। ग्रीस के प्राचीन शिला लेखों में जो कि 'बेबलियन' नामक स्थान पर उपलब्ध हुए हैं। इस व्याधि की घातकता के विषय में कुछ वर्णन मिलता है। इससे मालूम पड़ता है कि यह प्रथम समय था जिस समय की पश्चिम के मनुष्यों को इसके विषय में कुछ बोध हुआ था। इस शिला लेख के विषय में "Tuberculosis International" नामक पत्रिका में विस्तार से छपा है।

ईसा से ३०० वर्ष पूर्व ईजिप्ट में पाये जाने वाले ममीज को चीरने से उनके शरीर के तन्तुओं में आज कल भी उस रोग के कीटाणुओं का पाया जाना, इस काल में प्रसारित राजयक्ष्मा के विषय में बोध कराता है। ये ममीज ईजिप्ट के राजघराने के वंशज थे। इसके बाद डा० स्मिथ ने ईसा से २००० वर्ष पुराने ममीज पर राजयक्ष्मा के कीटाणुओं की प्रबलता तथा उनके आक्रमण को पाया और उसने बताया कि उस काल में भी मनुष्य इस घातक बीमारी से पीड़ित थे। हिपोक्रेटने जो ईसा से ९५० वर्ष पूर्व हुआ था। इस व्याधि को समझा और बताया कि यह संक्रमणजन्य रोग है जो कि

१८ से ४० वर्ष की आयु वाले मनुष्य को अधिकता से हुआ करता है और इसमें ज्वर भी होता है। उसने इस व्याधि का नाम "Tubersculas Dia thisis' दिया। तत्पश्चात् सौक्रेटीस तथा गेरि-स्टोटल ने उसे एक संक्रामक व्याधि स्वीकार किया और इसके पायों का भी निर्देश किया। उनके पश्चात् कुछ विद्वानों ने इसे Emphysema के पीछे होने वाली व्याधि स्वीकार किया और उसके कारण भी स्वीकार किये। डा० गेलन और सेल्सस ने भी इस पर पर्याप्त विचार किया और उन्होंने कहा कि इस व्याधि में बकरी का दूध, शहद और उष्ण स्थानों में वास अत्युत्तम है। इसी का पोषण पुनः डा० ऐविसिन्ना और सिरेपियेन ने भी किया। उन्होंने इसे संक्रामक जानकर अनेक उपायों का अवलम्बन किया। डा० सिसी और गेरिटियस ने इस व्याधि में समुद्रीय जलवायु को हितकर बताया। 'The Causes of Tuberculosis नामक पुस्तक में डा० थोमास के विषय में लिखा है कि उसने व्याधि की संक्रामकता को प्रधान कारण न मानकर शारीरिक संघटन के दूषित होने को कारण माना है और उसी के अनुसार अपनी चिकित्सा का आधार रखा। इसके पश्चात् डा० ह्यूस विनेट ने जो कि इसका बड़ा भारी चिकित्सक हो चुका है। सर्व प्रथम Codliver oil को इसकी चिकित्सा में उत्तम साबित किया। इसके विषयमें 'Contribution of the Physiological theory of Tuberculosis नामक पुस्तक में निम्न वर्णन आता है।

The Hughes Bennett the physician who introduced the codliver oil then by urged strongly that Tubercle was the result of errors of nutrition while Walsh thought it was due to failure degestion of chyle for matur.

इसका अर्थ है कि ह्यूज वेनेट नामक प्रसिद्ध विद्वान ने जिसने कि सर्व प्रथम 'कौड लिवर औयल' चिकित्सा का आविष्कार किया, इस व्याधि को पोषण तत्वों की कमी का परिणाम जाना और इस पर बल दिया। जब कि तत्कालीन डा० वैल्स ने भी इसको पाचन शक्ति की विकृति और रसों का न बनना कारण रूप से प्रतिपादित किया। वस्तुतः इन दोनों विद्वानों की सम्मतियों में कोई भेद नहीं।

१६ वीं शताब्दी में फ्रांसीसी लेखक फेनेरडी लैगरायज ने यह घोषणा की कि यह व्याधि संक्रामक है और फैलती है तथा इसके लिए उसने अनेक उपायों का निर्देश किया। १७८२ में नेपल्स में एक राजाज्ञा निकली थी जिसमें इस व्याधि को संक्रमण जन्य समझकर इससे पीड़ित रोगियों को अलग रखने की व्यवस्था की, तथा उनसे मृत व्यक्तियों के वस्त्रों को जलाने तथा बर्तनों का अग्नि धूप आदि से शुद्ध करने की आज्ञा दी। जो मनुष्य इस राजाज्ञा का उल्लंघन करता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। १८६९ में फ्रांसीसी डाक्टर विलेमिन ने चूहे और खरगोश पर यक्ष्मा के रोगियों के रक्त का injection देकर सिद्ध किया कि इस रोग के उत्पादक एक कीटाणु हैं। इसी प्रकार जर्मनी में कोहिनहिम और क्लेब आदि विद्वानों ने यही परीक्षण किए और सिद्ध किया कि यह व्याधि एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में फैलाया जा सकता है।

इसके बाद १८८२ में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् रोबर्ट कौच ने बर्लिन की फिजियालाजिकल सोसाइटी मे यह घोषणा की कि इस व्याधि के निश्चित कृमि होते हैं, जो मनुष्यों के और पशुओं के भिन्न प्रकार के हैं। इनमें से प्रथम प्रकार के Bovine tubercular becilli हैं।

उसने चार सिद्धान्तों का निर्माण किया जिनसे इनकी सत्ता सिद्ध होती है। (१) यक्ष्मा के कृमी रुग्ण व्यक्ति के रूप में तथा प्रभावित भाग से पाये जा सकते हैं। (२) इन कृमियों को कृत्रिम विधि से पाला जाता या बढ़ाया जा सकता है।

(३) ये कृमि स्वस्थ शरीर पर अपना प्रभाव पदा कर सकते है। (४) यदि रुग्ण व्यक्ति के कीटाणु स्वस्थ व्यक्ति में प्रविष्ट किये जावें तो उसे उसी प्रकार की व्याधि से ग्रस्त होना पड़ता है। तथा उसके शरीर में उसी प्रकार के कीटाणुओं की उपलब्धि होती है। इतना सिद्ध होते हुए अब भी यह प्रश्न उपस्थित है कि क्या सिर्फ राजयक्ष्मा के कीटाणुओं की उपस्थिति मात्र से यक्ष्मा रोग की पैदायश होसकती है या इनके कार्य के लिए पहले शरीर का दूषित होना आवश्यक है, जिसमें पड़ा हुआ कृमि रूपी बीज फल फूल सके।

चिकित्सा शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान तथा राजयक्ष्मा विशेषज्ञ डा० मोथू का सिद्धान्त बड़ा मुख्य और वैज्ञानिक है। जिस प्रकार आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि यक्ष्मा आदि रोगों का मुख्य कारण परिस्थिति परिवर्तन जन्य शारीरिक अक्षमता है जिसे कि न सहता हुआ शरीर नाना व्याधियों से ग्रसित होता है। वे लिखते हैं कि—

परिवर्तनशील परिस्थितियों के परिवर्तनों तथा उन्नत करते हुए सांसारिक वातावरणों के बाध्य कारणों के कारण संसार में बड़े २ कृमि विभागों तथा औद्योगिक कारखानों के आविष्कार हुए और इनसे पैदा बड़ी २ चिन्ताओं, सावधानियों तथा उत्तरदायित्वों के विशाल प्रभावों को विलासी जगत का व्यापारिक चिन्ताओं से युक्त, अतएव दुर्बल असमर्थ तथा असावधान मानव शरीर सहने में असमर्थ हुआ और परिणामतः उसके खराब स्वास्थ पर और भी बुरा प्रभाव हुआ। इसी से राजयक्ष्मा नामक व्याधि ने उसके शरीर पर अपना अधिकार किया। इसके बाद व्यापारिक आधारों से ज्यों २ मानव का मानव से तथा देशों का देशों से सम्पर्क हुआ त्यों २ इस व्याधि का भी प्रसार बढ़ता गया तथा संसार की उन जातियों मे जो इस व्याधि की कोई आशा न रखती थी, और न इसके लिए तैयार ही थीं इस व्याधि का प्रसार शीघ्रता से हुआ। मनुष्य का यह स्वाभाविक आलस्य बेपरवाही तथा असहिष्णुता का संचय उसकी अगली संतति मे भी स्वाभाविक रूप से प्रभावित हुआ तथा उनमे भी इसका प्रभाव हुआ।

यह एक व्याधि सिद्धान्त था जो कि पाश्चात्य और पौर्वात्य चिकित्साओं को योग्य दृष्टि से समझने वाला जाना जा सकता है। मानव समाज ने जब से अपने प्राकृतिक सहज जीवन को छोड़कर अप्राकृतिक और कृत्रिम जीवन को अपना कर शरीर के प्रति उत्तरदायित्व को छोड़ा, तभी से इस विलासी जीवन में व्याधियों का प्रादुर्भाव हुआ। परिश्रमशील जीवन के स्थान पर परिश्रम

[ शेषांश पृष्ठ ३७ पर ]

# क्षय रोग का वैज्ञानिक अध्ययन

लेखक—कविराज डा० क्षेत्रराज जी वर्मा आयुर्वेदालङ्कार, आयुर्वेदाचार्य।
प्रधान चिकित्सक—श्री० मूलचन्द खैराती राम ट्रस्ट धर्मार्थ औषधालय, भावरना ( कांगड़ा )

## लक्षण—

शारीरिक सर्वाङ्गीण प्रतिरोधक शक्ति के ह्रास होने के हेतु जब मानवीय शरीर का उत्तरोत्तर क्षय ( भार में न्यूनता ) होता जाकर क्रमशः धातु क्षय होने पर अणुवीक्षणीय अथवा चक्षुगोचर कृमि संक्रमण से शरीर आक्रान्त होता जाए, पश्चात् शारीरिक अवयव गलने प्रारम्भ होकर पनीर की भांति पतले होकर फिर सड़ना प्रारम्भ होकर अन्त में मौत्रिक तन्तु की कृमिक वृद्धि में परिणत हो जाय अर्थात् व्रण बनकर अन्त में छोटी छोटी गुहाएं बन जाय तो इसे हम 'क्षयरोग' संज्ञा से उच्चारित करते हैं। इस प्रकार विविध शारीरिक अङ्गों में मौत्रिक तन्तु की अभिवृद्धि होने के कारण भिन्न २ व्याधियां उत्पन्न होती हैं, जो कि अभिसंक्रान्त अवयव, व्रण विस्तार तथा अवयवों की कृमि संक्रमण के प्रति प्रदर्शित प्रतिरोधक शक्ति के ह्रास का अवस्था के अनुसार विभिन्न अवस्थाएं व रूप धारण कर लेती हैं। शरीर के प्रायः प्रत्येक अङ्ग का 'क्षय' होता देखने में पाया जाता है। क्षय रोग जनक जीवाणु का नाम अर्वाचीन चिकित्सा शास्त्रानुसार tubercle bacillus दिया गया है।

'क्षय' शब्द बड़ा व्यापक है। "क्षीयते अनेन स क्षयः" जिससे क्षीणता उत्पन्न हो, वह 'क्षय' कहा जाता है। अतएव यह प्रत्येक अङ्ग में हो सकता है। अधिक सुलभ रोग उरःक्षय ( Pulmonary Tuberculosis ) है। इसे ही प्राचीन काल में "उरःक्षत" संज्ञा दी गई थी। अतः 'क्षय' तथा उरःक्षय इन शब्दों को पारिभाषिक तौर पर इस लेख में पृथक २ रूपेण ग्रहण किया गया है।

## क्षयरोग के कारण—

**१—अवयवों की पैतृक (सहज) प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास या अभाव**

ऐसे लोग जिन। इस शक्ति का ह्रास आनुवंशिक हो, 'क्षयप्रवृत्तिक' कहाते हैं। ऐसे बालक सुकुमार, गौरवर्ण, त्वचा पतली, छाती पतली अनायास ही शीघ्र प्रतिश्याय आदि का शिकार होजाना प्रकृति वाले होते हैं। परन्तु क्षयरोग की पैतृक परम्परा सन्देहास्पद अवश्य है बशर्ते कि इसमें तात्पर्य यह लिया जाय कि वीर्याणु या रज द्वारा कृमिसंक्रमण होने से पैतृक प्रतिरोधक शक्ति के अभाव के लक्षण सन्तति में उत्तरोत्तर प्रसार कर जाते हों। अभी तक जितने सहज क्षयी बालकों पर अन्वेषण किया गया है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें कृमिसंक्रमण मां के रक्त नाल द्वारा भ्रूण के रुधिर संक्रमण से पहुंच कर रोगोत्पादन का कारण बन सका है।

इस प्रकार यह रचना है कि कृमिसंक्रमण तभी सफल होता है जब कि शरीर में पैतृक निर्बलता हो या अपने भाई बन्धुओं में ऐसी निर्बलता हो। ग॥

किसी दीर्घकालीन रोग के कारण धातु क्षय होकर सर्वाङ्गीण निर्बलता उत्पन्न होगई हो। यावत् शरीर शक्ति के निर्बल करने वाले कारण इस रोग के भी कारण बन जाते हैं। यथा यदि स्त्री प्रसूति के बाद निर्बल हो तो तब भी यह रोग होने की बड़ी सम्भावना होती है। पतृक तथा निर्बल व्यक्ति जरा सा भी मेहनत का कार्य करे तो झट इस रोग के कृमि आक्रांत कर लेते हैं। व्यक्ति यदि अधिक चिन्ताशील रहे, तब प्रकोप होकर तथा मद्य पान करने में तज्जन्य निर्बलता उत्पन्न होकर भी यह रोग उत्पन्न होजाता है।

ऐसा सहज या आगन्तुक ( Heriditary or aquired ) निर्बलता के होने पर यदि निर्बलता रूपी भूमि में इस रोग का बीज रूपी जीवाणु प्रविष्ट होजाय तो यह रोग रूपी वृक्ष शीघ्र ही फलीभूत और विकसित होने लग जाता है। यह जीवाणु प्रधानतया द्विविधि होता है—

१—मनुष्योपलब्ध जीवाणु ( Human type )

२—पशु सुलभ जीवाणु ( Borine type )

यह दो प्रकार का जीवाणु प्रायः बच्चों में तथा अस्थि क्षयादिक रोगों में प्रचुरतया उपलब्ध होता है।

## वेगावरोध—

वात, मूत्र, पुरीष के आगत वेग का निरोध करने से भी कुपित वायु कफ तथा पित्त को प्रेरित करके ऊपर, नीचे, तिर्यक चलता हुआ प्रतिश्यादिक विविध लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। परिणाम स्वरूप त्रिदोष प्रकोप जन्य प्रतिरोधक शक्ति का सर्वथा अभाव होकर क्षय हो जाता है। इसी प्रकार अति व्यवाय, अनशन, ईर्षा, विषाद, चिन्ता आदि क्षय कारक, क्षीणताकारक, कारण भी धातु क्षय करके इस रोग के उत्पादक बन जाते हैं। ऐसे ही विरोधी भोजन करने में शारीरिक धातुओं का असामञ्जस्य होकर उथल पुथल मच जाने में भी क्षय होना प्रारम्भ होजाता है। किसी साहस के कार्य यथा बलवद्विग्रहादिक में सीधे उरःक्षत होकर भी यह रोग प्रादुर्भूत होजाता है। इस प्रकार हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि जब तक शारीरिक अवयवों की निर्बलता चाहे वह पैतृक हो या आनुषङ्गिक हो नहीं उत्पन्न होती, तब तक इस रोग का प्रसरण शरीर में वृद्धिङ्गत कदापि नहीं होपाता। शरीर में रोग की सम्प्राप्ति का यथासम्भव प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होना ही कृमि संक्रमण शीर्षक में गृहीत होने लग गया है। शारीरिक तन्तुओं की क्षीणता से उत्पन्न विविध परिवर्तित नवजाति पदार्थों की एक सदृश्य रूप वाली आकृति होने से इन्हें मृत जीवाणु रूप में स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु यह निर्विवाद तथ्य है कि स्वस्थ शरीर में भी क्षयी जीवाणु के प्रचुर मात्रा में विद्यमान होने पर भी रोग उत्पन्न नहीं होता। तब

[ पृष्ट २५ का शेषांश ]

शून्य तथा विलासी जीवन ने आकर शरीर में कफ संचय करके उसको दूपित किया जिससे स्वभावतः मनुष्य की प्रकृति या प्रवृति क्षय की ओर होगई और समाज शीघ्रता से इस व्याधि का शिकार होने लगा।

इस प्रकार संक्षेप में क्षय के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए अब हम इसके कारणों पर आते हैं।

( क्रमशः )

दूसरे शरीर में क्यों रोग उत्पन्न होजाता है। इसके कारण विमर्श प्रसङ्ग में एक मात्र हल हमें आयुर्वेदीय शास्त्र में ही उपलब्ध होता है। प्रतिरोधक शक्ति का अभाव 'क्षयश्चैव' 'क्षयोभवति' अर्थात् शारीरिक निर्बलता सहज या आगन्तुक होने पर ही कृमि संक्रमण सम्भव है अन्यथा नहीं। इस प्रकार सहज नैर्बल्य ( predisposing cause ) उत्पादक कारण तथा कृमि संक्रमण उत्तेजक कारण ( Causative factors ) सिद्ध होते हैं।

"क्षय जीवाणु" का विस्तृत वर्णन करना इस लेख में हमें आयुर्वैदिक दृष्टि से अभीष्ट नहीं। अत उसका नाम परिगणन मात्र ही कर इसे समाप्त करते हैं।

## पर्याय नाम–

क्षय रोग को शोष ( संशोषण द्रव्य हीनाम् ) क्षय ( क्रिया क्षय करत्वात् ) राजयक्ष्मा–यक्ष्मा आदि नामों में भी कहते हैं। अर्वाचीन चिकित्सा-शास्त्र में क्षय का पर्याय Tuberculosis और उरःक्षय (उरःक्षत) को Phthisis, Cusumption and Decline तथा Pulmonary Tuberculosis कहते है। इन प्राचीन तथा अर्वाचीन नामो का साम्य निम्न तालिका मे स्पष्ट हो जाता है।

१ शोष—Decline

२–क्षय—*Tuberculos* ( *T. B.* )

३–उरःक्षय (क्षत) Pulmonary T. B. Phthisis, Consumption

संक्रमण का आदि स्रोत—

क्षय के प्रसार व संक्रमण के दो प्रधान स्रोत हैं उरःक्षतजन्य ष्ठीवन, कफ तथा क्षय जीवाणु युक्त दुग्ध। गौण स्रोतों में से मुख्य मूत्र, तथा मल है जो कि यदि पूर्व क्षय जीवाणु से युक्त हों। इनमें संक्रमण तभी होता है जब कि मूत्र संस्थान तथा आन्त्र मार्ग में क्षय जीवाणु उपस्थित हों या क्षयी पशु का मांस भक्षण किया गया हो। परन्तु सब में प्रधान कारण मनुष्य के थूक में विद्यमान क्षय जीवाणु ही होते हैं। Nuttall नामक आंग्ल अन्वेषक का तो यहा तक कथन है कि उसने साधारणतया वृद्धिगत क्षयी मनुष्य के २४ घण्टे के थूक में २ से ४ करोड़ क्षय जीवाणु गिनकर उपलब्ध किए। इस परीक्षण में मनुष्य ष्ठीवन-कफ के कृमि संक्रामता की महत्ता स्वयम् सिद्ध होजाती है। शुष्क कफ के ये जीवाणु छिन्न भिन्न होकर मिट्टी में मिले पड़े रहते हैं। वे बीमार के शरीर पर ऊपर की सतह तक रहते हैं। और कुछ नमी पाकर या बीमार के कफ निकालते या जोर से बोलने पर और छींकने पर अथवा श्वास द्वारा अन्दर प्रवेश कर जाते हैं।

पशु सुलभ क्षय जीवाणु ( Borine type ) तो डेरी फार्मों की गौओं में २५ प्रतिशत आजकल भी पाया जारहा है। Newyork जैसे सुसमृद्ध नगर में भी Dr. Hess ने १०७ परीक्षणार्थ रखी गौओं में से १८ प्रतिशत में यह जीवाणु देखा।

## क्षय जीवाणु के शरीर में प्रवेश के मार्ग

यद्यपि विचारात्मक दृष्टि से तो क्षय कृमि संक्रमण के कई मार्ग हैं परन्तु मुख्यतया महास्रोतस तथा श्वास संस्थान ही प्रधान प्रवेशद्वार हैं। इनकी दृष्टि से अन्यान्यन कारण गौणतम समझ लेना चाहिए।

## भोजन प्रणाली द्वारा कृमि प्रवेश–

यद्यपि बच्चों में कृमि संक्रमण का प्रधान मार्ग आन्त्र मार्ग की श्लैष्मिक (झिल्ली) आवरण माना जाता है। तथापि कृमि संक्रान्त दुग्ध ही इसका का प्रधानतय कारण होता है। भोजन प्रणाली द्वारा कृमि संक्रमण का दूसरा प्रधान स्रोतम् गल शुण्डिका ग्रन्थियां होती हैं। इन ग्रन्थियों में समीपस्थ लसीका वाहिनियों मे कृमि प्रसार कर जाते हैं। परन्तु गलशुण्डी संक्रमण से प्रायः ही बची ही रहती है।

## श्वास मार्ग–

श्वास संस्थान द्वारा प्राथमिक कृमि संक्रमण होता है यह सिद्ध करना कठिन है। अतएव प्रथम आन्त्रमार्ग की अपेक्षा यह कारण कुछ भी महत्ता नहीं रखता। परन्तु फुस्फुसीय क्षय व्रणों की प्रचुरता में उपलब्धि तथा उरःक्षय की आनुपातिक आश्चर्यमय अतिवृद्धि और विशेषकर गन्दे, अस्वास्थकर प्रकाश तथा वायु में आवागमन के अयोग्य प्रान्तों तथा गृहों में इसका अधिकतर पाया जाना ये दो प्रत्यक्ष प्रमाण हमें बाधित करते हैं कि हम यह मानें कि इन दोनों दशाओं में ये कृमि संक्रमण श्वास मार्ग द्वारा ही होता होगा। इसमे कृमिसंक्रमण यों होता है।

थूक केसूक्ष्मतथा विभक्तकण शैशवकाल में श्वास मार्ग द्वारा प्रवेश कर जाते हैं। क्षय जीवाणु लसीका वाहिनियों द्वारा ग्रन्थियों मे पहुंचकर उनमें शोथ उत्पन्न कर देते हैं। जो शोथ कि पश्चात् हट जाती है। फिर भी कुछ जीवाणु ग्रन्थिकी छाननी Filter में से छनने से बचे रहकर पीछे रक्त द्वारा पुनः फुस्फुसों में गौण रूप में पहुंचा दिए जाते हैं। इस प्रकार इन जीवाणुओं के फुफ्फुसों मे व्रन केन्द्र ( Foci ) प्रायः भव साध्य ( Heal ) होजाते हैं, परन्तु जो केन्द्र फुफ्फुसों के बांये ऊर्ध्वभाग apex शिखर प्रदेश में बन जाते हैं वे अपेक्षया धीरे २ नष्ट होते हैं। और अन्ततोगत्वा ये ही केन्द्र स्थायी फुफ्फुस क्षय ( उरःक्षय ) के कारण बन जाते हैं।

क्षय रोग निवारक संस्थाओं में क्षय की संक्रामता के विषम में जो तालिकायें अब तक उपलब्ध हैं वे परस्पर बड़ी विरोधी प्राप्त हुई है।

## वंशानुवङ्किकता–

शारीरिक अवयव जन्य सहज नैर्बल्य क्षयरोग के उत्पन्न करने में सर्व प्रधान निश्चयात्मक कारण है। परन्तु पिता के वीर्याणु या माता के डिम्ब में उत्पत्ति से पूर्व क्षय जीवाणु प्रविष्ट होते हों ऐसी बात नहीं है। यह तो सन्देहास्पद है। अधिकृत क्षेत्रो में जो आज तक सहज क्षय के उदाहरण प्राप्त हुए भी हैं वे भी केवल इस कारण मे कि माता के रुग्ण नाल द्वारा भ्रूण में कृमि संक्रमण हुआ था। अन्यथा कृमि संक्रमण असम्भव है। देहावश्रवज नैर्बल्य ही माता-पिता द्वारा सन्तान को वंश परम्परा प्राप्त होता है। वही कालान्तर में जाकर तथा तत्तद्रोग सम्बन्धी उत्तेजक तथा विप्रकृष्ट कारणों की प्रचुरता तथा विद्यमानता में तत्तद्रोगोत्पत्ति का निश्चत प्रादुर्भावक कारण बन जाता है।

## त्वचा में कृमि संक्रमण–

कहीं रगड़ लगी हुई हो या व्रण हो, तब कृमि प्रवेश कर सकता है। परन्तु यह कोई मुख्य कारण

नहीं है । मृतोत्तर परीक्षा में ( Post mortem Examination ) कभी २ क्षय जीवाणु पाये गये हैं । ये Worts मस्सों में मिले हैं । इस रोग को Verruca Necrogenica कहते हैं । Dr Czermy नामक विख्यात शल्य चिकित्सक ने एक दो उदाहरण अपनी अनुमानता में प्राप्त किये हैं । वैसे यह गौण सम कारण हैं ।

क्षय के कारणों में ( Etiological factors ) सब में प्रमुख कारण शारीरिक अवयव जन्य सहज निर्बलता ही है । परन्तु निर्बलता का वास्तविक स्वरूप अभी तक भी निश्चित नहीं किया जा सका है । परन्तु इसकी उपलब्धि व सत्ता अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान रखती है ।

लिङ्ग ( Sex )—कोई कारणात्मक प्रमुखता नहीं रखता है । स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका सब में समान रूपेण उपलब्ध होता है ।

## जाति भेद—

सहज नैर्बल्य में पड़े ही द्रष्टव्य कारण भूत अङ्ग सिद्ध हुये हैं । इस रोग की रोग ग्राहकता की मात्रा तथा क्षयज मृत्यु तालिका विभिन्न २ जातियों में बड़ी अवस्था प्राप्त होती हैं । तदाहरणतया आयरलैंड देश निवासियों यह रोग बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है । परन्तु हब्शी लोगों में इस रोग से मृत्यु बहुत ही अल्प होती है । यहूदियों में यद्यपि यह रोग बड़ा सुलभ है, परन्तु मृत्यु की संख्या बहुत कम है ।

## चोट (क्षत)—

विशेषकर फुफ्फुसी क्षय संक्रमण में प्रधान कारण बन जाती है । यह कथन भी अनुचित न होगा कि यह उरःक्षय रोग के प्रसार का मुख्य अङ्ग है । सब व्यवसाय जिनमें धूलि के अणु या परमाणु प्रति दिन श्वास मार्ग द्वारा रक्त प्रविष्ट होते हों, तथा ऐसे कार्य कर्ताओं में जो गन्दे मकानों में, स्थानों में रहते हों, जिनमें रोशनदानों में शुद्ध वायु के यातायात का समुचित प्रबन्ध न हो तथा जो गृह व स्थान समुचित प्रकाश प्रबन्ध से युक्त न हों, उन व्यक्तियों में यह रोग और विशेषतया उर:क्षय रोग उपलब्ध होता है ।

*प्रवनत आर्थिक दशा—*

यदि उपर्युक्त अवस्थाओं की अवाथा के साथ ही साथ आर्थिक दशा भी अच्छी न हो तब तो इस रोग का आगमन शीघ्रता से ही हो जाता है ।

## क्षीणता—

चाहे वह किसी तीव्र रोग जन्य हो ( acute illness ) *या गर्भावस्था, प्रसूति अवस्था, दीर्घ कालिक मातृ स्तन से स्तनपान या जीवन की परि-* श्रमात्मक दशाओं के कारण उत्पन्न हुई हो पायश: साधारण तौर प्राकृतिक सहज नैर्बल्य उत्पन्न कर देती हो और आनुवंशिक क्षीणता की अनुपस्थिति की दशा में भी आनुषंगिक या कृत्रिम निर्बलता को ही उत्पन्न कर देती है ।

## परिणामी संक्रमण—

क्षय रोग प्रायश निम्न व्याधियों में परिणामी संक्रमण के तौर पर उत्पन्न हो जाया करता है यथा मधुमेह, यकृत्क्षय और फिरंगाई नाड़ी रोगों में यथा—Tabes Dorsalis ( पश्चिम सुषुम्ना पात रोग ) इत्यादि । मध्यावर्ती तथा पुरातन श्वास संस्थानीय [illegible]

लिये स्थानिक प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास करने में सहायक सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि अपवादत: बहुत से रोगी श्वास रोग तथा पुरातन श्वास नाली जन्य कफ रोग से आक्रांत व उत्पीड़ित होते हुए भी चिरकाल पर्यन्त उर: क्षय क्रमण से बचे रहते हैं बशर्ते कि उनमें पैतृक परम्परा से कोई भी तत्तद्वर्गीय अवयवों की विशेष निर्बलता न उत्पन्न हुई हो।

जिन गृहों में किसी व्यक्ति के निकट सजातीय व्यक्ति यथा भाई, बन्धु को क्षय रोग हो तो बचपन में इस रोग के जीवाणु सुकुमार शिशु बालक बालिका में अन्दर प्रवेश पाकर वहां पर स्थाई निवास बना लेते हैं। ऐसे बालकों को जब कोई परिश्रम का कार्य या गुरुतर कार्य सहन करना पड़ता है या अन्य कोई साहस का कार्य करना पड़ता है अथवा कास रोगांतिका या अन्य कफज व्याधियां में उत्पन्न निर्बलता में शरीर आक्रांत हो जाये, या फिर शरीर में धातु क्षय हो जाये या इसी प्रकार स्त्री में प्रसवोत्पत्ति जन्य अति क्षीणता हो जाये तो यह रोग शीघ्र ही शरीर का अकस्मात स्थाई अतिथि बन जाता है।

इसी प्रकार अन्य शारीरिक शक्ति नैर्बल्य के कारण भी इस रोग के जनक हो जाते हैं। विशेषतया शुद्ध वायु, जल, भोजन, गन्दा व्यवसाय व कार्य होने पर इसी प्रकार वात प्रकोपक कारण भी इस रोग की उत्पत्ति में परम सहायक बन जाते हैं। जो व्यक्ति सर्वदा किसी चिन्ता में आतुर रहे या किसी बड़े वियोग का दुख उनको प्रतिक्षण बेचैन करता रहे, किसी प्रकार बड़ा भय या आतंक शोक, मानसिक दीर्घ व्याधि में ग्रस्त हो तो समझ लें कि यह रोग शरीर द्वार द्वारा प्रविष्ट हो गया है। अन्य निर्बलता कारक तथा वात प्रकोपक कारणों में छाती पर चोट लगना भी सम्मिलित है। इसी प्रकार अत्यधिक मद्यपान करने पर श्लैष्मिक प्रकोप होकर भी यह रोग हो जाया करता है।

#### क्षय जीवाणु के शरीरान्त: प्रवेश मार्गों के विषय में प्रचलित विभिन्न मतों की समीक्षा—

प्रथम मत यह है कि क्षय जीवाणु श्वास मार्ग, भोजन प्रणाली मार्ग, लसीका वाहिनी पथ, त्वचादि द्वारा प्रसरण करता है।

द्वितीय मत—यह है कि श्वास मार्ग में क्षय-जीवाणु नाशक शक्ति महती होती है। अतएव सीधा इस मार्ग द्वारा क्षय जीवाणु का संक्रमण असम्भव प्रतीत होता है। इस मत के पोषकों और स्थापकों का कथन है कि 'क्षय जीवाणु' पूर्व लसीका वाहिनियों में जाता है। वहां से यह फिर फुफ्फुसों में जाता है।

*तृतीय मत*—बल्कि कई विद्वान तो यहां तक भी कहने को तैयार हैं कि प्रथम उदर में यह जीवाणु जाकर वहां से ही लसीका वाहिनियों में प्रविष्ट होकर तदनन्तर फुफ्फुसों में प्रसार करता है। इस प्रकार विभिन्न मतानुसार तीन निम्न प्रवेशार्थ सम्प्रति चिकित्सक सम्प्रदाय द्वारा सम्मत व अभिमत है।

(१) स्वर यन्त्र की लसीका वाहिनियों द्वारा कृमि संक्रमण व शरीर प्रवेश।

(२) मुंह, पेट में जाकर वहां से लसीका वाहिनी द्वारा पूर्ववत प्रसरण।

(३) श्वासमार्ग में जाकर वहां से लसीका वाहिनी द्वारा पूर्ववत प्रसरण।

चतुर्थ मत—एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जिसका मान्यता व स्थापना यह है कि नवजात शिशु के शिशुकाल में ही यह रोग प्रायशः विद्यमान रहता है, किन्तु यह तब तक प्रसुप्तावस्था म रहता है। यह तब मातृस्तन्य द्वारा या माता पिता क ष्ठीवन मे आकर बाद मे उसका प्रकटन, उद्बोधन युवावस्था में होता है। अर्थात इसकी उत्पत्ति तो शिशुकाल (बचपन) में ही हो जाती है। यथा फिरङ्ग रोग उत्पत्ति के पश्चात भी ~-२० वर्ष बाद जाकर प्रकट होता है। परन्तु हम प्रतीत होता है कि बाल सुलभ क्षय Borne Type पशु सुलभ क्षय के प्रकार का होता है और मनुष्य सुलभ क्षय (HumanType) का होता है। अत हमारी विचारणा यह है कि यह रोग पूर्व न होकर पीछे से ही होता है। रोगी के श्वास प्रश्वास में क्षय जीवाणु सर्वथा विद्यमान नहीं होते, अपितु उसके कफ, ष्ठीवन, थूक में ही केवल विद्यमान होते हैं। अतएव ऐसे क्षय रोगी के समीप उठन-बैठने से यह रोग सर्वथा नहीं होता। ऐसी धारणा केवल मात्र साधारण जनता का सन्देह व भ्रम मात्र ही होता है, चिकित्सक वर्ग भी इस भ्रम के प्रसार करने म बड़ा भारी हेतु सिद्ध हुआ है। वस्तुतः तो एक मात्र कारण थूक ही है। अत यह सिद्धांत हमे नि:सन्देह अभिप्रत है कि यह रोग अनायास ही कदापि नहीं हुआ करता है।

## क्षयोपलब्धि तथा मृत्यु संख्या—

स्वस्थ माननीय शरीर क्षय जीवाणु के संक्रमण से प्रायः सापेक्षिक अप्रभावित माना गया है। अर्थात स्वस्थ शरीर मे क्षय जीवाणु संक्रमण कर अपना प्रभाव प्रदर्शित नहीं कर सकते हैं। तथापि इस मान्यता के विरोध में हमें यह नि:सन्देह कहना ही पड़ता है कि या तो इस कारण से कि-चूंकि यह क्षय जीवाणु सारे भूमण्डल में इतना अधिक व्यापक है, बल्कि ओत प्रोत हुआ है और या इस हेतु कि उपरिवर्णित यावत्कारणों में से कोई एक प्रबल हो जाता हो या बहुत से कारण एकत्रित होकर सम्मिलित रूपेण इस रोग का प्रसार कर देते हों, सहस्रों व्यक्ति इस जीवाणु से स्वस्थ होते हुये भी सम्बद्ध और युक्त रहते हैं। स्वस्थ व्यक्ति इससे सम्बद्ध नहीं रहते यह कथन भ्रममूलक तथा नि:सार है। यह जीवाणु तो इतना अधिक सर्व व्यापक सा होता है कि पाश्चात्य देशों में सब युवा व्यक्तियों की ध्यानपूर्वक शारीरिक परीक्षा करके यह सिद्ध किया जा चुका है कि स्वस्थ युवा व्यक्तियों में भी (In all the adults) ७० से लेकर ८० प्रतिशत तक व्यक्तियों में क्षय जीवाणु द्वारा निर्मित क्षत उपलब्ध हुए हैं। प्रत्युत वर्तमान चिकित्सा शास्त्र वेत्ताओं की निश्चित सी धारणा तो यहां तक बन गई है कि सम्पूर्ण मानव जाति का १/७ वा भाग सीधे तौर पर क्षय रोग के कारण से ही मृत्यु के ग्रास में पहुंच जाता है। यह निश्चित तथा निर्विवाद परिणाम सिद्ध होता है कि यह क्षय रोग अवश्यमेव शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति के ह्रास के कारण ही उत्पन्न होता है। चाहे यह प्रतिरोधक शक्ति वंश परम्परा प्राप्त हो या पश्चात्प्राप्त कारण से प्राप्त हो और या फिर चाहे दोनों कारणों से सम्मिलित रूप मे प्राप्त हुई हो।

इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि क्षय जीवाणु स्वस्थ पुरुषों के अन्दर भी विद्यमान रहते

हैं। वे उनके जीवन में प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं, परन्तु तो भी रोगी कोई २ ही हो पाता है, क्योंकि जब तक शरीर में प्रतिरोधक शक्ति इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न हुई हो तो यह जीवाणु निश्चेष्ट होकर शरीर के अन्दर पड़ा लुका, छिपा रहता है और अपने दाव-पेच लगाकर अपने मौके की ताक में बैठा रहता है। सहस्रों व्यक्तियों में इस रोग का हलका सा आन्दोलन होकर स्वयं शांत हो जाता है। ठीक जैसे एक बड़े साम्राज्य की सीमाओं पर हलके २ डाकुओं के हमले सदा ही होते रहते हैं साथ ही वे दबाये भी जाते रहते हैं। परन्तु यदि वृहत् साम्राज्य की शासनकर्त्री शक्ति अपेक्षया न्यून हो तो वे ही डाकुओं के छोटे गिरोह के हमले भी उसके लिये असह्य होकर वह उनमें स्वयं दबकर अपने विनाश का कारण बन जाती है, ठीक वही दशा क्षय में भी होती है।

बालकों में तो यह रोग सहसा ही तीव्र वेग से प्रगट होकर शीघ्र ही जड़ पकड़ लेता है। अतएव यह परमावश्यक हो जाता है कि बच्चों को इस भयङ्कर व्याधि से बचाया जाये यही कारण है कि बालक्षय से मृत्यु: सब से अधिक पाई जाती है। १४-१५ वर्ष तक के बालकों में तथा कुमारों में तो ७५ प्रतिशत बालक इसी रोग के शिकार बनते हैं।

अतएव स्वस्थ वृत्त की दृष्टि से इस रोग के बचाव का सबसे बड़ा उपाय यह होता है तथा यह होना भी चाहिये कि बालकों को शुद्ध खुली हवा तथा विस्तृत सूर्यताप में रखा जाये। यदि ये बालक नगरों में जो कि बड़ी घनी आबादी वाले हों रहेंगे तो तुरन्त इन्हें यह बीमारी भूत-प्रेत की तरह चिपक जायगी। ऐसे पैतृक परम्परा या निर्बल बालकों को युवावस्था तक शहरों में रहने ही नहीं देना चाहिये। उन्हें ग्रामीण शुद्ध जलवायु में ही पालना पोषना चाहिये। पुरातन काल में क्षय का आक्रमण इसी कारण से अपेक्षया अत्यल्प हुआ करता था क्योंकि सर्व लोग शुद्ध ग्रामीण जलवायु में जीवन पालन करते थे। इतने घने संकीर्ण मार्गोंवाले नगर तब नहीं होते थे। इसी दृष्टि से आजकल सर्वत्र बड़े २ नगरों में नई आबादियां बसनी प्रारम्भ हो गई हैं। यह आबादी, स्वस्थ वृत्त के नियमानुसार नये ढङ्ग पर बसाई जाती हैं।

एक और दिलचस्प बात इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। जो लोग घने शहरों में रहने के अभ्यस्त हैं उन में इस रोग के प्रति आगन्तुक प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाने से वे शीघ्र इस रोग के शिकार नहीं बनने पाते। परन्तु जो व्यक्ति सर्वदा शुद्ध हवा में रहते हों उन्हें यदि कुछ काल तक ऐसे शहरों में रहना पड़े तो चूंकि वे इस गन्दी हवा में रहने के अभ्यस्त नहीं होते, उनमें यह रोग शीघ्र ही अपना घर कर लेता है। उदाहरणार्थ जङ्गली जातियों में क्षय रोग अत्यल्प होता है। परन्तु ये ही लोग जब सभ्य सुसंस्कृत शहरों में आकर आबाद होते हैं तो तुरन्त ही क्षयी बन जाते हैं। हम अपने गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातकों का उदाहरण देना उपयुक्त समझते हैं। चूंकि गुरुकुलीय जीवन सर्वथा प्राचीन ग्रामीण ऋषि आश्रमों का सा होता है। वहां की शुद्ध, निर्मल जलवायु में परिपालित युवक स्नातक १४ वर्ष पश्चात जब नगरों में जाते हैं तो तुरन्त ही वहां की घनी, अंधेरी बस्तियों और गलियों में रहने से इस रोग के शिकार

बन जाते हैं। सम्भवतः इसी कारण अब ऐसा नियम बनाया गया है कि ब्रह्मचारी वर्ग उच्च कक्षाओं में जाकर अपने २ गृहो में भी प्रति वर्ष जा सकते हैं। इससे कभी २ घर जाते रहने से नागरिक जीवन के सर्वथा अनभ्यस्त नहीं रहते हैं।

## क्षय कृमि संक्रमण के परिणाम–

बहुत ही बिभिन्न प्रकार के तथा विभिन्न गुरुता के होते हैं। (Variety and Intensity)

क्षय के प्रकार—

भिन्न २ प्रकार के अवयवों के आक्रांत होने तथा कृमि के संक्रमण मार्ग पर अवलम्बित होते हैं। जिस २ अङ्ग के अवयव आक्रान्त होंगे उस २ अङ्ग में ही क्षय प्रसार करेगा। यदि श्वास संस्थान के अवयव इस क्षय जीवाणु से आक्रांत होंगे तो यह रोग अपेक्षा अन्य अङ्गों के क्षय के अधिकतर तीव्र रूपेण न होगा। श्वास मार्ग द्वारा कृमि प्रवेश होने पर भी यही दशा होगी।

गुरुता—

क्षय जीवाणु सापेक्षिक आक्रमण की अवस्था तथा रोगी द्वारा प्रदर्शित प्रतिरोधक शक्ति पर आश्रित होती है। क्षय रोग स्वस्थ व्यक्ति में कई २ वर्षों तक बिना किसी उपद्रव को प्रगट किये भी रह सकता है जबकि किसी २ मे ऐसा भी होता है कि यह कुछ ही सप्ताह मे व्यक्ति को मौत के घाट उतार देता है। अतएव आयुर्वेद मे इस रोग की परमावधि १००० दिन (३ वर्ष) तक मानी है। परन्तु जिन व्यक्तियों मे सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं वे १९–२० वर्ष तक भी जीते रहते हैं। संक्रमण के परिणाम भिन्न २ अवयवों के क्षयरोग मे भिन्न २ होते है। उन सबका वर्णन न कर हम केवल इस लेख में साधारण कृमि संक्रमण ( General infection ) का ही उल्लेख करेंगे। इस व्याधि को जो कि क्षय बनकर सर्वाङ्गीण रूप में प्रसार करती है Geneal Tuberculosis या सर्वाङ्गीय क्षय कहते हैं।

ध्यान रहे कि क्षय जीवाणु धूल में तथा शुष्क कफ में भी नहीं मरते है। इसके कारण यह शरीर में प्रवेश तथा प्रसार पाता है। बालकों में क्षयी गो के दुग्ध द्वारा आमाशय में जाकर भी रोगोत्पत्ति का कारण बन जाता है। ऐसे बच्चों की गलग्रन्थिया शोथ युक्त हो जाया करती हैं। तब इसी रोग का सन्देह प्रायः करना चाहिये।

## क्षय रोग का निर्धारण–

रोगियो के कफ, मूत्र अन्य शारीरिक स्राव, शिशुओं मे कफाभाव से वमन, रक्त आदि की परीक्षा करके इस रोग का निश्चय किया जाता है ये। सब विधिया पाश्चात्य चिकित्सान्तर्गत होने से अवर्णनीय समझ कर यहा पर इस लेख में छोड़ दी जाती हैं। इन परीक्षाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत मे अर्वाचीन In direct methods of diagnosis भी उपलब्ध हैं।

( क्रमशः )

हमने पचास वर्ष में क्या उन्नति की है इसका अनुमान बच्चों के जीवन व हमारी औसत आयु व मृत्यु से किया जासकता है।

हम जब तक पहले जीवन को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमानुसार सचालित नहीं रख करेंगे तब तक हम अपने शरीर को ठीक २ स्थिति में स्वस्थ नहीं रख सकेंगे।

शरीर स्वस्थ ही नहीं रहेगा तो उसमें शक्ति और सबलता कहां से आयेगी। बिना शक्ति के सेनोटोरिम व क्षयाश्रमों में हम अपना क्षय से बचाव कर सकें यह शायद अत्यन्त कठिन बात है।

## क्षय के हेतु–

जिन कारणों का ऊपर क्षय वृद्धि व प्रसार के हेतु रूप में उल्लेख किया गया है वे ही क्षय के हेतु कहे जा सकते हैं। किन्तु आयुर्वेद ने इनका वर्गीकरण और रूप से किया है। एक २ हेतु को टटोलने से न मालुम हेतुओं की संख्या कहा तक पहुंचे। हेतु हजारों की संख्या में होते हुए भी शरीर पर जिस तरीके से जैसा प्रभाव डालते हैं उनका उसी रूप में वर्गीकरण करना संगत है। आयुर्वेद ने क्षय के अशेष हेतुओं को भागों में बांट दिया है। वे विभाग इस रूप में हैं। (१) वेगरोध (२) क्षय (३) साहस (४) विषमाशन।

१—वेगरोध से प्रधान प्रयोजन मल मूत्र अपान के वेगों को अनवरत रोकते रहने का है। वैसे वेग शरीर में जृंभा, छींक, अश्रु, भूख, प्यास, हर्ष, अपस्मार, निद्रा, मैथुन आदि और भी हैं। पर उनका वैसा प्राबल्य नहीं है जैसा कि मल मूत्र अपान वात का है। ये वेग प्रतिदिन मनुष्य में दिन रात में कई बार होते हैं। शरीरस्थ वात धातु इन कर्मों का उत्पादक है। वस्ती में मूत्र का इतना भाग एकत्रित हो जावे कि जिसके निकलने की जरूरत है। उण्डक में इसी तरह मल का इतना भाग आजाना व उसका सम्यक्पाक होजाना जिससे कि वह बाहर जाने जैसा होजाय।

अन्न की पक्वावस्था होचुकने पर बृहत् आंत व मलाशय के सम्बन्धित भागों में प्रसरित होने वाले उस वायु का जो मलीय भाग में गैस के रूप में उत्पन्न होता है बाहर निकलने का समय ये मल मूत्रादि के स्वाभाविक वेग हैं।

मलादिकों का यह प्रवृत्ति उन अवयवों तथा तत्रस्थ वातादि दोषों की साम्यावस्था के कारण होती है। यदि हम इस प्रवृत्ति के होते ही मलमूत्रादि का त्याग कर दें तो उस अवयव का स्वाभाविक कर्म व तत्रस्थ दोषों की स्वाभाविक क्रिया उचित रूप में बनी रहेगी।

आप पशु पक्षियों के जीवन की ओर ध्यान दें, वे इन कर्मों को बड़ी सतर्कता से सम्पन्न करते हैं। उन्हें अपने इन कर्मों को रोकने की कभी जरूरत नहीं होती।

पर मनुष्य ने अपनी स्थिति बहुत बदल दी है। कुछ ऐसी स्थितियां हैं कि जिनमें मनुष्य इनका अवरोध करता है। जैसे सभा सोसायटियों का काम, सिनेमा, स्कूल, कालेज का समय, रेल की यात्रायें ऐसे काम या ऐसी स्थितियां हैं कि जहां वेगरोध का अवसर आता रहता है।

बहुत से नौकरी पेशेवाले व्यक्ति काम के बोझ के कारण यह देखते रहते हैं कि कब काम समाप्त होता है फिर तसल्ली से ही निवटेंगे। कोई ऐसा

ख्याल कर लेता है कि इतना सा काम और कर फिर मल मूत्र का त्याग करेंगे। वे इस तरह धीरे-धीरे अपनी आदत बदलते रहते हैं। उन्हें पता नहीं कि इससे उन अवयवों तथा वहां काम करने वाले शारीरिक तत्वों की कितनी गड़बड़ी होगी। बिना नौकरी वाले भी बहुत से व्यक्ति जो अपने घरू काम के स्वामी होते हैं, काम के लालच के कारण वेगों की उपेक्षा करते रहते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्वाभाविक वेग प्रवृत्ति में वेग का दबाव अत्यधिक नहीं होता है। वह तो इशारा मात्र है। स्वास्थ्य के सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति इस प्रकार की वेग प्रवृत्ति को सामान्य शंका समझ उसको रोकने में कुछ भी विचार नहीं करते हैं। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि शरीर की शुद्धि रखने वाले वस्ती, मलाशय, मूत्र-प्रणाली के अवयव अपनी कार्य प्रणाली धीरे २ छोड़ते जाते हैं। इन अवयवों को प्रेरणा देने वाला अपान व समान वायु भी बार २ अपनी गति का अवरोध होने से अनुलोम गति को छोड़ प्रतिलोम गति वाला बन जाता है। जिससे मनुष्य के शरीर में से समय पर बाहर निकल जाने वाली सामिग्री बाहर न निकल उन स्थानों में पड़ी रहती है। शरीर में न पहुंचने वाली चीजें इस हेतु से शरीर में पहुंचती रहती हैं कि विकृत गैस रसवाही, उदकवाही स्रोतों में पहुंच नवीन बनने वाले शारीरिक परिमाणुओं को निर्बल करती रहती है। इससे तुरन्त किसी प्रकार का रोग व्यक्ति को मालूम नहीं होता पर उसकी पाचन प्रणाली में, पाचन क्रिया में धीरे धीरे अव्यवस्था बढ़ती रहती है। भोजन में से जितना सार भाग खिंचना चाहिये उतना खिंचता नहीं। मल में स्नेह भाग अधिक रहने के कारण आन्तों में उपलेप होने लगता है। कोष्ठ की ठीक शुद्धि होती नहीं। इससे मानसिक उल्लास और शरीर में जो स्फूर्ति होनी चाहिये वह नहीं होती। ओज का निर्माण कम होजाता है। शरीर के प्रमुख यन्त्रों की क्रिया शक्ति धीरे २ मन्द होने लगती है। व्यक्ति असावधान रहता है। वह इन सामान्य प्रतीत होने वाले परिवर्तनों पर तो विशेष ध्यान देता नहीं है और यदि देता भी है तो चूर्ण चटनी आदि के प्रयोग कर वेगों की अनुपादेय प्रवृत्ति करना आरम्भ करता है। शरीर की यह स्थिति रोगों को उत्पन्न करने में परम सहायक हो जाती है। जिस तरह पर्याप्त खाद व कर्षण से खेत की बीज ग्रहणशक्ति प्रखर बनाई जाती है उसी तरह वेगरोध का परिणाम शरीर को गन्दगी की खाद दे देकर रोग रूपी बीज ग्रहण करने को उर्वर खेत की तरह बना देता है। इस वेगरोध हेतु में उन सब सामान्य कारणों का समावेश हो जाता है, जो आज की सभ्यता में अनेक रूपों मे दिन २ मानव समाज में स्थान पाते जाते हैं। वेगरोध के अनुबन्ध से विकृत वातादि दोष ऊर्ध्व, अधः तिर्यक् गति से शरीर के विभिन्न भागों में प्रसरित हो रोग उत्पन्न करते हैं। वेगरोध रूप क्षय का यह प्रथम वर्गीकरण है।

## २—क्षय—

वेगरोध की तरह दूसरा वर्गीकरण क्षय रूप हेतु का है। क्षय से अभिप्राय सामान्यतः शारीरिक तत्वों की कमी से है। शरीर में किन्हीं कारणों से शरीर के आवश्यक अंशों का न्यून होना या धीरे २ न्यून होते जाना 'क्षय' शब्द वाच्य है।

असाध्य क्षय रोगी

शुन मुष्कोदर चैव यक्ष्मा हन्ती मानवम् ।

# क्षयरोग और आयुर्वेद

लेखक-श्री० मङ्गलदास जी स्वामी, श्री दादू महाविद्यालय, मोतीडूंगरी, जयपुर सिटी।

## हमारे देश में क्षय की वृद्धि-

क्षय रोग का उद्भव बहुत प्राचीन समय से है। आयुर्वेद के आर्प ग्रन्थों में ऋग्वेद, अथर्ववेद के सूक्तों में इसका पर्याप्त वर्णन है।

आयुर्वेद सिद्धान्त से क्षय को आठ महा रोगों में स्थान दिया गया है। यह बीमारी आरम्भ ही से उलझन भरी होने के कारण कृच्छ्र साध्य मानी गई है।

सामान्यतः आज से पचास वर्ष पहिले हमारे देश में यह रोग बहुत ही कम मात्रा में होता था। कारण उस समय हमारी रहन सहन तथा आहार विहार अधिकांशतः प्राकृतिक दशा में था।

रेलों की वृद्धि, कल कारखानों की स्थापना, नगरों में अत्यधिक जन समुदाय का निवास, धाबे, होटल में खाना, अनियमित ढङ्ग से काम करना ये सब ऐसे कारण हैं कि जिनसे मनुष्य का जीवन व आहार विहार विहार अस्वाभाविक बनता है।

जैसे २ इन कारणों की वृद्धि होती गई, नवीन सभ्यता के प्रसार के साथ २ कुछ बातें इस प्रकार की भी प्रचलित होने लगी, जिनका कि प्रचलित होना इस देश के जलवायु को देखते कतई उपयुक्त नहीं। पर दिखावट, व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से शिक्षित समुदाय इसमें अग्रणी हुआ। "गतानुगतिको लोकः" लोकोक्ति से देखादेखी अन्य मनुष्यों ने भी यह अनावश्यक ढङ्ग अपनाना आरम्भ किया।

इन सब हेतुओं से जीवन में अधिकाधिक अस्वाभाविक कर्मों का आधिक्य होने लगा। जीवन में जितनी अस्वाभाविकता बढ़ती जाती है, जीवनीय शक्ति पर उतना ही विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है।

रेल की यात्रा, बड़े नगरों में रहने के स्थान होटल, धाबे, खोमचे वाले, मील का नौकरी, खान व कारखानों का नौकरी, सेठों की गद्दियें, राजकीय दफ्तर, सीनेमाघर, आधुनिक शिक्षा व उसके उपांग भूत छात्रावासादि। ये सब जीवन को अनियमित बनाने के प्रमुख हेतु हैं।

छोटी आयु के विवाह, भोजन की प्रमुख सामिग्री, दूध, घृत, दही, अन्न, शाक, आदि का का शुद्ध न मिलना, सकीर्ण निवास, स्वास्थ्य रक्षा का अज्ञान, अनियमित भोग वासना की वृद्धि, भोग की प्रवृत्तियों को प्रबल करने वाले साहित्य का विशेष प्रकाशन, अनुपादेय विज्ञापनों की बाहुल्यता, मिथ्या वाजीकरण औषधियों का प्रचार ये वे कारण हैं जिनसे मनुष्य शरीर की स्वाभाविक शक्ति की न्यूनता होती है।

मेरी समझ से हमारे देश में क्षय वृद्धि के ये ही मुख्य कारण हैं। हम जितने ही अधिक स्वाभाविक रहन सहन से दूर हटते जायेंगे, हमारा खान पान व प्रवृत्तियें जैसे २ जीवनीय शक्ति को न्यून करने की ओर अग्रसर होंगी हम उतने ही अधिक

हमने पचास वर्ष में क्या उन्नति की है इसका अनुमान बच्चों के जीवन व हमारी औसत आयु व मृत्यु से किया जासकता है।

हम जब तक पहने जीवन को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमानुसार सचालित नहीं रख करेंगे तब तक हम अपने शरीर को ठीक २ स्थिति में स्वस्थ नहीं रख सकेंगे।

शरीर स्वस्थ ही नहीं रहेगा तो उसमें शक्ति और सबलता कहां से आयेगी। बिना शक्ति के सेनोरोगिम व क्षयाणुओं से हम अपना क्षय से बचाव कर सकें यह शायद अत्यन्त कठिन बात है।

## क्षय के हेतु–

जिन कारणों का ऊपर क्षय वृद्धि व प्रसार के हेतु रूप में उल्लेख किया गया है वे ही क्षय के हेतु कहे जा सकते हैं। किन्तु आयुर्वेद ने इनका वर्गीकरण और रूप से किया है। एक २ हेतु को टटोलने से न मालुम हेतुओं को संख्या कहां तक पहुंचे। हेतु हजारों की संख्या में होते हुए भी शरीर पर जिस तरीके से जैसा प्रभाव डालते हैं उनका उसी रूप में वर्गीकरण करना सगत है। आयुर्वेद ने क्षय के अशेष हेतुओं को भागों में बाट दिया है। वे विभाग इस रूप में हैं। (१) वेगरोध (२) क्षय (३) साहस (४) विषमाशन।

१—वेगरोध से प्रधान प्रयोजन मल मूत्र अपान के वेगों को अनवरत रोकते रहने का है। वैसे वेग शरीर में तृषा, छींक, अश्रु, भूख, प्यास, हर्ष, अवसाद, निद्रा, मैथुन आदि और भी हैं। पर उनका वैसा प्राबल्य नहीं है जैसा कि मल मूत्र अपान वात का है। ये वेग प्रतिदिन प्रति मनुष्य में दिन रात मे कई बार होते हैं। शरीरस्थ वात धातु इन कर्मों का उत्पादक है। वस्ती में मूत्र का इतना भाग एकत्रित हो जावे कि जिसके निकलने की जरूरत है। उण्डक में इसी तरह मल का इतना भाग आजाना व उसका सम्यक्पाक होजाना जिससे कि वह बाहर जाने जैसा होजाय।

अन्न की पकावस्था होचुकने पर वृहत् आंत व मलाशय के सम्बन्धित भागों मे प्रसारित होने वाल उस वायु का जो मलीय भाग में गैस के रूप में उत्पन्न होता है बाहर निकलने का समय ये मल मूत्रादि के स्वाभाविक वेग हैं।

*मलादिकों की यह प्रवृत्ति उन अवयवों तथा* तत्रस्थ वातादि दोषों की साम्यावस्था के कारण होती है। यदि हम इस प्रवृत्ति के होते ही मल-मूत्रादि का त्याग कर दें तो उस अवयव का स्वाभाविक कर्म व तत्रस्थ दोषों की स्वाभाविक क्रिया उचित रूप में बनी रहेगी।

आप पशु पक्षियों के जीवन की ओर ध्यान दें, वे इन कर्मों को बड़ी सतर्कता से सम्पन्न करते हैं। उन्हें अपने इन कर्मों को रोकने की कभी जरूरत नहीं होती।

पर मनुष्य ने अपनी स्थिति बहुत बदल दी है। कुछ ऐसी स्थितियां हैं कि जिनसे मनुष्य इनका अवरोध करता है। जैसे सभा सोसायटियों का काम, सिनेमा, स्कूल, कालेज का समय, रेल की यात्रायें ऐसे काम या ऐसी स्थितियां हैं कि जहां वेगरोध का अवसर आता रहता है।

बहुत से नौकरी पेशेवाले व्यक्ति काम के बोझ के कारण यह देखते रहते हैं कि कब काम समाप्त होता है फिर तसल्ली से हो निबटेंगे। कोई ऐसा

ख्याल कर लेता है कि इतना सा काम और कर फिर मल मूत्र का त्याग करेंगे। वे इस तरह धीरे-धीरे अपनी आदत बदलते रहते है। उन्हें पता नहीं कि इससे उन अवयवों तथा वहां काम करने वाले शारीरिक तत्वों की कितनी गड़बड़ी होगी। बिना नौकरी वाले भी बहुत से व्यक्ति जो अपने घरू काम के स्वामी होते है, काम के लालच के कारण वेगो की उपेक्षा करते रहते हैं। यह ध्यान मे रखने की बात है कि स्वाभाविक वेग प्रवृत्ति मे वेग का दबाव अत्यधिक नहीं होता है। वह तो इशारा मात्र है। स्वस्थ्य के सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति इस प्रकार की वेग प्रवृत्ति को सामान्य शंका समझ उसको रोकने मे कुछ भी विचार नहीं करते है। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि शरीर की शुद्धि रखने वाले वस्ती, मलाशय, मूत्र-प्रणाली के अवयव अपनी कार्य प्रणाली धीरे २ छोड़ते जाते है। इन अवयवों को प्रेरणा देने वाला अपान व समान वायु भी बार २ अपनी गति का अवरोध होने से अनुलोम गति को छोड़ प्रतिलोम गति वाला बन जाता है। जिससे मनुष्य के शरीर मे से समय पर बाहर निकल जाने वाली सामिग्री बाहर न निकल उन स्थानों मे पड़ी रहती है। शरीर में न पहुंचने वाली चीजें इस हेतु से शरीर मे पहुंचती रहती है कि विकृत गैस रसवाही, उदकवाही स्रोतों मे पहुंच नवीन बनने वाले शारीरिक परिमाणुओं को निर्बल करती रहती है। इससे तुरन्त किसी प्रकार का रोग व्यक्ति को मालूम नहीं होता पर उसकी पाचन प्रणाली में, पाचन क्रिया में धीरे धीरे अव्यवस्था बढ़ती रहती है। भोजन मे से जितना सार भाग खिचना चाहिये उतना खिचता नहीं। मल में स्नेह भाग अधिक रहने के कारण आन्तों मे उपलेप होने लगता है। कोष्ठ की ठीक शुद्धि होती नहीं। इससे मानसिक उल्लास और शरीर में जो स्फूर्ति होनी चाहिये वह नहीं होती। ओज का निर्माण कम होजाता है। शरीर के प्रमुख यन्त्रों की क्रिया शक्ति धीरे २ मन्द होने लगती है। व्यक्ति असावधान रहता है। वह इन सामान्य प्रतीत होने वाले परिवर्तनों पर तो विशेष ध्यान देता नहीं है और यदि देता भी है तो चूर्ण चटनी आदि के प्रयोग कर वेगों की अनुपादेय प्रवृत्ति करना आरम्भ करता है। शरीर की यह स्थिति रोगों को उत्पन्न करने में परम सहायक हो जाती है। जिस तरह पर्याप्त खाद व कर्षण से खेत की बीज ग्रहण-शक्ति प्रखर बनाई जाती है उसी तरह वेगरोध का परिणाम शरीर को गन्दगी की खाद दे देकर रोग रूपी बीज ग्रहण करने को उर्वर खेत की तरह बना देता है। इस वेगरोध हेतु मे उन सब सामान्य कारणों का समावेश हो जाता है, जो आज की सभ्यता मे अनेक रूपों मे दिन २ मानव समाज मे स्थान पाते जाते हैं। वेगरोध के अनुबन्ध से विकृत वातादि दोष ऊर्ध्व. अधः तिर्यक् गति से शरीर के विभिन्न भागों मे प्रसरित हो रोग उत्पन्न करते हैं। वेगरोध रूप क्षय का यह प्रथम वर्गीकरण है।

## २—क्षय—

वेगरोध की तरह दूसरा वर्गीकरण क्षय रूप हेतु का है। क्षय से अभिप्राय सामान्यतः शारीरिक तत्वों की कमी से है। शरीर में किन्हीं कारणों से शरीर के आवश्यक अंशों का न्यून होना या धीरे २ न्यून होते जाना 'क्षय' शब्द वाच्य है।

आयुर्वेद ने क्षय को दो रूप में विभाजित किया है। अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय। अनुलोम क्षय उसका नाम है जो रस धातु की न्यूनता व विकृति के कारण उत्पन्न हो। रस की कमी के कारण आगे की धातुयें (जो रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र हैं) उनका पोषण रुक जाता है।

रक्तादि धातुओं का सम्यग् पोषण न होने से मांस पेशियों में शथिल्य, स्नायुओं में शैथिल्य तथा धातुगत उष्मा व स्नेह की कमी होती जाती है।

क्रम से इनकी कमी का जैसे २ आधिक्य होता है वैसे ही यक्ष्मा रोग के समीप पहुंचता जाता है। प्रतिलोम क्षय में शुक्र का अत्यधिक क्षय होने के कारण विवर्द्धित वायु शुक्र के समीपस्थ मज्जादि धातुओं की न्यूनता करती है। शुक्र ओज का निर्मायक है। शुक्र के क्षय से ओज का निर्माण रुक जाता है। ओज के निर्माण की कमी से ओज गत तेज व स्नेह जिसका कि सम्पर्क सम्पूर्ण शारीरिक धातुओं से माना गया है टूट जाता है। इससे रक्तादि धातुओं में ऊष्मा और स्नेह की कमी होने लगती है और अनुलोम क्षय की तरह ही धीरे २ प्रतिलोम क्षय से धातुओं का शोष व शैथिल्य उत्पन्न होता रहता है।

क्षय के अनुलोम प्रतिलोम ये दो भेद किये हैं। वैसे इस क्षय को 'शुक्रौज स्नेह सक्षय' शब्द से भी कहा गया है। इसमें स्पष्ट ही शुक्र, ओज स्नेह की न्यूनता का दिग्दर्शन किया गया है। शरीर का वजन या उपचय इन्हीं के आधीन है। रक्तादि धातुओं में स्नेह का सम्यग् भाग पहुंचने ही से मनुष्य का उपचय व गुरुत्व स्थिर रहता है।

आप ध्यान दें तो ज्ञात हो जायगा कि बाहरी दुनिया में भी अन्नादि फलादि का उचित गुरुत्व है, वह स्नेह के ही आश्रित है। जिन २ द्रव्यों व पदार्थों में स्नेह कम पहुंचता है व अपने परिमाण में उचित होते हुए भी वजन में हलके रह जाते हैं।

कितने लम्बे मनुष्य में कितना वजन होना चाहिये इसका निष्कर्ष यही है कि उतने लम्बे शरीर में रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा आदि धातु अमुक परिमाण में स्नेह सहित रहने चाहिये अन्यथा परिमाण उचित होते हुये भी वजन उतना नहीं होगा।

निःसन्देह आयुर्वेद ने क्षय का सामान्य ही अध्ययन किया हो यह बात नहीं उसने इसके उचित हेतुओं की तह तक पहुंचने की सफल शोध भी की थी यह जोर देकर कहा जा सकता है।

यह उभयात्मक क्षय का जो निर्देश आयुर्वेद ने किया है, इसमें हम उन सब हेतुओं को समाविष्ट कर सकते हैं। जिन २ हेतुओं से शारीरिक धातुओं में कमी होती है फिर भी आयुर्वेद का दृष्टिकोण इस हेतु में यही है कि जिन हेतुओं से प्रधानतया स्नेह (रस, शुक्र व ओज) का विनाश हो, वे हेतु ही क्षयात्मक हेतु माने जाने चाहिये।

शुक्र और ओज तथा स्नेह का क्या सम्बन्ध है इसका विवेचन यहां नहीं किया जाता है पर क्षय हेतु को ठीक समझने के लिये ओज की जानकारी आवश्यक है। ओज का विवरण चरक सूत्र कियन्तःशिरसीय में व सुश्रुत में धातु मल-क्षय वृद्धि विज्ञानीय में अवश्य देखना चाहिये।

आज के स्वस्थ तथा वयस्क व्यक्तियों का आप ओज को आधार मान परीक्षण करें तो आपको

ज्ञात हो जायगा कि ओज के भारतीय मानव वर्ग का कितना अधिक भाग ओज हीन या ओज क्षय से युक्त है।

सुश्रुत का यह निर्देश विशेष ध्यान देने योग्य है—

अभिघातात्क्षयात्कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात्क्षुधः ।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातु ग्रहण निःसृतम ॥
तेजः समीरितं तस्मात, विस्रंसयति देहिनः ।

ये ओज क्षय के प्रमुख हेतु और उसके क्षय होने का क्रम बतलाया है।

ओज क्षय की तीन अवस्थायें मानी गई हैं। उनका १-बल विस्रंसन २-बल व्यापद् ३-बल क्षय नाम से उल्लेख किया है। वैद्य समुदाय यह तो भली प्रकार जानता ही है कि आयुर्वेद में "बल" शब्द विशेषार्थ द्योतक है। और वह विशेष प्रकरण में प्रयुक्त होता है ओज के लिये जैसा कि महर्षि सुश्रुत निर्देश करते हैं।

बल लक्षणं बल क्षय लक्षणं चात ऊर्ध्व मुपदेक्ष्यामः । तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां यत परं ते जस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते । स्व शास्त्र सिद्धान्तात ।

इसी का आगे पुनः समर्थन करते हैं।

सु० सूत्र० अ० १५

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः ॥

वैसे बल का सामान्य अर्थ है शक्त्युत्कर्ष। शरीर के सम्पूर्ण यान्त्रिक अवयवों का समुचित कार्य का नाम 'बल' है। पर यहां बल शब्द का 'ओज' शब्द के लिये विशेषार्थ में प्रयोग किया गया है। वह प्रयोग इसलिये किया गया है कि रसादि धातुओं के तेज को यथावत बनाये रखने में ओज ही परमावश्यक है। सम्पूर्ण धातुओं में उचित तेजांश रहने ही से शरीर के हृदय, मस्तिष्क वृक्क, फुफ्फुस, स्नायु प्रणाली, मांस पेशी, रक्त स्रोत, (धमनी, शिरा, यकृत, प्लीहा, लसीका स्रोत) आमाशय, पक्वाशय मलाशयादि सब यन्त्र अपने अपने काम को यथोचित करते हैं जिससे उपचय तथा बल की उत्पत्ति होती है।

जैसा कि संग्रहकार निर्देश करते हैं—

जीवनीयौषध क्षीर रसाद्या स्तत्र भेषजम् ।
ओजो वृद्धौ हि देहस्य तुष्टि पुष्टि बलोदयः ॥ १ ॥

जिस तरह ओज के लिये 'बल' शब्द का प्रयोग है इसी तरह अन्य तन्त्रकारों ने ओज के लिये तेज, रस, जीवित शोणित, प्रकृत श्लेष्मा शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसा कि इस वाक्य से ध्वनित होता है।

धातूनां तेजसि रसे तथा जीवित शोणिते ।
श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैः रोगः शब्दः प्रकीर्तितः ॥ १॥

'जीवित शोणित' शब्द का प्रयोग ओज के लिये महर्षि आत्रेय ने किया है।

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्त मीषत्स पीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ १॥

चरक में ओज के 'अपर' 'पर' भेद से दो विभाग किये गये हैं। उपरोक्त लक्षण पर ओजका है। (अपर) अंजलि प्रमाण में, (पर) स्वल्प प्रमाण में माना गया है। अपर ओज का सम्बन्ध सम्पूर्ण धातुओं से है। 'पर ओज' का सम्बन्ध हृदय से विशेष है। अपर ओज के क्षीण होने से मनुष्य मरता नहीं। 'पर' ओज के क्षय से मनुष्य की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। जैसा कि उपरोक्त श्लोक के अन्तिम चरण में स्पष्ट निर्देश किया है। प्राकृत श्लेष्मा के लिये 'ओज' शब्द का प्रयोग भी चरक ने

किया है जैसा कि इस श्लोक से व्यक्त होता है।

> प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
> सचैवोजः स्मृतः काये, सू० अ० १७

इस कथन से प्रतीत होता है कि आचार्यों ने स्नेह और तेजो भाग का आधार 'ओज' को माना है। इसी से ( क्षयश्चैव के स्थान पर हृदय में 'शुक्रौजः स्नेह संक्षय' विशेषार्थक क्षय शब्द का प्रयोग किया है।

इसी अनुलोम प्रतिलोम क्षय व शुक्रौज स्नेह क्षय रूप हेतु में चरक निर्दिष्ट अष्टादश क्षया का समावेश भी हो जाता है। जो वातादि तीन दोष रसादि सात धातु मल मूत्र ओज व पांच ज्ञानेन्द्रिय के मल क्षय नाम से कहे गये हैं।
जैसा जतुकर्ण निर्देश करते हैं—

> दोषाणां धातूना मोजो मूत्रशकृदिन्द्रिय मलानाम।
> अष्टादश क्षयास्ते अल्पा स्वगुण क्रिया नाशात॥

स्वगुण क्रिया नाशात पद पर विशेष ध्यान दीजिये। यह वाक्य निर्देश कर रहा है कि दोष, धातु, मल व ज्ञानेन्द्रियों के स्वाभाविक गुण और इनकी क्रिया (व्यापार) की,कमी ही इनका क्षय है।

उपरोक्त क्षय हेतु में समाहित होने वाले ये सब प्रकार के क्षय किन कारणों से होते हैं। इसका भी महर्षि चरक कितने विशद रूप में उपदेश करते हैं।

> व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रमिताशनम्।
> वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
> कफ शोणित शुक्राणां मलानां चाति वर्तनम।
> कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्या क्षय हेतव ॥१॥

इसकी विशद व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, [illegible] धिकांश भाग इसमें

'भूतोपघात' शब्द से भूतोपसर्ग व कीटाणु आदि सम्पूर्ण आगन्तु हेतुओं का समावेश हो जाता है।

भूत शब्द भौतिक उत्पात के लिये है। कीटाणु भी भौतिक उत्पात में सम्मिलित हैं। जैसा कि 'ऋक्' व 'अथर्व' में विविध कीटाणुओं के लिये विविध प्रकार भौतिक नाम विशेषों का व्यवहार किया है। इस तरह आयुर्वेद 'क्षय रोग' का क्षय रूप यह दूसरा हेतु निर्देश करता है।
तीसरा हेतु है साहस—.

साहस से अभिप्राय स्वकीय शारीरिक व मानसिक शक्ति से अधिक श्रम करने से है।

पूर्वकाल में शस्त्र विद्या के अध्ययन तथा उपयोग के कारण शारीरिक साहस का अधिक अवसर आता था। इसीलिये 'युद्धाध्ययन भाराध्व' आदि साहसिक हेतुओं का चरक में उल्लेख किया गया है।

आज के समय में दंगल का अभ्यास हमारे देश से सर्वथा बन्द है उसकी जगह अन्य प्रकार के दुःसाहस के रूप दिखाई पड़ते हैं। जैसे लोभ के कारण मीलों में, कारखानों में, तथा खानों में दिन रात की दो पालियों में काम करना। साधारण दैनिक काम करने के समय में काम कर अतिरिक्त समय में काम करना। रोगी होने के बाद पूर्ण बल प्राप्त किये बिना पुनः श्रम वाले कामों में लग जाना।

शारीरिक शक्ति व मन की शक्ति साथ न देते हुए भी परिस्थितवश विवशता से शारीरिक व मानसिक श्रम करने के आजकल अनेक रूप सामने आते हैं।

नौकरी, मज़दूरी तथा नियत ड्यूटी के सब काम इसी रूप के हैं।

शारीरिक श्रम की तरह मानसिक श्रम के भी ऐसे उदाहरण बहुत से मिलते हैं जिनमें शक्ति से अधिक श्रम किया जाता है।

इसके दो मुख्य क्षेत्र हैं। १-परीक्षा २-क्लार्की। छात्र व आफिसियल कर्मचारी ऐसे बहुत मिल सकते हैं जो मानसिक शक्ति उल्लंघन कर परीक्षा के लोभ व नौकरी की विवशता के वश श्रम करने को बाध्य होते हैं।

शक्ति से बाहर भार उठाना, शक्ति से अधिक चलना, शक्ति से अधिक बोलना ये भी सब अयथा बल आरम्भ है।

न्यून शक्ति वाले शरीर व मनसे अधिक काम करने की जितनी भी स्थितियां हैं वे सब साहस रूप हेतु में सम्मिलित हो जाती है। इस दुःसाहस से उपरोक्त हेतुओं की तरह धीरे २ शरीर की शक्ति न्यून होती जाती है।

आरम्भ में व कुछ दिन तक किसी प्रकार के खास रोग के चिह्न भी नहीं प्रतीत होते पर शरीर व मन क्लिन्न व थके हुए रहते हैं।

श्रम की अधिकता से शरीर का दैनिक निर्माण होता है, उससे खर्च अधिक होता है। व्यय की यह प्रतिदिन की अधिकता शरीर की संचित शक्ति को न्यून से न्यूनतम करती जाती है। इस पर भी मनुष्य सचेष्ट न हो तो फिर आगे जाकर क्षय का शिकार होना ही होता है।

यदि आज के क्षय रोग से मरने वाले व्यक्तियों के हेत्वानुरूप आंकड़े इकट्ठे किए जांय तो हम साहस हेतु से क्षय ग्रस्त होने वाले व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या अनुपात में सामने आ जायगी। आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार यह साहसिक हेतु रूप क्षय तीसरा वर्गीकरण है।

आयुर्वेद का चतुर्थ वर्गीकरण है विषमासन।

विषमासन से अभिप्राय खान-पान की अवस्था से है। आयुर्वेद ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ऋतु भेद से, अवस्था भेद से तथा प्रकृति भेद से योजना सामिग्री का बड़ी उत्तम रीति से विश्लेषण किया गया है।

सात्म्य द्रव्य, ओकसात्म्य द्रव्य, असात्म्य द्रव्यों का विभाजन कर तथा भोजन करने की आवश्यकता का काल, भोजन के पदार्थों का वर्गीकरण, पहिले कैसा भोजन, मध्य में कैसा भोजन, अन्त में कैसा भोजन, किस प्रकृति वाले को क्या? उपादेय क्या? अनुपादेय, भोजन के पात्र, भोजन का निर्माण, भोजन की स्वकीय पाचन शक्ति के अनुसार मात्रा, भोजन के सम्यक्पाचन के सहायी हेतु, भोजन के असम्यक्पाक के कारण किस प्रकार के भोजन पर किस प्रकार का पेय, जल के भेद, जल के शुद्धाशुद्ध का निरूपण, जल के विविध भेदों के निरूपण, मद्य, सुधा, सिंधु, राग, खण्ड, अम्ल, रस, यूष, पय आदि इतर विविध पेयों का विवेचन सब खान-पान में समाविष्ट हैं।

आज भोजन में जिन विविध विटेमनों का विश्लेषण किया गया है व किया जा रहा है वे विटेमन जिन २ द्रव्यों में अधिक मात्रा मे मिलते हैं उन द्रव्यों में से अधिकांश का समावेश आयुर्वेद ने भोजन द्रव्यों में आज से सहस्रों वर्ष पहिले कर दिया था।

आयुर्वेद वैज्ञानिक है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर चाहने वाले आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के महा प्रयास द्वारा प्रसूत विटेमन, द्रव्य संग्रह को चरक व सुश्रुत में निर्दिष्ट आजन्म सात्म्य द्रव्य जीवनीय, बृंहणीय, दीपनीय, बल्य, वय. स्थापनीय द्रव्यों के साथ मिलान कर निश्चय करें कि उनका यह अनुसन्धान (रिसर्च) आयुर्वेद से कितना आगे बढ़ा है।

अन्न-पान के विषय मे अधिक न लिख इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हूं कि चरक के मात्रा शितीय, यज्ञ, पुरुषीय, आत्रयभद्रकाप्यीय, विविधा-शित पीतीय अन्न-पान विध्यध्यायों में जितना विवेचन है उससे अधिक विवेचन अन्यत्र शायद ही हो।

इन अध्यायों में निर्दिष्ट किये हुए नियमों को उल्लंघन कर जो खान-पान किया जाय वह सब 'विषमासन' शब्द वाच्य है।

विरुद्ध भोजन, विदग्ध भोजन, अकाल, अति-काल भोजन, भोजन पर भोजन, अजीर्ण भोजन ये सब विषमासन की विभिन्न अवस्थायें है।

विरुद्ध भोजन में संयोग विरुद्ध, मात्रा विरुद्ध, देश विरुद्ध, काल विरुद्ध, प्रकृति विरुद्ध सब आ-जाते हैं।

विदग्ध भोजन से अभिप्राय उस खान-पान का है जो परिणाम के समय मधुर, अम्ल, कटु पाक में परिणित न होकर विदग्धावस्था को प्राप्त हो जाय। विदग्ध परिपाक रस विकृति का निमित्त है इससे रस विदग्ध होकर रक्तादि धातुओं में अम्लता को उत्पन्न करता है जिससे कि उन धातुओं की विकृति के साथ २ तज्जन्य रोगों की उत्पत्ति होती है।

समय पहिले भोजन करना यह अकाल भोजन है। समय को उल्लंघित कर भोजन करना यह अतिकाल भोजन है। पहिले भोजन का सम्यक् परिणमन न हो उस स्थिति में पुनः भोजन कर लेना अजीर्ण भोजन है। अभी भोजन किया है उसकी संमिश्रण या पच्यमान अवस्था हो उसी में पुनः भोजन करना यह भोजन पर भोजन है। खान पान की सब अवस्थाओं का परिणाम पचन प्रणाली के काम को अनवस्थित करना है। अतः खान पान की सब लें विषमासन में सम्मिलित करदी गई हैं।

भोजन विधि के चरक ने विमान के प्रथम अध्याय में आठ आयतन बतलाये हैं उनकी निम्न संज्ञायें हैं।

१-प्रकृति ( पदार्थ का स्वाभाविक गुण धर्म )

२-करण ( स्वाभाविक गुण धर्म संपद सम्पन्न द्रव्यों का संस्कार )

३-संयोग ( दो या बहुत से सजातीय, विजातीय, समगुण, विपरीत गुण धर्म वाले द्रव्यों का एकीकरण )

४-राशि-( आहार में जितने विभिन्न द्रव्य हैं उन सब का मिलाकर प्रमाण। विभिन्न घृत, दुग्ध अन्न, दाल, शाक, शर्करा, फल आदि प्रत्येक पदार्थ का भिन्न २ प्रमाण )

५-देश ( जो २ पदार्थ जिन २ प्रदेशों में होते हैं या जहां २ उनका उपयोग हो उन दोनों ( उत्पत्ति या प्रयोग स्थानों को ) 'देश' शब्द से व्यक्त किया गया है।

६-काल (नित्यग, ऋतु अनुसार) अवस्थिक बाल्यादि अवस्था विशेष, रोग में पूर्व रूप, रूप, उपद्रव रूप, साध्य, कष्ट साध्य, असाध्य रूप।

७-उपयोग संस्था ( आहारोपयोगी नियमों का निर्देश ) क्या खाना, कैसे खाना, कब खाना, कब नहीं खाना, क्या नहीं खाना, कैसे नहीं खाना, इस सबकी अवस्था या भोजन विधिको उपयोग संस्था शब्द से व्यक्त किया है।

८-उपयोक्ता ( भोजन करने वाला )

इन आठों आयतनों के समुचित समन्वय से भोजन का उचित व्यवस्था मानी गई है। इन आयतनों की अव्यवस्था वही विषमासन है। संक्षेप में ऊपर निर्दिष्ट भोजन की सब विषमताओं का इन आयतनों की अव्यवस्थाओं में समावेश हो जाता है।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति देश की वर्तमान खाद्य प्रणाली को ओर ध्यान से दृष्टिपात करे। उन्हें तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि आज का हमारा भोजन वास्तविक भोजन है या विषम भोजन।

देश के मानव वर्ग को सामान्यतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है। वे विभाग इस रूप में होंगे।

१-सम्पन्न २-साधारण ३-गरीब

सम्पन्न वर्ग जरूरत से अधिक पदार्थों की प्राप्ति के कारण विषमासन करता है। साधारण और गरीब अपनी परिस्थति के कारण भोजन की समुचित व्यवस्था न कर पाने के कारण विषमासन के चक्कर में पड़ता है।

कुछ मन चले बाबू पाश्चात्य प्रणाली के अन्धानुकरण से विषमासन के जाल में उलझते हैं।

इस तरह देश का अधिकांश मानव समुदाय अज्ञान तथा दरिद्रता के कारण भोजन की समुचित व्यवस्था से वञ्चित हो विषमासन द्वारा क्षय को निमन्त्रण देता है।

आयुर्वेद शास्त्र ऊपर लिखे चतुर्विध हेतुओं से ही क्षय की उत्पत्ति मानता है और उसका यह मानना सर्वथा ठीक है।

( क्रमशः )

# क्षय

लेखक—कविराज जसवन्त राय सैहगल, आयुर्वेदाचार्य, वकीला बाजार, होशियारपुर।

प्रत्यक्षतोहि यद्दृष्टं शास्त्र दृष्टं च यद्भवेत् ।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञान विवर्धनम् ॥
सु० शा० ५

क्षय एक तीव्र संक्रामक रोग एवं मनुष्य जाति का प्रबल शत्रु है, जो कि इस संसार के सभी देशों मे न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है । अनुमान है कि समस्त विश्व में होने वाली मृत्युओं के दसवें भाग का कारण यही संहारक रोग होता है । यह प्रत्येक आयु व जाति के नर नारियों मे बिना किसी भेद भाव के समान रूप में आक्रमण करता है (No sex & age is spared of the disease) विशेषतः ऐसे महानुभावों में जो कि विषय भोग एव अपथ्य सेवन मे सर्वदा प्रवृत्त रहते है। यह धारणा बहुत समय से व्याप्त है कि यह रोग बहुधा युवा व्यक्तियों का २५ ४० वर्ष की मध्यम आयु मे अधिक होता है। किन्तु अब यह धारणा निर्मूल व असत्य सिद्ध हो रही है । युवकों मे इसकी प्रवृत्ति 'ब्रह्मचर्य भ्रश' अथात वीर्य रूपी जीवन सत्व को निरर्थक नष्ट करने के कारण रूप है।

इस प्रलयकारी रोग मे होने वाली मृत्यु संख्या शेष सभी कारणों से होने वाली मृत्युओं से अत्याधिक है । एवं प्रायः सभी रोग कुछ काल तक कष्ट देकर शान्त हो जाते हैं अथवा रोगी को संसार से विदा कर देते हैं। किन्तु इस काल मुख रोग का आक्रमण हो जाने पर रोगी अपने आपको कदापि सुरक्षित नहीं समझता किन्तु समय की प्रतीक्षा करता हुआ मासों और वर्षों पर्यन्त सूखता जाता है। और अन्ततः चर्म वेष्टित अस्थि कङ्काल के रूप मे आकर जीवन लीला समाप्त कर देता है । वस्तुतः रोगी की अवस्था उस आम्र फल की भाँति हो जाती है जिसका स्वरस तो चूस लिया जाये एवं केवल अस्थि रूपी गुठली तथा त्वचा रूपी छिल्का छोड़ दिया जाये। इस रोग में एक और विचित्रता है कि रोगी का अन्त समय तक सर्वथा निराश नहीं होने देता। क्योंकि वह इस संसार मे विसर्गादानविक्षेपादि आवश्यक क्रियायें करता हुआ मृगतृष्णा रूपी निज स्वास्थ्य लाभ करने की शोचनीय अवस्था में घर वालों को त्याग कर, सर्वदा के लिये इस असार संसार से विसर्जित हो जाता है।

## इतिहासिक वर्णन—

क्षय रोग वर्तमान युग से सहस्रों वर्ष पूर्व भी इस विश्व में विद्यमान था। किन्तु इस रूप में नहीं जिसमें हम आज देख रहे हैं। भारतवर्ष के प्राचीनतम चिकित्सा ग्रन्थ "आत्रेय संहिता" मे इस रोग का पूर्ण रूपेण वर्णन मिलना और इस रोग की प्राचीनता को सिद्ध करता है। इसी प्रकार सुश्रुत संहिता आदि अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी इसका उत्तम रीति से वर्णन दृष्टिगत होता है । इसका वर्णन अन्य पुरातन चिकित्सकों ने भी लिखा है। यथा हकीम बकरात (काल ४०० वर्ष ई० पू०) ने इसकी विस्तार पूर्वक चिकित्सा लिखी है । हकीम अरिस्तातिस (काल-३५० वर्ष ई० पू०) ने इस रोग की चिकि-

त्मा में सामुद्रिक भ्रमण एवं वायु सेवन का निर्देश किया है। हकीम सल्सूस ने प्रथम शताब्दी में इस रोग की चिकित्सा वायु परिवर्तन एवं दुग्धाहार से ही करने का आदेश किया है।

उपरोक्त इतिहासिक घटनाओं से यह रोग अत्यन्त प्राचीन सिद्ध हो रहा है। किन्तु पश्चिम बहुत समय तक इसके प्रति मौन रहा। अन्ततः १८ वीं शताब्दी मे विविध पश्चिमीय राज्यों ने इस रोग के प्रति विविध नियम प्रचलित किये। जिनके परिणाम स्वरूप सभी चिकित्सकों को क्षय रोगियों की सूचना राज्य तक पहुंचानी पड़ती थी। यह नियम सर्व प्रथम १७५४ में इटली ने पास किया। तदनन्तर १७८२ में नेपल्ज के बादशाह फरडीनण्ड ने, १८०० में स्पेन के बादशाह फिलिप पञ्चम ने, १८०९ में नेपालियन ने, १८३४ मे डा० पेरिस ने, १८६० मे डा० स्गटोजी ने, १८६३ मे डा० रेञ्जी ने, विविध नियम पास किये। किन्तु इस बात का निर्णय कि यह रोग संक्रामक है अथवा असंक्रामक अभी शेष था। अपितु सन् १८३३ में ब्रिटिश मैडीकल असोसियेशन, लण्डन ने इस रोग के बारे मे एक प्रश्नावली निर्माण करके असोसियेशन के सभी सदस्यों को भेजी। जिनमे से ७५८ सदस्यों ने इस रोग को असंक्रामक एवं २६१ ने संक्रामक सिद्ध किया। कई सदस्य किसी भी परिणाम पर न पहुंच सके। तदनन्तर चिरकाल तक ऐसी ही कशमकश चलती रही। अन्ततः सं० १८८२ में एक जर्मन डा० काख ने इस रोग को संक्रामक सिद्ध करके इसका कारण एक विशिष्ट अदृश्य दण्डाकार कीटाणु ट्यूबरकुलर बैसिलस ( Tubercular Bacillus ) बताया। यह मत सर्व मान्य हुआ और तभी से पाश्चात्य चिकित्सक इसकी यथार्थ भयंकरता को जानकर इसकी चिकित्सा मे प्रवृत्त हुये। किन्तु हमारे भारतीय चिकित्सक इसकी संक्रामकता का प्रारम्भ से ही गुण गान कर रहे हैं। यथा—

"प्रसंगाद्गात्र संस्पर्शान्निश्वासात् सह भोजनात्।
सहशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥" सु०

## क्षय रोग पर विहङ्गम दृष्टि–

यह पहिले बताया गया है कि यह रोग विश्व के समस्त देशों मे न्यूनाधिक मात्रा मे मिलता है। जो बहुधा बालकों मे बड़ों का एवं स्त्रियों मे पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु इससे होने वाली मृत्यु संख्या बड़ों की अधिक होती है। ऐसे व्यक्ति जो सर्वदा सीमित वातावरण में रहते है। शुद्ध वायु का सेवन नहीं करते अथवा गन्दे व विषम भोजन का प्रयोग करते है, प्रायः क्षय ग्रस्त हो जाते हैं। यह सत्य है कि पुरुषों की एक बड़ी भारी संख्या १६ वर्ष की आयु से पूर्व ही क्षयाक्रान्त हो जाती है। किन्तु मृत्यु की अवस्था बहुत देर के बाद आती है। इसका कारण यह है कि बच्चों मे उनकी वर्धं शक्ति इन जीवाणुओं को अपने कार्य क्षेत्र में उत्तीर्ण नहीं होने देती। उस समय ये जीवाणु शरीर के किसी भाग में इस तरह डर कर छिपे रहते हैं जिस प्रकार कि बिल्ली से चूहे। जब बालक किञ्चित दुर्बल हो जाये अथवा युवावस्था में वीर्य व्यय के कारण जब शरीर में किञ्चिन्मात्र दुर्बलता प्रादुर्भूत हो जाये, तो शीघ्र ही ये जीवाणु आक्रमण करके अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। और फुफ्फुसों मे श्वास प्रणालियों के

समीप किसी स्थान पर अपना क्षेत्र स्थित करके अपने समीपस्थ अङ्गों से अपना भोजन लेते रहते है, और बढने लगते है। रक्तस्थ श्वेतकण व श्लेष्मा इत्यादि संयुक्त होकर छोटी २ गांठें उत्पन्न कर देते हैं। यही ट्युबरकल (Tubercle) कहलाती हैं। इसीलिये इस रोग को Tuberculosis कहते हैं।

यह रोग अत्यन्त कष्ट साध्य है। जिस समय मनुष्य का स्वस्थ किञ्चिन्मात्र ठीक होने लगे तो ये जीवाणु अपना कार्य बन्द कर देते हैं। पुनः ज्यों ही दुर्बलता आजाये। तुरन्त इनका पुनराक्रमण हो जाता है। और नवीन क्षेत्रों में कार्यारम्भ हो जाता है। इस प्रकार समस्त शरीर में क्षयगण्डों (Tubercles) की उत्पत्ति हो जाती है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि ये क्षयकीट व मल शरीर के किसी भी भाग में पहुंच कर उस भाग की यक्ष्मा आरम्भ कर देते हैं यथा फुफ्फुसीय, शिराओं की, आन्त्र की, अस्थि की, धमनियों की, सुषुम्ना की यक्ष्मा इत्यादि २।

## वर्तमान सभ्यता—

जिस समय से भारत वासियों ने अपने ग्रामीण जीवन का परित्याग किया है। तभी से यह रोग अधिक मात्रा मे दृष्टिगोचर होने लगा हैं। पूर्वकाल में *स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम ही इतने कठिन* थे कि किसी भी रोग की संम्भावना कठिनता से होती थी। इसके अतिरिक्त वे लोग उद्यमी खुले वातावरण में सूर्य के नीचे रहना पसन्द करते थे। किन्तु आजकल का नागरिक वास एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का उलंघन ही इसका एक मात्र कारण है। यह सर्व विदित है कि लाहौर व अन्य बड़े २ नगरों में कई ऐसी गलियां हैं जहां पर एक मिनट के लिये भी सूर्य रश्मि नहीं आती ऐसी अवस्था में वहां पर रहने वालों का क्या हाल होगा। .. पुरुष तो किसी न किसी कार्य वश बाहर फिर ही आते हैं। किन्तु स्त्रियों को जब ऐसे वातवरण में २४ घण्टे बन्द रहना पड़े तो क्षय का आक्रमण क्यों न होवे।

इस समय यह रोग भारत में अत्यन्त अधिकता से बढ रहा है। जिसके कारणों में नगरों में अधिक मनुष्यों का वास विद्यालयों के कमरों में आवश्यकता से अधिक छात्रों का होना, सिनेमा व ट्रान्सपोर्ट (Transport) में सहूलियत मुख्य हैं। सभ्य समाज के प्रसाद रूपी शृङ्गारिक विद्याध्ययन, उपन्यास, सिनेमा, थियेटरादि एवं सह शिक्षा के स्तम्भों पर स्थापित कालेजों में छात्रछात्राओं का इकट्ठा विद्याध्ययन परस्पर वार्तालाप, चमक भड़क वाली वेश भूषा तथा अन्य विविध आक्षेप जनक परिस्थितियां व्यवाय शोष (शुक्रक्षय) के लिये उपर्युक्त क्षेत्र तैयार करती हैं। अपितु इसका उत्तरदायित्व हमारे भाई बहिनों पर ही है। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त दरिद्रता, अप्राकृतिक पदार्थों यथा वनस्पति घी, मशीनी चावल, Skimmed Milk (मशीनी दूध) इत्यादि का सेवन, पर्युषित व उच्छिष्ट सेवन इत्यादि कारण भी क्षय रोग के सहगामी हैं।

ग्रामीण जीवन और क्षय—इसका सम्यक उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्राचीन कालस्थ लोगों का ग्रामवास उनमें इस रोग की प्रवृत्ति नहीं होने देता था। वर्तमान काल में भी यदि हम विहङ्गम दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होजाता है कि *ग्रामीण लोग कितनी परिश्रम से अपना निर्वाह*

करते हैं। कूओं से जल भरना, चक्की पीसना कपड़े धोना इत्यादि। ग्रामीण स्त्रियों के लिये ऐसे कार्य हैं जिनसे उनको पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। किन्तु नगर वासिनी स्त्रियों के लिये वातावरण सर्वथा ही भिन्न है। जो कि उक्त कार्यों में अपना अनादर समझती हुई इनसे दूर रहती है। मात्र इतना ही नहीं कई स्त्रियां तो किसी भी कार्य को करने में अपना अनादर मानती हैं। ऐसी ही पुरुषों की प्रवृत्ति है। ग्रामीण पुरुष तो सारा दिन खेतों में हल चलाता है। और सायंकाल में पट्टे, घास इत्यादि की गठड़ी स्वयं ही सिर पर उठाकर घर ले जाता है। जिससे उसे भी पर्याप्त व्यायाम हो जाती है। किन्तु वर्तमान काल के नवयुवकों की प्रकृति अत्यन्त मृदु, स्वभाव कोमल होने के कारण वे कुछ भी परिश्रम का कार्य नहीं कर सकते एवं उनका कार्य क्षेत्र मात्र सर्विस तक ही सीमित है। परिणामतः सारा दिन कार्यालयों में कुर्सी पर बैठे रहना और कोई अन्य व्यायाम आदि का न करना भी इस रोग के लिये क्षेत्र बनाता है। प्राचीन सभ्यता में प्रचलित "भार वाहन" व्यवस्था के बारे में एक अंग्रेज डाक्टर ग्लैड्स्टोन लिखते हैं कि—"There is a great advantage of carrying burdens over head to prevent consumption." अर्थात् क्षय रोग को रोकने के लिये शिर पर भार उठाना लाभप्रद है।

मात्र इतना ही नहीं ग्रामों के लोग अपने घरों पर गाय, भैंस इत्यादि दुग्ध देने वाले पशुओं को रख कर सर्वदा घृत, दुग्ध, लस्सी इत्यादि प्राप्त कर सकते हैं किन्तु नगर वासियों के भाग्य में ये वस्तुयें कहां? तथा च-ग्रामों में कोई भी शीघ्रगामिनी गाड़ी नहीं होती। यदि कहीं उन्हें जाना हो तो या तो पैदल जायें अथवा बैलगाड़ी में। इससे भी उन्हें पर्याप्त खुला वायु मिल जाता है। किन्तु नगरों की व्यवस्था सर्वथा भिन्न है। छोटी और शीघ्र गामिनी गाड़ियां आवश्यकता से अधिक यात्रियों को लेकर धूल उड़ाती हुई इधर से उधर जाती है। यह उड़ने वाली धूल श्वास प्रश्वास द्वारा फुप्फुसों में जाकर उनकी शक्ति का दुरुपयोग करके क्षय के लिये उचित क्षेत्र बनाती है।

पर्दा और क्षय—उक्त सभी कारणों से स्पष्ट है कि बन्द मकानों में रहना भी क्षय रोग के लिये उपयुक्त क्षेत्र है। तो फिर मुस्लिम स्त्रियां जिनमें पर्दा की व्यवस्था अत्यन्त कठोर है, इस रोग से कैसे सुरक्षित रह रही है? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि इन स्त्रियों को यदि किसी वस्तु ने सुरक्षित रखा हैं तो वह है "रसोन–लशुन" जिसका प्रयोग ये अत्यधिक करती हैं और इसमें क्षय रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने की प्रबल शक्ति है।

सन्तानोत्पादन और क्षय—वर्तमान सभ्य युग के नर नारी सन्तानोत्पादन के महत्व को बहुत कम जानते हैं। एवं स्त्री पुरुष का परस्पर समागम मात्र काम वासना की पूर्ती के लिये होता है न कि आदर्श सन्तानोत्पादन के निमित्त। इस प्रकार विषयान्ध दम्पति भी क्षय रोग को निमन्त्रित करते हैं।

एवं भारत की दरिद्रता भी क्षय रोग को निमन्त्रण देती है। कारण स्पष्ट ही है कि सन्तानोत्पादन के अनन्तर जब माता की शारीरिक व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय होती है। उस समय पर्याप्त

मात्रा में दुग्ध घृतादि का मिलना भी इस रोग की प्रवृत्ति में सहायता देता है।

मानसिक विचार और क्षय—क्षय रोग की प्रवृत्ति में मानसिक विचारों की दुर्बलता भी पर्याप्त सहायक होती है। इसका अधिक उत्तरदायित्व वर्तमान कालीन ( अनुभवी ) चिकित्सकों पर है। जो कि समाचार पत्रों में विभिन्न प्रकार के विज्ञापन देकर अपक्व हृदयी नवयुवकों में इसका प्रचार करते हैं कि वीर्य व्यय "क्षयरोग" का मुख्य साधन है। अर्थात् जीवन सत्व रूपी वीर्य के एक बार भी निकल जाने पर ऐसी भीषण हानियां होती हैं, जिनका प्रतिकार समस्त आयु भर में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में एक दो बार हस्त मैथुन इत्यादि अप्राकृतिक नियमों से वीर्य स्राव हो जाने पर युवक अपने आपको क्षय क्रान्त हो समझने लगता है। एवं सारा दिन इसी धुन में मग्न रहता है कि पता नहीं कि अब क्या बनेगा। उसे किसी कार्य में रुचि नहीं होती। न काम करने को जी चाहता है और न भोजनादि करने को। इसी उधेड़ बुन में ऐसे व्यक्ति का जीवन सीमित रहता है। एवं अन्ततः ऐसे व्यक्ति की क्षय से ही मृत्यु होती है।

तथाच वर्तमान कालीन चिकित्सकों में यह प्रवृत्ति हो गई है कि जिस रोगी को जीर्ण ज्वर हो अथवा अन्य कोई जीर्ण रोग हो उसे बिना किसी अन्य लक्षणों से परीक्षा किये झट से क्षय (T. B.) कह देते हैं। इसमें रोगी पर जो प्रभाव पड़ता है वह लिखित रूप में कदापि नहीं आ सकता। वह घबराया हुआ तो पहिले ही होता है और चिकित्सक के मुख से क्षय का नाम सुनते ही अपनी मृत्यु को समीप आई हुई जानकर उसकी प्रतिक्षण प्रतीक्षा करने लगता है। उसे किसी भी प्रकार से शान्ति प्राप्त नहीं होती। इन विचारों का अन्तिम परिणाम घातक ही होता है।

हस्तकला एवं क्षय—कई ऐसे कार्य होते हैं जो कि क्षय के निमित्त मनुष्यों में क्षेत्र बनाते रहते हैं। यथा छवि सम्बन्धी कार्य अन्धेरे में करना प्रेसों (Printing Press) में कम्पोजिंग (Composing) का कार्य करना नागादि धातुओं के कार्यालयों में कार्य करना, कोयलों व धूल उड़ने वाली जगहों में कार्य करना, पेन्ट्री इत्यादि।

जीर्ण रोग एवं क्षय—मनुष्यों में होने वाले सभी रोगों की अवहेलना करने से वे क्षयका रूप धारण कर लेते हैं।

शीत प्रधान देश एवं क्षय-विश्व के ऐसे प्रदेशों में जहां अत्यन्त शीत के कारण लोग घर से बाहर न निकलने के कारण शुद्ध वायु से वञ्चित रहते हैं, क्षय भी अधिक मात्रा में मिलता है यही कारण है कि पर्वतों पर भी क्षयाक्रान्त रोगी बहुत मिलते हैं।

## पर्याय नामकरण हेतुश्च-

क्षय रोग को भिन्न २ भाषाओं में विभिन्न शब्दों से व्यवहृत करते हैं। ये पर्यायवाची शब्द किसी गूढ अर्थ के द्योतक एवं सार्थक हैं। यथा—
(१) क्षय (२) राजयक्ष्मा (३) राजरोग (४) यक्ष्मा (५) शोष (६) सूखा (७) दिक (८) तपेदिक (९) सिल (१०) Tuberculosis (११) Consumption (१२) Hectic Fever (१३) Phthysis इत्यादि।

ये सभी शब्द किन २ भावों से हैं ? एवं इनका ('क्षय' रोगका) पर्यायवाची होना कहां तक ठीक है?

इनका भावार्थ क्या है ? इसका दिग्दर्शन कराना भी मेरे विचार में अनुचित न होगा।

( १ ) क्षय—

यह शब्द संस्कृत कोष का है। 'क्षीयते अनेनेति क्षयः' अर्थात् जो रोग क्षीण करदे उसे क्षय कहते हैं। पुनश्चेति 'क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः' अर्थात् जिस रोग में सभी क्रियाओं का ह्रास हो जाये उसे क्षय कहते हैं। भावार्थ यह हुआ कि मानव शरीर में विना किसी प्रत्यक्ष तीव्र रोग का आक्रमण हुए उपयुक्त भोजनादि करने पर भी शरीर का दिन प्रतिदिन क्षय होता जाये तो वह 'क्षय' कहलाता है।

( २ ) राजयक्ष्मा—

यह भी संस्कृत साहित्य का शब्द है। यदि इसे अलङ्कार रूप से लें तो राज्ञः + यक्ष्मा अर्थात् राजा का नाश-यह अर्थ निकलता है। किन्तु इस शब्द का प्रयोग आयुर्वेद शास्त्र में होने के कारण इस प्रकार से होगा। शरीर रूपी नगर में वीर्य रूपी राजा का शासन होने के कारण इसी को शरीरका राजा स्वीकार किया हुआ है। इसका नाश होने से उत्पन्न रोग 'राज यक्ष्मा' कहलाता है। पुनश्चेति 'राजश्चन्द्रमसोयस्माद भूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति के चिदाहुर्मनीषिणः॥' अर्थात् (ऐतिहासिक दृष्टि से) यह रोग सर्व प्रथम चन्द्रमस नामक राजा को बहु मैथुन के फल रूप में हुआ था। इसीलिये कई आचार्य इसे राजयक्ष्मा कहतेहैं। पुनश्च क्योंकि यह रोग अत्यन्त धन व्यय करने पर भी शीघ्र साध्य नहीं होता इसलिये भी इसे राजा (धनाढ्य) का रोग कहते हैं। पुनश्च वाग्भट मतानुसारेण "यक्ष्माणां राजा राजयक्ष्मा" सिद्धांतानुसार इसका अर्थ रोगों का राजा यह होता है। क्योंकि यह रोग शेष सभी रोगों से भयङ्कर है। इसीलिये इसे राजयक्ष्मा कहते हैं।

( ३ ) राजरोग—

मातृभाषा हिन्दी का शब्द है। इसका अर्थ राजा का रोग अर्थात् धनाढ्यों का रोग है। इसका विपरीतार्थ 'रोगराज' अर्थात् रोगों का राजा है।

( ४ ) यक्ष्मा—

यह संस्कृत साहित्य का शब्द है। भावार्थ नाश होता है किन्तु आयुर्वेद शास्त्र में इसका उल्लेख होने से इसका भाव रोग से है। किन्तु आजकल क्षय रोग के सर्व प्रचलित होने के कारण उसे मात्र 'यक्ष्मा' शब्द से भी स्मरण करते हैं।

( ५ ) शोष—

इससे 'सूख जाना' अभिप्रेत है। एवं क्षय रोग में मनुष्य के सूख जाने से 'शोष' को स्थानान्तर में प्रयुक्त करते हैं। पुनश्चेति "संशोषणाद्रसादीणां शोष इत्यभिदीयते" इस शास्त्रीय वचनानुसार भी शोष शब्द का क्षय के लिये प्रयोग करना उचित ही है। क्योंकि क्षय रोग में रस, रक्तादि सभी धातुओं का शोष हो जाता है।

( ६ ) सूखा—

यह साधारण हिन्दी भाषा का शब्द है जिस का अर्थ स्पष्ट ही किया है।

( ७ ) दिक—

यह शब्द अरबी कोष का है। इसे 'बारीक' के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है, फलतः शब्द दिक से भी सूखापन अथवा दुबलापन का तात्पर्य निकलता है। उदाहरणार्थ दिक-उल-सोखता अर्थात्

जरा शोप, दिक-ड्ल अरकाल अर्थात् बाल शोप इत्यादि।

( ८ ) तपेदिक—

अरबी भाषा का यह शब्द ज्वर युक्त शोष रोग का सूचक है और ज्वर क्षय रोग का एक असाधारण लक्षण है।

( ९ ) सिल—

यह शब्द वस्तुत उर क्षत का सहगामी है। किन्तु आजकल इसे क्षय रोग के लिये भी प्रयुक्त करते हैं।

( १० ) ट्यूबरक्लोसिस—

यह आंग्ल भाषा (अंग्रेजी) का शब्द है। जिस का अभिप्राय एक ऐसे रोग से है जिसमें ग्रन्थियां ( Tubarcles ) उत्पन्न हो जावें। क्योंकि इस रोग में फुफ्फुस स्थानान्तरों में गलने के कारण Tubercles बन जाते हैं। अत इस रोग को Tuberculosis कहते हैं।

( ११ ) कन्जम्पशन—

इस शब्द का अर्थ है 'Wasting away' अर्थात् व्यय हो जाना अथवा किसी वस्तु का शनै २ समाप्त हो जाना। भाव रोगी के दिन प्रतिदिन क्षीण होते जाने से है।

( १२-१३ ) हैक्टिक फीवर एण्ड थाईसिस—

ये दोनों शब्द भी अंग्रेजी के हैं। जिन का अर्थ क्रमश 'ग्रन्थि युक्त ज्वर' एवं 'ग्रन्थि युक्त फुफ्फुस रोग' से है। भावार्थ शब्द ट्यूबरक्लोसिस ( Tuterculosis ) बना ही है।

अत यह सिद्ध हुआ कि उपरोक्त वर्णित क्षय के पर्याय यथार्थ ही हैं।

## तस्य निदानम्—

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने क्षय रोग का कारण एक विशिष्ट दण्डाकार कीटाणु Bacillus Tuberculosis सिद्ध किया है जो कि अत्यन्त सूक्ष्म ३०।३ इञ्च लम्बे, दीर्घजीवी व महाप्राण होते हैं। क्योंकि यह साधारण कमिघ्न विलयनों से बहुत देर में भी नहीं मरता आमाशयिक रस भी इसको नष्ट करने में सर्वथा असमर्थ होता है। ये कीटाणु आर्द्र थूक में १½ मास तक एवं शुष्क में ६ मास तक जीवित रह सकते हैं। एवं बरफ व शीतल जल का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु तीव्र सूर्य प्रकाश तथा शुद्ध वायु (तीव्र नहीं) इनके निमित्त आशुघाती हैं। हमारे भारतवर्ष का ज्येष्ठ व असाढ मास का तीव्र धूप इन कीटाणुओं को मात्र आध घण्टे में नाश कर देती है। ये कीटाणु ४ प्रकार के होते हैं।

( क ) मनुष्यों का ( Human Type )—यह मनुष्यों में पाया जाता है और फुफ्फुसों में रोग उत्पन्न करता है।

( ख ) पशुओं का ( Bovine Type )—यह भैंस घोड़ों इत्यादि में पाया जाता है तथा उनकी त्वचा, अस्थि व लसीका ग्रन्थियों में रोगोत्पन्न करने में समर्थ होता है।

( ग ) पक्षियों का (Avian Type)—यह पक्षियों में होता है।

( घ ) जल जन्तुओं का ( Pisone Type )—यह मछलियों में होता है।

अन्तिम दोनों प्रकार के कीटाणु मनुष्य जाति में रोग प्रसार का कारण नहीं होते किन्तु Bovine

Typo द्वारा मनुष्यों रोग में उत्पन्न होना सम्भव है। विशेषतः क्षय पीड़ित गाय का दुग्ध पान करने से आन्त्र क्षय होने की सम्भावना बनी रहती है। ये कीटाणु क्षय के समस्त गाण्टों में उसकी पूय व अन्य स्रावों में प्रायः अत्यधिक मात्रा में देखे जाते है।

## आयुर्वेद शास्त्र व कीटाणवाद—

आयुर्वेद विद्या के बहुधा ग्रन्थ समय २ पर भारत पर विदेशियों के आक्रमणों के कारण लुप्त प्रायः हो गये हैं, जिसके परिणाम स्वरूप हम यक्ष्मा के कीटाणुओं का पूर्ण रूपेण परिचय नहीं दे सकते किन्तु अथर्व वेद आज भी इस यक्ष्मा रोग का निर्देश मनुष्य व गाय आदिक पशुओं में कर रहा है। यथा—

'योगेषु यक्ष्मा पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकम धराट परेहि'

पुनश्च समस्त वायु मण्डल में यक्ष्म जीवाणुओं की व्यापकता का आदेश निम्न लिखित अथर्व वेद के मन्त्र से होता है। उक्तं च—

'पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पुरुषम्'

अथर्व॰ का० ७ अ० ७ सू० ८

पुनश्चेति—'स० भा० जायान्यः क्षय रोगः पक्षी पक्षवान् पतत्री भूत्वापतति सर्वत्र चरति। स रोगः पुरुषं पुरुषं आविशति सर्वतः प्रविशति। पुरुषस्य कृत्स्नं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः।

इन उपरोक्त वचनों से यह सम्यकतया स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आचार्य इन क्षय जीवाणुओं एवं रोग की संक्रामकता से अपरिचित न थे, जिसको पश्चिम ने १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सिद्ध किया है।

महाराज 'अग्निवर्ण' जी का शव संस्कार भी इस बात का एक दृढ़ इतिहासिक प्रमाण है—

संगृहीपवन एवं मंगला पश्चिमक्रतु विदापुरोधसा,
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनिगूढमादधुः'

रघुवंश काव्यः।

## निर्णय—

पाश्चात्य विद्वानों ने क्षय रोग का प्रधानतम् कारण कीटाणुओं को ही माना है किन्तु आयुर्वेद शास्त्र इसके अन्य दो प्रकार के कारणों का भी आदेश करता है।

( क ) विप्रकृष्ट ( ख ) सन्निकृष्ट

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात॥ मा० नि०

अर्थात् मल मूत्रादि वेगों को रोकने से, अति मैथुन जन्य धातु क्षय से, शक्ति से अधिक साहस करने से तथा विषम भोजन करने से त्रिदोषज क्षय रोग की उत्पत्ति होती है। अब इनका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन क्रमशः दिया जाता है। यथा—

( १ ) वेगाः—

वेग तेरह प्रकार के हैं तथा इनके रोकने से उदावर्त रोग की उत्पत्ति होती है। यथाहि—

वातविण्मूत्र जृम्भाश्रु क्षवोद्गार वमीन्द्रियैः।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वास निद्राणां धृत्योदावर्त संभवः॥

मा० नि०

किन्तु यहां पर क्षय रोग की उत्पत्ति में मात्र, मल, मूत्र तथा अधोवायु के वेगों को रोकने से अभिप्राय है। पुनः महर्षि आत्रेय ने स्पष्ट भी कर दिया है। यथा—

ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥

च० चि० ८—१९

महर्षि भारद्वाज ने इन तीनों वेगों को लक्ष्य किया है। यथा—

'वातमूत्रपुरीषाणां ह्रीभयादैः यदानरावेग निरोधयेतेन राजयक्ष्मादि सम्भव'' अत आयुर्वेदज्ञ विद्वानों ने "न वेगान् धारयेद् वीमान्जातान्मूत्रपुरीषयो . . इत्यादि लिखकर' नियम बद्ध रहने का आदेश दिया है।

( २ ) क्षय—

अत्यन्त स्त्री सम्भोग, अप्राकृतिक मैथुन, अत्यु पवास अत्यीर्ष्यादि जो धातुओं के क्षय के कारण हैं वे सभी क्षय के अन्तर्गत आते हैं। यथा—

'वेनाति व्यवायानशनेर्ईर्ष्याविषादादयो मधु॰

यथा—

हर्षोत्कण्ठाभय त्रास क्रोधशोकातिकर्षणात ।
व्यवायाशनाभ्यां च शुक्रभोजश्च हीयते ॥
च० चि० ८-२३।

पुनश्च—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयोह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥
च० नि० ६।

देखिये कैसे अलङ्कारिक शब्दों में आदेश किया है

( ३ ) साहस-

अर्थात् स्व शक्ति का उल्लघन करके कार्य में प्रवृत्त होना अथवा शक्ति से अधिक कार्य करना अथवा अपने से बली के साथ मल्ल युद्धादिक करना, या द्वेषादिक कार्यों का करना 'साहस' के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अतः इससे बचने का आदेश किया हुआ है। यथा—

साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः ।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टकर्मणां फलमश्नुते ॥
च० नि० ६।

( ४ ) विषमाशन—

इससे अभिप्राय अयथा अत्यधिक, अकाल एवं सयुक्त भोजन का है। अतः इसका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। यथाहि—

विविधा-यान्नपानानि वैषम्येण समश्नतः ।
जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः ॥

इस प्रकार से वातादि तीनों दोष कुपित होकर विविध रोगों ( लक्षणों ) को उत्पन्न करते हुए एकादश लक्षण सम्पन्न क्षय रोग का कारण होते हैं।

ये हुये विप्रकृष्ट कारण क्षय रोग के जिनको चिरकाल तक सेवन करने से क्षय रोग की उत्पत्ति होती है।

( ब ) सन्निकृष्ट कारण—

किसी रोग की उत्पत्ति होने पर उसकी चिकित्सा का उल्लघन करने से अन्य रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसे कारणों को हेत्वर्थ कारण कहते हैं और इन्हीं का सन्निवेश हम सन्निकृष्ट कारणों में करते हैं। यथा—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते॥
तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ॥
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥

तथा च—

दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते ।
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्सञ्जायते क्षयः ॥
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ।
ते पूर्वं केवला रोगा पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः॥ मा० नि०

## उपसंहार—

इस प्रकार क्षय रोग का प्राचीन ऐतिहासिक वर्णन करने के अनन्तर उसके कारणों पर भी सक्षेपतः विचार किया गया है। शेष सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा आदि का वर्णन अन्यत्र लेखों में सविस्तार मिलेगा।

---

# क्षय और क्षत से क्षय

लेखक वैद्यसूरिः, श्री कविराज चौधरी धर्मदत्त आयुर्वेदाचार्य ( M. A. Sc. ) वैद्य शास्त्री,
भूतपूर्व प्रोफेसर—स० ध० आयुर्वेदिक कालेज, सत्या बाजार, लाहौर।

क्षय, यक्ष्मा, राजयक्ष्मा, शोष आदि एक ही रोग के नाम हैं। डाक्टर लोग इसको थाईसिस, कञ्जम्पशन अथवा टुबर्कुलोसिस कहते हैं। और यूनानी हकीम तपेदिक अथवा हुम्मादिक आदि का नाम देते हैं।

यह रोग कोई नवीन नहीं आज से चार हजार वर्ष पूर्व के ग्रन्थ इसका इतिहास बताते हैं और इससे भी पूर्व भगवान चन्द्रमा इस रोग से पीड़ित रहे ऐसा लिखा हुआ मिलता है। फिर इस समय की प्रत्येक चिकित्सा पद्धति में इसका वर्णन मिलता है। कहने का तत्पर्य यह है कि यह रोग संसार के सभी देशों मे रहा और संसार की सभी जातियां इससे ग्रसित रहीं। इस रोग से पीड़ित गाय, बैल, बन्दर, पक्षी और मछली भी पाये जाते हैं और अब तक उसी प्रकार इस रोग के रोगी देखने में आते हैं॥

जांच करने पर प्रतीत हुआ कि जितनी मृत्यु संसार भर में होती है उसके सातवें भाग का कारण यही रोग होता है।

सभ्य संसार में प्रति सैकण्ड कम से कम एक मृत्यु क्षय रोग से अवश्य होजाती है। यह हिसाब से ठीक ही बनता है कि नित्य कोई ८६००० मनुष्य इस रोग से मर जाते हैं।

गत शताब्दी में जितने युद्ध हुए उन सब में कुल १४०००० मनुष्य मर गये थे। हिसाब लगाया गया है कि उन्हीं देशों में उसी शताब्दी में क्षय-रोग के कारण ३००००० के लगभग मौतें हुईं।

क्षय रोग को हैजे, प्लेग आदि महामारियों से भी अधिक हानिकारक और भयानक समझना चाहिये। यह तो साल भर में दो चार महीने ही अपना कार्य करती हैं और अपनी भेंट लेकर चली जाती है परन्तु क्षय रोग साल भर बराबर अपनी भेंट लिया करता है।

## लक्षण—

बार २ प्रतिश्याय और खांसी का होना। खांसी कुछ दिनों पीछे ठहर जाती है और उसका ठसका बना रहता है। साधारण औषधी से वह खांसी ठीक नहीं होती। यदि कभी हट भी गई तो कुछ समय के बाद फिर आगई। बहुधा ऐसा देखा गया है कि शीतऋतु में जुकाम हुआ और धीरे २ बढ़ता गया खांसी भी रही। मामूली चिकित्सा से जुकाम ठीक होगया परन्तु खांसी का ठसका शीत-ऋतु के अन्त तक बना रहा। परन्तु ग्रीष्म ऋतु आई और खांसी घटने की बजाय बढ़ी। इतने में रोग के और लक्षण भी दिखाई देने लगे। फिर तो रोग निदान में अधिक संदेह नहीं रहता। हां कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि रोग बिना खांसी के भी होजाये।

शरीर में धीरे २ दुर्बलता का होता जाना। सामान्यतः २५ वर्ष की आयु तक स्वस्थ मनुष्य का

भार धीरे २ बढा करता है। इस आयु के पश्चात् वजन बहुत वर्षों तक एक सा रहता है। यदि युवक अथवा युवती का वजन इस आयु में दिन प्रति दिन घटता जाये तो ऐसे प्राणी पर विशेष ध्यान देना चाहिये। क्षय रोग इसका बहुधा एक बड़ा और सामान्य कारण निकलता है।

हर समय एक प्रकार की थकावट रहना, शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने की इच्छा न होना, बदन का टटना, अरुचि होना, मन्द २ ज्वर का रहना, ज्वर को मौसमी ज्वर समझ कर विचार न करना, फिर ज्वर प्रति दिन रहना, विशेष कर सायंकाल ज्वर से झुनझुनी सी आना, फिर उस ज्वर का साधारण औषधी से न उतरना, रात्री के समय पसीने आना। इस पसीने का शारीरिक परिश्रम से और गर्मी से सम्बन्ध नहीं होता। शीत काल में जब स्वस्थ मनुष्यों को अधिक परिश्रम से भी पसीना नहीं आता तब भी क्षयी को रात में पसीना आया करता है। तेज ज्वर का होना भी इस पसीने के लिये आवश्यक नहीं।

इसी प्रकार रात्रो का स्वप्न आना जल में डूबना हवा में उडना आदि २ कई प्रकार के घोर अथवा भयानक वस्तुओं को देखना, मरे हुये सहयोगियों अपने सम्बन्धियों को मिलना, अथवा भोजनादि में बालों का निकलना आदि २ लक्षण भी देखने में आते है।

अतिशय मैथुन करने से, किसी प्रकार के दारुण शोक से, वृद्धता वश अधिक व्यायाम करने से, अधिक मार्ग चलने से, शरीर के ऊपरी घाव अथवा कलेजे के व्रण से क्षय रोग हो जाता है और इसके लक्षण निम्न लिखित होते हैं--

धातु क्षयी—

अधिक मैथुन से जिसके क्षय होता है उसके धातु क्षय सम्बन्धी सब उपद्रव विद्यमान रहते हैं जैसे शरीर का पीला होजाना, लिंग और अण्डकोष में पीड़ा रहना, धातु का नष्ट हो जाना आदि।

शोकक्षयी –

शोक के कारण उत्पन्न क्षय रोग वाले रोगी का शरीर शोक के कारण सूख जाता है, चिन्ता अधिक रहती है, और अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं।

वार्धक्य क्षयी—

इस रोगी को धातु क्षय के अतिरिक्त समस्त लक्षण दीख पड़ते हैं। वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न क्षय रोग से रोगी दुर्बल होजाता है। वीर्य, बुद्धि, बल तथा इन्द्रियाँ मन्द पड़ जाती हैं। शरीर में कम्प, खाने में अधिक रुचि, फूटे कांसे के कटोरे जैसी ध्वनि होती है। मल सुख जाया करता है, मुख, आख, नाक से पानी बहता है और मुख की कान्ति बिगड़ जाती है।

अध्वक्षयी--

रास्ता चलने के कारण उत्पन्न क्षय रोग वाले के सब अङ्ग ढीले हो जाते हैं। मुख पर सूखापन आजाता है और झाईं पड़ जाती है।

व्यायाम क्षयी--

व्यायाम के कारण उत्पन्न क्षय रोग वाले के भी वही लक्षण होते हैं जो अध्वक्षयी के होते हैं।

व्रणक्षयी--

रक्त के नष्ट होने से, किसी प्रकार की व्यथा से, पर्याप्त भोजन न मिलने से, घाव हो जाने के कारण जिनको क्षय रोग होता है वह अतिक्षय असाध्य कहा गया है।

## डाक्टरी मतानुसार क्षय रोग–

क्षय रोग उन रोगों में से हैं जो जीवाणुओं से उत्पन्न होते हैं। हैजा, संग, टायफाइड, फुस्फुस-प्रदाह इसी प्रकार के रोग हैं। क्षय का कारण एक शलाकार कीटाणु हैं। उसकी लम्बाई १/३४००० इञ्च से १/१०००८ इंच तक होती है और चौड़ाई अथवा मोटाई १/१०००००-इंच होती है। यद्यपि यह शलाकायें खाली आंखों से नहीं देखी जाती तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ये अत्यन्त परिश्रमी पराक्रमी भयानक और दृढ़ होती हैं, शीत, अन्धेरा, मैल और धूल इन कीटाणुओं के लिये बहुत हितकारी हैं। यह बहुत बड़ा शीत सहन कर सकते हैं परन्तु अधिक गर्मी और सूर्य के प्रकाश में थोड़े ही समय में मर जाते हैं।

यह कीटाणु शरीर के प्रत्येक भाग पर आक्रमण कर सकते हैं; यथा अस्थि, संधियां, त्वचा, लसीका ग्रन्थियां, आन्त्र फुस्फुस आदि। इनका अधिकतर आक्रमण फुस्फुस पर होता है।

क्षय अथवा शोष रोग उपदंश, फिरङ्ग रोग की भांति पुश्तैनी नहीं कहा जा सकता। यदि क्षयी की संतान को क्षय रोग हो जाये तो उसका कारण यह नहीं है कि जन्म से ही उसके शरीर में रोग के कीटाणु थे। यदि क्षयी की सन्तान का पालन पोषण भली प्रकार से हो और वह क्षय ग्रस्त माता या पिता के पास न रखी जाय तो उसको क्षय रोग न होगा। क्षयी कमजोर होता है इसका कारण उसके बालक भी कमजोर होते हैं। क्षय के कीटाणु कमजोर शरीर में भले प्रकार बढ़ते हैं इस कारण ऐसे बालकों को भी क्षय रोग की अधिक सम्भावना रहती है।

## क्षत–

मिथ्याहार विहारादि के कारण क्षय रोग तो अधिक बढ़ ही रहा है परन्तु क्षत रोग इससे भी अधिक वेग से बल ग्रहण कर रहा है। इसके लक्षण निम्न प्रकार से हैं।

युद्ध आदिकों में अति बल और साहस पूर्वक युद्धादि करना तथा अपने बल से अधिक भागना, भार उठाना आदि साहस करने से उरःस्थल में क्षत हो जाता है। उस क्षत से पित्त युक्त वायु, बल प्राप्त करके कुपित हो जाता है फिर खांसी को उत्पन्न करता है। इस खांसी में कफ रक्त युक्त, पीले वर्ण का, श्याम वर्ण का शुष्क ग्रथित और कुपित निकलता है तथा बहुत कफ निकलता है कण्ठ में पीड़ा होती है और छाती में भेदन की सी व्यथा होती है जैसे कोई तीक्ष्ण सूईयों से छाती में गोद कर रहा हो। रोगी श्वास, कास, प्यास, स्वरभङ्ग, ज्वर और कम्प इन उपद्रवों करके युक्त हुआ कपोत के समान कूजता हुआ पार्श्वशूल से पीड़ित होता है। फिर इस रोगी का क्रम से वीर्य, रुचि, पाचन शक्ति, बल और वर्ण यह सब क्षीण होने लगते हैं।

क्षय रोग तो रोगी पर धीरे २ अधिकार जमाता है और साधारणतया क्षीण हो जाने पर ही चिकित्सक अथवा रोगी को प्रतीत होता है परन्तु क्षत रोगी तो बलवान् कार्य में ठसका आदि लगने से ही छाती दुखने लगती है, रक्त प्रायः मुख से निकलने लगता है। डाक्टर इसको पल्मोनरी कैविटेशन ( Pulmonary Cavitation) और यूनानी वाले सिल के नाम से पुकारते हैं।

## विशेष कारण–

मानव शरीर का अधिक दुर्बल होना, शुष्क

होना, निर्धन होना, शुष्क भोजन, बुरे खाद्य अथवा अखाद्य होना है। यह रोग आज अधिक वेग से आक्रमण कर रहा है। पूर्व काल में लोग शुद्ध जल वायु अथवा सात्विक भोजन पर निर्वाह करते थे। दूध, घृत उनका मनमाना भोज्य था जङ्गल अधिक थे। सन्तानोत्पत्ति का वेग अधिक न था, अर्थ शास्त्र के ज्ञाता इन बातों को समझते हैं कि निर्धन लोग अधिक सन्तानोत्पत्ति करते हैं।

## प्राचीन काल में दूधादि–

आज तो दूध दही, खाना तो क्या देखने को भी नहीं मिलता। एक समय था कि साधारण गृहस्थों के पास हजारों की संख्या में गायें थीं। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व कात्यायन के काल में गौ १० पैसे को और बछड़ा चार पैसे को मिला था, दूध १ पैसे का १ मन आता था। इसके २०० वर्ष बाद ईसा से ३०० वर्ष पूर्व जब भारत पर सम्राट चन्द्रगुप्त राज्य करते थे तब घृत तक पैसे का दो सेर और दूध २५ सेर था। ईसवी सन् के आरम्भ में ४२ पैसे की गाय और ६६ पैसे का बैल मिलता था। ५ वीं शताब्दी में विक्रमादित्य के राज्य में गौ ८० पैसे में और बैल ५१२ पैसे में। अलाउद्दीन के जमाने में घी का भाव दिल्ली में ७४ पैसे मन था और अकबर के जमाने में १६५ आने मन। उन दिनों यह पदार्थ प्रायः विकते न थे। तात्पर्य यह है कि दूध की नदियां बहती थीं।

यह बातें तो दूर की हैं आज एक पंजाबी जो दूध और छाछ पर अपना जीवन समझता है अच्छी नसल की गाय भैंस कभी किसी प्रदर्शनी में ही देख पाता है केवल २०-२५ वर्ष पूर्व भी यहां अच्छे जीव मिल जाते थे परन्तु आज नहीं। सन् १९३० में ब्रिटिश पंजाब की जन संख्या २३५८०८५४ थी और जानवर २२६६६१८९ थे और सन् १९४० में जन संख्या २७५१२२१९ और जानवर १५४१४४५७ थे अर्थात् १०० मनुष्य के लिये सन् १९३० में कोई १०१ जानवर और सन् १९४० में केवल ५४ जानवर रह गये हैं। फिर इनमें भी १०० मनुष्य पर दूध देने वाले जानवर सन् १९३० में २१ और सन १९४० में १० रह गये हैं। भारत सरकार के खाद्य विशेषज्ञ डा० एक्राइड ने बताया है कि प्रत्येक भारतीय को कम से कम पाव भर दूध और १। तोला घृत अथवा आध सेर दूध प्रतिदिन मिलना चाहिए परन्तु पंजाब में सब दूध आवश्यकता से आधा मिलता है। दूसरे स्थान में मिलने की सम्भावना नहीं अपितु घृत के रूप में बाहर चला जाता है। आज जब कि दूध होता ही ६ औंस है और घृत बाहर भी जा रहा है तो शेष आये कहां से और स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है।

## दूषित वायु–

दूध आदि खाद्य पदार्थों का सबेत मैंने कह दिया है। अब रहा जलवायु के सम्बन्ध में। गत छः वर्षों में संसार के प्रत्येक देश को युद्धाग्नि ने झुलस दिया है। इस समय किसी भी देश में शान्ति नहीं। युद्ध क्षेत्रों में बमबारी से अथवा कई प्रकार की गैसों से ब्रह्माण्ड की वायु बिगड़ रही है। यह विष युक्त वायु योद्धाओं का स्वास्थ्य तो बिगाड़ती ही है परन्तु वही वायु देश देशान्तरों में फैल कर प्राणी मात्र के शरीर का शोषण कर रही है।

[ शेषांश पृष्ठ ६८ पर देखें ]

# क्षय

लेखक—आयुर्वेदाचार्य कवि० मदनगोपाल जी ए० एम० एस० फैजाबाद।

## क्षय—

आधुनिक काल में क्षय रोग की अपार वृद्धि को देखते हुये, इसके प्रचुर ज्ञान व रोक थाम की बड़ी आवश्यकता है। चरक सुश्रुति आदि ऋषियों ने क्षय के साधारणतया १८ या २३ भेद किये हैं। ये सब भेद साधारण प्रकृत्ति सम समवाय जन्य है, पर साधारणतया प्रचलित क्षयरोग इन सबसे पृथक दोषों के विकृत विषम समवाय से उत्पन्न एक त्रिदोषज महारोग है जिसमें कार्यभूत रस रक्तादि एक या अधिक धातुओं का क्षय होता है।

## कारण—

इस रोग के अनेकों कारण पुस्तकों में लिखे है पर निम्न कारण बहुत महत्व के है।

१—शक्ति से अधिक परिश्रम करना—आजकल हमारे देश मे गुलामी व दरिद्रता के कारण लोगों को पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। उदर भरण के लिये अपनी क्षमता से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इससे शरीर के धातुओं का पोषण व वृद्धि उचित रीति से नहीं होती। गरीबों का तो कहना ही क्या है। श्रीमानों को भी दुग्ध घृतादि पोषक द्रव्यों का अभाव सा हो रहा है। पोषक अन्न के अभाव में कठोर परिश्रम के कारण क्षय रोग का विस्तार बहुत जोरों से हो रहा है। जब तक देश स्वतन्त्र होकर ग्राम या स्वदेशी उद्योगों की उन्नति होकर लोगों की बेकारी दूर नहीं होती। घृत दुग्धादि पोषक पदार्थों की उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती, तब तक क्षय रोग की वृद्धि यत्न करने पर भी नहीं रोकी जा सकती।

२—शुक्र क्षय—नव सभ्यता के कारण जनता की विलासता व कामवासना बढ़ती जारही है। जिसके कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति का बल-वीर्य उत्तरोत्तर क्षीण होता जारहा है। बलवीर्य के विनाश से शरीर मे रोग प्रतिकार शक्ति नहीं रह जाती और मनुष्य क्षय ऐसे भयंकर रोगों का शिकार हो जाता है।

अल्पायु में नैतिक व अनैतिक रीति से मैथुन या शुक्रपात के कारण भी लोगों की प्राणशक्ति बहुत क्षीण होती जारही है। इन कुकर्मों के परिणाम स्वरूप क्षय जैसे भयंकर रोग का प्रसार बड़ी तेजी से होरहा है। अधिकांश क्षय रोगियों में शुक्रपात का इतिहास मिलता है।

३—वेगाविधारण—मल, मूत्र, उद्गार, तथा जृम्भा आदि के वेगों को रोकने से भी विकृत विषम समवायज क्षय रोग उत्पन्न होता है।

४—भोजन—आहार के अनाचार से भी शरीर का पोषण न होकर क्षय रोग की उत्पत्ति होती है। संयोग विरुद्ध, अल्प या अधिक अपौष्टिक भोजन सड़ा गला आहार, निषिद्ध पात्र में तथा कुसमय में अपक्व कच्चा भोजन करने, भोजन के बाद भोजन करने से, शरीर पोषक रस धातु की उत्पत्ति ठीक से नहीं होती जिससे शारीरिक पोषण नहीं होता

और क्षय रोग उत्पन्न हो जाता है।

५—नव सभ्यता-नव सभ्यता के अनेक विशेषताओं के कारण भी क्षय रोग का प्रसार होरहा है। जूता पहन कर भोजन, बिना हाथ धोये भोजन करने से, नाक मुंह पोंछने वाले रूमाल से हाथ पोंछ कर भोजन करने अपवित्र स्थान में भोजन करने से, अनेक मित्रों के साथ भोजन करने, अलम्यूनियम, कासा, पीतल आदि के पात्र में भोजन जिससे कि भोजन में विष उत्पन्न होजाता है, क्षय रोग के प्रसार में सहायक होते हैं।

बड़े २ गन्दे घने शहरों का निर्माण, तारकोल की सड़क, कल कारखानों का धुआं, कृत्रिम रासायनिक व्यवसाय जैसे रङ्गसाजी शुष्क धूम्र पान, पौष्टिक खाद्य के अभाव में मद्यपान, रात्रि जागरण द्रव्य के लोभ से अधिक परिश्रम तथा नैतिकता का ह्रास आदि नव सभ्यता की विशेषता में है, जिनसे लोगों की रोगप्रसार शक्ति दिनोंदिन घट रही है। और राजयक्ष्मा का प्रसार दिनोंदिन बढ़ रहा है।

६—रोगों का परिणाम-अनेक रोगों के परिणाम स्वरूप भी राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है।

वातादीनां रसादीनां मलानां भोजसस्तथा।
च० सू० अ० १७।

आदि १८ प्रकार के क्षय तथा स्वेदार्तव स्तन्य गर्भ स्वरोदिकादि का क्षय होने पर अहितकर औषधि, अन्न तथा विहार के कारण रोग त्रिदोषज होकर राजयक्ष्मा का रूप धारण करता है।

रोमान्तिका, खांसी, निमोनियां काली खांसी, इन्फ्लुयन्जा, प्रतिश्याय आदि रोगों के बाद मधुमेह, यकृद्दाल्युदर मलेरिया कालाजार अतिसार हृदय रोग, फुफ्फुस रोग, फुफ्फुसीय धमनी द्वार का संकोच तथा अन्य अनेक रोगों के बाद दुर्बल शरीर में क्षय रोग का निवास होजाता है।

इन सब कारणों के अतिरिक्त पाश्चात्य वैज्ञानिक एक विशिष्ट जीवाणु को इस रोग का कारण मानते हैं। पर यदि उपर्युक्त परिस्थितियों का कारण न हो तो यक्ष्मा के जीवाणु की उपस्थिति में भी रोग उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये वैद्यक शास्त्र में बीज की प्रधानता न होकर क्षेत्र की प्रधानता मानी जाती है जिससे कि त्रिदोष सिद्धांत त्रिकालाबाधित सत्य सिद्धान्त ठहरता है। यदि

[ पृष्ठ ६६ का शेषांश ]

जिससे मनुष्य मात्र के शरीर का स्नायु मण्डल आदि सब अवयव शुष्क होकर दुर्बलता को प्राप्त हो रहे हैं।

## क्षत से क्षय—

ऐसी अवस्था में भूख से पीड़ित शुष्क शरीर को थोड़ा सा भारी कार्य करना पड़े अथवा कलों में भारी झटका सहन करना पड़े तो उसका परिणाम शुष्क शरीर पर क्षत ही तो होना है। ऐसे क्षत के रोगी आजकल अधिक देखने में आते हैं। क्षत कुछ दिनों में ठीक हो जाये तो अच्छा, नहीं तो फिर ज्वरादि सब लक्षण आरम्भ में हो जाते हैं और रोगी क्षीण होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। फिर तो क्षत और क्षय में कोई भेद नहीं रहता। इस पर अधिक विस्तार करने से लेख के बढ़ जाने का भय है इसलिये इस लेख 'क्षय और क्षत से क्षय' को यहीं समाप्त करता हूं चिकित्सा के सम्बन्ध में फिर किसी लेख में वर्णन करूंगा।

पाश्चात्य वैज्ञानिक यक्ष्मा की भांति सब रोगों में क्षेत्र की प्रधानता स्वीकार कर लें जो कि अज्ञानवश इस समय नहीं कर रहे हैं तो उनका जीवाणु सिद्धान्त ही समाप्त प्रायः होजाय ।

## पूर्वरूप-

इस रोग के लक्षणों के पूर्णतया प्रगट होने पर रोग प्रायः असाध्य हो जाता है । अतः यदि इसका निदान रोग के प्रसङ्ग में होसके तो रोगी के प्राणों की रक्षा की जासकती है । इसी कारण इस रोग के पूर्व रूप का विशेष महत्व है ।

अच्छी तरह से पोषक अन्न खाने पर भी शारीरिक बल का ह्रास होना, शरीर का भार घटना, प्रतिश्याय का बार २ होना, नेत्रों का श्वेत होना, परिश्रम का सहन न होना और अति निद्रा आना, थोड़े भी परिश्रम से अङ्ग मर्द होना तथा मन में मैथुन की उत्कट इच्छा ये क्षय रोग के महत्व के पूर्वरूप हैं । इसके अतिरिक्त अग्निमांद्य, अरुचि वमन किंचित् श्वास कष्ट तथा मुख से पानी या कफ छूटना ये लक्षण भी मिलते हैं । स्वप्न में यक्ष्मा का रोगी कौआ, शुक, साही, नीलकण्ठ तथा गृद्ध बन्दर आदि पशुओं को देखता है । इन पर स्वप्न में सवारी करता है । इसके अतिरिक्त उसे सूखी नदी, सूखा पेड़ अथवा आग से जला हुआ पेड़ देखता है ।

दोष, रसादि तथा मलों आदि के क्षय के जो लक्षण बतलाये हैं, उनमें से किसी एक या अधिक के लक्षण मिलना । विशेषतः रस, रक्त मांस व शुक्र क्षय के लक्षण पूर्व रूप में अवश्य पाये जाते हैं । नैतिक अथवा अनैतिक शुक्र पात का इतिहास अवश्य करके मिलता है ।

## लक्षण-

इस रोग के लक्षण खांसी, थूक व बलग़म, रक्त ष्ठीवन, श्वास कृच्छ्र वेदना ज्वर तथा संताप, विश्राम व रात्रि स्वेद तथा पाचन संस्थान के लक्षणों के विषय में विस्तार से जानने की आवश्यकता है । इन लक्षणों तथा यान्त्रिक परीक्षाओं को मैं विस्तार भय तथा समयाभाव से नहीं लिख रहा हूं ।

## चिह्न-

अब संक्षेप में उन चिह्नों को लिखता हूं जिनका कि चिकित्सक को स्वयं ज्ञान होता है, और जिन्हें रोगी नहीं बता सकता । इस दृष्टि से इस रोग की तीन अवस्थायें होती हैं ।

१—शोथ अथवा रक्ताधिक्य की दशा ।

२—घना भवन की दशा ।

३—विवरी भवन की दशा ।

शोथावस्था के चिन्ह—

छाती का आकार बहुधा पंखवत् अथवा चपटा होता है । छाती की दीवार में त्वचा में छोटी २ शिरायें फूली हुई होती हैं । विकृत पार्श्व में विशेष करके ऊपर की ओर गति कम दिखाई देती है । अक्षक या हसली की हड्डी के ऊपर तथा नीचे का स्थान कुछ धंसा सा दिखाई देता है । इसी तरफ का कंधा कुछ नीचा रहता है । छाती का मांस सूखा हुआ प्रतीत होता है । जिस ओर का फेफड़ा रोग ग्रस्त होता है स्त्रियों में इस ओर के स्तन छोटे तथा नीचे दिखाई देते हैं ।

स्पर्श से छाती की गति कुछ कम प्रतीत होती है तथा बोलने की आवाज की गूंज अधिक स्पष्ट होती है ।

अंगुलिताडन से आवाज कुछ मन्द प्रतीत होती है और भीतरी प्रतिकार कुछ अधिक प्रतीत होता शरीर की पेशियों में विशेष करके छाती की पेशियों में अङ्गुलियों से आघात करने पर पेशियां सिकुड़ी हुई तथा कठोर प्रतीत होती इसे Myotonic Irritability या Myoedema कहते हैं।

श्रवण यन्त्र से श्वास प्रश्वास की आवाज कुछ कम सुनाई देती है। बहिःश्वसन कुछ लम्बा होता है। अन्तःश्वसन टूटानिक झटके के साथ (Cogwheel respiration) सुनाई देता है। श्वासनलिकाओं की श्वास गति अल्प आवाज सुनाई देती है। कभी आर्द्र ध्वनि (Rales) तथा शुष्क ध्वनि (Rhonchi) भी सुनाई देते हैं। जब ये ध्वनि विशिष्ट स्थान पर हमेशा और खांसने के बाद सुनाई देते हैं तब जरूर सन्देह करना चाहिये। बोलने की आवाज की गूंज भी अधिक स्पष्ट सुनाई देती है।

दूसरी अवस्था की दशा—

इस दशा में घनत्वावस्था के सब लक्षण व चिह्न अधिक स्पष्ट होजाते हैं। फेफड़े में शोथ बढ़ाने से इसमें कुछ कड़ापन तथा घनत्व प्रमाण होता है। पसलियां अधिक नजदीक आजाती हैं जिससे चौड़ी प्रदेश Epigastric Region में पसलियों का कोण अधिक सिकुड़ा हुआ होता है। बोलने की आवाज की गूंज स्पर्श करने पर अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है पर जब विवर में द्रव या पूय भरा रहता है या फुफ्फुसावरण मोटा होजाता है तब गूंज कुछ कम प्रतीत होती है। अङ्गुलीताडन करने से यदि विवर खाली हो तो टिनटिनाहट आवाज मिलेगी। यदि कोई बड़ा विवर श्वासनलिका के पास हो तो एक विशेष प्रकार की फूटे हुए बर्तन की आवाज मालूम होती है। श्रवण करने से श्वास प्रश्वास की शुष्क या आर्द्र ध्वनि बड़ी तेज सुनाई देती है। इस आवाज की तीव्रता विवर की आकृति पर निर्भर है। बोलने की आवाज की गूंज भी बड़े जोर से कानों के पास ही सुनाई देती है। इसे Bronchophony कहते हैं। भिन्न २ प्रकार की आर्द्र ध्वनि सुनाई देती है। कभी २ हृदय के शब्द भी सुनाई देते हैं। यदि छोटे विवर तथा गहरे विवर जो छाती से दूर हैं, उनसे कुछ भी आवाज नहीं सुनाई देती।

## क्षय रोग में नाड़ी परीक्षा—

उच्चैः त्रिप्रसुरः क्षते गजवला क्षीणा क्षये नाडिका।
कासे कम्पपरायणा प्रचलिता क्षीणाति सूक्ष्मा च सा॥

इनके अतिरिक्त आजकल थूक, रक्त, एक्स किरण तथा श्वसन शक्ति आदि भी बहुविध अनेक परीक्षायें हैं जो बहुव्यय साध्य हैं तथा जिनके द्वारा रोग का निर्णय तभी होता है जबकि रोग असाध्य हो जाता है इसलिये रोगी की दृष्टि से साध्यता की दृष्टि से ये परीक्षायें बिल्कुल बेकार हैं। अतः इन्हें नहीं लिखा जाता है।

## सम्प्राप्ति—

इस रोग की सम्प्राप्ति विषयक ज्ञान में आजकल अपार वृद्धि हुई है वातादि दोष फेफड़े में जिस स्थान पर स्थान संश्रय करते हैं वहां पर राई (राजिका) सदृश छोटे दाने पड़ जाते हैं। इन दानों में सड़न तथा रोपण दोनों क्रियायें होती रहती हैं। ज्यों २ रोग बढ़ता है सड़न की क्रिया अधिक होने लगती है और तब ये दाने मृदु हो जाते हैं। इनमें पूयोत्पत्ति भी हो जाती है। इस पूय के बलगम के रूप में निकलने पर इन दानों में (विवर) गढ़ा पड़ जाता है। अनेक विवर मिलकर एक बड़ा विवर बनाते हैं। इन विवरों में भी रोपण क्रिया होती रहती है। कभी २ इसमें भी पूय पड़ जाता है साथ २ में अल्प रक्त स्राव भी हुआ करता है जो प्रगट नहीं होता। पर जब विवर का निर्माण रक्त नलिका पर होता है तो वेग पूर्वक रक्त स्राव होता है। कभी २ ये विवर भी खटका तथा धातु से भर जाते हैं। इन दानों अथवा विवरों के मल पूय तथा रक्त के बाहर निकालने के लिये ही कास, प्रतिश्याय, रक्त वमन आदि निरन्तर अथवा समय २ पर हुआ करते हैं। जब भीतर पूयोत्पत्ति हो जाती है और बाहर नहीं निकलता तो ज्वर भी प्रगट हो जाता है।

## रोग प्रतिरोध के सरल उपाय

साधारणतया यह रोग भयङ्कर तथा असाध्य समझा जाता है। विशेष करके जब पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति द्वारा इस रोग का पूर्ण निश्चय हो जाता है तब तो इस रोग को असाध्य ही समझना चाहिये। आयुर्वेद के अनुसार इस रोग का ज्ञान पूर्व रूप से ही हो जाता है। उसी समय रोग प्रतिशोधक क्रियाओं को शुरू करने से रोग का पूर्ण तया निवारण किया जा सकता था। आयुर्वेद के अनुसार जिन रोगियों के बल, मांस तथा शुक्र व पाचकाग्नि का क्षय नहीं हुआ है वे सभी साध्य हैं।

इसलिये जब क्षय के पूर्व रूप के लक्षण प्रतीत हों अथवा केवल सन्देह मात्र हो उसी समय से रोग प्रतिरोधक उपायों को बरतना चाहिये। इन रोग प्रतिरोधक उपायों का एक मात्र उद्देश्य शरीर गत धातुओं के क्षय की पूर्ति है।

स्थूल रूप से मानव शरीर प्राच्य तत्वज्ञान की दृष्टि से ६ धातुओं (आत्मा तथा पंच महाभूत) से बना हुआ है। इन्हीं धातुओं के क्षय से वातादि धातु तथा रस रक्तादि धातुओं तथा अन्य भावों का क्षय होता है। यदि शरीर में इन्हीं षट तत्वों की समानता स्थिर रहे तो किसी प्रकार रोग होने की सम्भावना नहीं रहती। अतः जब क्षय रोग का सन्देह हो अथवा किसी भी प्रकार का क्षय हो तो इन षट धातुओं की पूर्ति का प्रयत्न औषधि तथा आहार विहार द्वारा करना चाहिये।

## क्षय रोग में षड् धातु पूर्ति के उपाय

संक्षेप में इन षट धातुओं में से प्रत्येक की क्षत पूर्ति के उपाय लिखे जाते हैं।

१-प्राण तत्व की पूर्ति—

आत्मा, मन, शरीर तथा इन्द्रियां इनके संयोग के जीवन आयु अथवा प्राण × कहते हैं। क्षय रोग में शरीर की प्राण अथवा जीवनीय शक्ति क्षीण होने लगती है। इस क्षय पूर्ति के अचूक उपायों को ऋषियों ने बहुत प्राचीन काल से बतलाया है।

अ-अंकुरित धान्य का उपयोग—गेंहू, चना, मूङ्ग, मटर आदि धान्यों में प्राण तत्व प्रसुप्त रूप में पड़े रहते हैं। जब उनमें भिगोकर रखने से अंकुर निकलते हैं तो उनमें प्राण शक्ति जागृत हो जाती है और इस अंकुरित धान्य को खाने से साक्षात प्राण तत्व की उपलब्धि होती है। इस प्राण तत्व को आधार समझ मनुष्यों ने वनस्पतियों के बीज गेंहू, धान आदि का आहार रूप में ग्रहण किया है

ब-सद्य. उद्धृत हरी वनस्पति, फल अथवा शाक हरी वनस्पतियां फल अथवा शाक सजीव द्रव्य हैं और उनकी एक निश्चित् आयु होती है। इन प्राण मय हरी वनस्पतिया, फल अथवा शाक को तुरन्त तोड़ कर तुरन्त उदरस्थ करने से अविकृत रूप में प्राण तत्व शरीर में प्राप्त हो जाता है। शरीर पोषण की दृष्टि से इन हरी सद्यः उद्धृत वनस्पतियों का बड़ा महत्व है। तोड़ने के बाद जितनी ही देर में खाया जायगा उतना ही गुण कम होता जायगा।

स-स्तन पान या धारोष्ण दुग्ध—माता अथवा पशु के स्तनों में जब तक दुग्ध रहता है तब तक वह शरीर का एक जीवित सप्राण भाग होता है। इसलिये स्तन पान से प्राणमय दुग्ध प्राप्त होकर शरीर का अधिकतम वर्धन व पोषण होता है।

बालकों के लिये माता के स्तन का दूध अमृत अथवा प्राण के समान हितकारी है। पशुओं का स्तन पान भी लगभग उतना ही प्राणप्रद है। ज्यों ही दुग्ध बाहर आता है वह विकृत होने लगता है और उसकी प्राण शक्ति क्षीण होने लगती है। इस लिये स्तन के बाहर धारोष्ण दुग्ध की अपार महिमा है।

इन अंकुरित धान्य, सद्यः उद्धृत वनस्पति, फल अथवा शाक व ताजा दूध में शरीर पोषक सभी तत्व व विटामिन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। प्राचीन काल में ही प्राणप्रद तत्वों तथा द्रव्यों की खोज की गई थी और शास्त्रों में जीवनीय गण का वनस्पतियों का एक वर्ग भी सर्वमान्य हो चुका था। जीवनीय गण की ये औषधियां आज भी अपने गुणों में अद्वितीय हैं। क्षय की चिकित्सा में इनका बड़ा महत्व है। अष्टवर्ग, मुलहठी, मुनक्का (अंगूर) मुद्गपर्णी, माषपर्णी तथा जीवन्ती आदि औषधियां जीवनीय गण में काम आती हैं। इनका क्वाथ तथा घृत अधिकतम प्राणप्रद है।

२-आकाश की पूर्ति—

आकाश धातु की प्राप्ति के लिये खुले स्थान में निवास करना, मकान की छत ऊंची होना यही सरल उपाय है। स्थान शब्द रहित शान्ति मय होना चाहिये।

३-वायु की पूर्ति-

शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिये शुद्ध स्वच्छ गृह में

---

× शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगो धारि जीवितम्।
च० सू० अ० १

निवास, धूलि रहित मैदान में भ्रमण तथा सुगन्धित, समशीतोष्ण वायु का सेवन करना ये सरल उपाय हैं।

## प्राणायाम्

वायु तत्व की प्राप्ति का यह एक अनुपम साधन है। आजकल इसका प्रचार बहुत कम है। इससे शरीर के प्राण तथा अग्नि दोनों ही प्रज्वलित होते हैं साथ में वायु तत्व की उपलब्धि भी होती है। इस क्रिया से शरीर में शुद्ध प्राणान्वित रक्त का संचार होता है। जिससे शरीर के सर्व भागों की अभिवृद्धि तथा मल का निःसरण होता है। यक्ष्मा रोग को रोकने का यह एक केवल अद्वितीय उपाय है पर खेद है कि रोग की इतनी वृद्धि होते हुये भी इस क्रिया का प्रचार बहुत कम है। वैद्य तो केवल इस एक मात्र उपाय का अवलम्बन करके जिसमें एक पैसा भी व्यय नहीं होता संसार की समस्त चिकित्सा पद्धतियों को परास्त कर सकता है।

४—अग्नि की पूर्ति—

संसार के सभी जीव सूर्य से उष्णता प्राप्त करते हैं। मनुष्य भी सूर्य से तथा वनस्पतियों से उष्णता प्राप्त करता है। ये वनस्पतियां अपनी उष्णता सूर्य से प्राप्त करती हैं।

सूर्य प्रकाश—मनुष्य को सूर्य प्रकाश से अग्नि की पूर्ति करनी चाहिये। क्षय रोगियों के लिये सूर्य प्रकाश अमृत तुल्य है। इससे क्षय के दोष पाचन, अथवा जन्तु नाशन के साथ २ प्राण शक्ति की प्राप्ति होता है। क्षय, रोग से बचने के लिये नित्य प्रति १०-५ मिनट सूर्य प्रकाश में रहना चाहिये। सूर्य किरण का सेवन इस रोग में अतीव हितकारी है। व्यायाम से भी उष्णता की उपलब्धि होती है।

उष्ण भोजन से भी शरीर को उष्णता व बल मिलता है।

उष्णता उत्पादक अनेक वनस्पतियों तथा खाद्य के सेवन से भी यही कार्य होता है। आहार का अधिक भाग उष्णता के रूपमें परिवर्तित हो जाता है

५—जल की पूर्ति—

जल शरीर पोषण का एक साधन है। सब तत्व द्रव रूप में घुलकर ही शरीर का पोषण करते हैं। वायु अग्नि तथा पृथ्वी आदि तत्व जल में घुलकर एकरस होकर ही शरीर का पोषण करते हैं। मानव शरीर तथा वनस्पतियों में ¾ से अधिक जल होता है। इस जल की पूर्ति के लिये प्रचुर जल अथवा तरल द्रव्य जैसे दुग्ध दधि तथा फल रस इक्षु रस आदि का पान करना चाहिये। सद्य उद्धृत वनस्पतियों से भी पर्याप्त मात्रा में जल प्राप्त होता है।

६—पृथ्वी की पूर्ति—

पृथ्वी तत्व की पूर्ति आहार अथवा वनस्पतियों से होती है। इसलिये बल, मांस वर्धक बृंहण वृष्य द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। पार्थिव पदार्थों की कमी ही से शरीर का भार कम होता जाता है। बृंहण पदार्थों के सेवन से शरीर का भार बढ़ता है। मन को प्रिय स्वादिष्ट, सुगन्धित पदार्थों के सेवन से भी शरीर की भार वृद्धि होती है।

इस प्रकार इन ६ धातुओं की पूर्ति होकर क्षय रोग अवसान हो जाता है।

## यक्ष्मा में प्रतिरोध पंचक—

१—ताजे से ताजा भोजन, फल, हरी वनस्पतियां सद्यः उद्धृत फल व वनस्पति, अंकुरित धान्य व धारोष्ण दूध का सेवन करना।

२-स्वच्छ आकाश व वायु का सेवन करना।
३-नित्यप्रति प्राणायाम करना कुछ व्यायाम करना।
४-स्वादिष्ट सुगन्धित व रुचिकर भोजन करना।
५-वीर्य का हर प्रकार से संरक्षण करना, निद्रा का संयम रखना।

*अधिकतम लाभप्रद सस्ते ५ अचूक द्रव्य :-*

## १-दूर्वा—

हरी अथवा सफेद दूर्वा के स्वरस को शक्कर या मधु मिलाकर पान करना। इससे बढ़कर प्राण दाता, बलदाता अन्य औषधि नहीं है। गरीबों के लिये यह मोती से बढ़कर है।

शास्त्र में इसको शतवीर्य अथवा सहस्र वीर्या कहा है। इसके सेवन से सौगुना या हजार गुना बल लाभ होता है। इससे रक्तस्राव कैसा भी भयङ्कर हो तुरन्त बन्द हो जाता है। शुक्र क्षय जन्य यक्ष्मा में भी लाभ करता है।

## २ वसा—

इस रोग में वसा जगत्प्रसिद्ध है। वसा हमेशा सद्यः उद्धृत होना चाहिये। हमारे अनुभव में इस रोग में फल सबसे अधिक लाभकर है।

१-१ पाव वासा पुष्प को ताजे गो दुग्ध में क्वाथ करके ऽ१ सेर मिश्री में शरबत बनाकर रखलें। अधिकतम लाभकारी है। यह गरीबों को सहस्रपुटा अभ्रक के तुल्य है। यह ज्वर, काम रक्तस्राव आदि सबको लाभ करता है।

## ३-वंशलोचन—

यह भी एक अपूर्व द्रव्य है। इसके गुण स्वर्ण तथा प्रवाल के सदृश हैं। इसके चूर्ण के समान घृत या मक्खन व मिश्री तथा मधु मिलाकर एक समय प्रातः इच्छानुरूप पेट भर चाटें। भूख लगने पर ही रात्रि में भोजन करें। इस प्रकार एक समय में ४से ८ तोला तक वंशलोचन खाया जा सकता है। इसके सेवन से शरीर दिव्य हो जाता है। सभी वीर्यरोग जड़ से अच्छे हो जाते हैं। यक्ष्मा के ज्वर, कास रक्त स्रावादि सब को लाभ करता है। फेफड़े के विवरों को भी भर देता है।

## ४-जीवन्ती—

सर्वत्र ताजी जीवन्ती न मिलने से इसका घृत अथवा क्वाथ इस रोग में बहुत हितकारी है। यह अपूर्व प्राणदाता है। ताजी जीवन्ती के गुण पारद भस्म के सदृश हैं। जीवन्ती घृत यक्ष्मा में बहुत प्रसिद्ध है।

## ५-मुलेठी—

२-मधुयष्टी चूर्ण घी या मक्खन मिश्री मधु —प्रत्येक १-१ छटांक

—इन सबको एक में मिलाकर प्रातःकाल पेट भर चाटें। भूख लगने पर ही भोजन करें। यह अपूर्व बल वीर्य वर्धक है इससे यक्ष्मा के सब लक्षणों को आराम होता है।

रोग न होने पर भी स्वस्थ मनुष्य इनको इसी विधि से सेवन करके अपना कायाकल्प कर सकता है। यह एक दिव्य रसायन है। जिसे इच्छा हो सेवन करके देख लें, ये सभी द्रव्य सुलभ हैं इनके प्रयोग से प्राण, आयु, बल तथा वीर्य सभी प्राप्त होते हैं। जिन्हें अपना वजन बढ़ाने का शौक हो, शरीर को हृष्ट पुष्ट और सुन्दर बनाने की इच्छा हो, शरीर का बल वीर्य से पूर्ण रखने की इच्छा हो, घर बैठे प्रयोग कर देखें। वंशलोचन के प्रयोग से सर्व प्रकार के वीर्य दोष दूर होकर पूर्ण पुंसत्व प्राप्त होता है क्षय तो जाता ही रहता है।

# क्षय की कुछ ज्ञातव्य बातें

लेखक—श्री० कन्हैयालाल जी रा० भट्ट।

—परिवर्तनशील जगत् जीवों का अनुचित ह्रास होजाता है, महाजीव, वृद्धि नहीं होती, उस अवस्था को क्षयज कहा जाता है।

—हर जगह एक ही प्रकार का क्षय नहीं होता।

—प्रदेशानुभेद से जीवों में जिस प्रकार के क्षयज होते हैं उनमें आहार विहार और वहां के वायुमण्डल के अनुसार ही उसी प्रकार के क्षयज होते हैं।

—इस लिये हर जगह एक ही प्रकार की चिकित्सा लाभदायी नहीं होती, क्योंकि उसमे कारण भूत उन उन जीव भूतों की जीवन रहनी और उसके भोग्य खाद्य पादार्थ होना है।

—प्राकारानुभेद से जहां तहां प्रदेशानुकूल तदंगभूत खाद्य पदार्थानुकूल और जीवों की रहन सहन की रीति देखकर चिकित्सा होनी चाहिये।

—व्यवस्थित सुचिकित्सा ही जीवभूतों को सहाय दे सकती है।

—जीवों के जीवन के पंच प्राण और उसके आधार शरीरस्थ पंचतत्व उसकी सुव्यवस्था द्वारा निदान करके चिकित्सा करना ठीक होगा। ऐसा करने से—

ये ही पद्धति ठीक है और सब गलत है। ऐसा भ्रम मिट जायगा।

सुसाध्य चिकित्सा होगी, दुःसाध्य, कष्टसाध्य कम होगा, असाध्य जैसी बात न रहेगी।

—उसके लिये वेद बड़ा प्रदीप है। सामान्यतया किस जगह किस प्रकार की चिकित्सा करना, आर्यावर्त के लिये वेद में से मिलेगा। वही 'ॐ तत्सत् इति निर्देप—जैसा पूर्ण होगा। अग्नि उपासना' वायु और जल की उपासना का उसमें बड़ा भारी वर्णन है।

—एक ये भी बात है कि आर्यावर्त में नवजात शिशुओं को सर्व प्रथम जो सुवर्ण भस्म, मौक्तिक भस्म, कुंवार रस, विडङ्ग चूर्ण, घृत, मधु इत्यादि धारण दिया जाता है, वह भी वेद प्रणीत एक संस्कार का विधान ही है।

—इस रीति से जो शिशुओं को प्रायः रक्खा जाता है। सामान्यतया, शत जीव, भागी होता है। फिर भी यज्ञ चिकित्सा की अपेक्षा यज्ञ मय जीवन बनाना अनिवार्य है।

> मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात।
> ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥
>
> (अथर्व० का० ३ अनु० ३ सूक्त० ११ मं० १)

—फिर भी यदि प्राणोत्क्रमण हुआ तो नवजीवन के लिए इस प्रकार की चिकित्सा से कष्ट भय का भान न होगा। सुख का प्रकाश होगा और प्राणोन्नत्ति होगी, क्योंकि आखीर तो ये एक प्रकार से प्राण का प्रसव काल ही है न!

पुनरपि वही बात कि—व्यवस्थित सुचिकित्सा ही जीव समुदायों को यथार्थ रूप में सहाय दे सकती है।

---

# क्षय के विभिन्न स्थान

लेखक— श्री० कविराज अशोककुमार जी आयुर्वेदालंकार, मुलतान ।

क्षय रोग उन भीषणतम व्याधियों में से है जिनका नाम सुनकर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आम जनता में चिरकाल से यह धारणा रही है कि यह असाध्य व्याधि है और एक बार जिसका दामन पकड़ लेती है उसके जीवन का क्षय (नाश) किये बगैर उसे नहीं छोड़ती। सम्भवतः इसी भाव से इसका ऐसा नामकरण किया गया है।

इस व्याधि का अगर इतिहास देखा जाए तो ज्ञात होगा कि प्राचीन समय में जब भारतीय समाज सादा खान-पान, खुली हवा का सेवन, नैतिक व्यायाम आदि बातों की ओर विशेष ध्यान देता था तब इस भीषणतम व्याधि का शिकार कोई विरला ही व्यक्ति होता था। परन्तु ज्यों २ भारतीय समाज इन नियमों का उल्लंघन करता गया, आवश्यक भोजन, उचित शुद्धता की उपेक्षा की जाती रही, भारतवर्ष में इस व्याधि की वृद्धि होती गई। एक समय था जब दूसरे देशों में असाधारण रूप पर इस व्याधि का प्रसार था परन्तु राज्य की ओर से जनता के स्वास्थ्य और सफाई का प्रबन्ध होने पर धीमे २ ऐसे केसों की संख्या घटती जा रही है परन्तु भारतवर्ष में अभी तक भी इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया, शहरों का तङ्ग जीवन, घरेलू चिन्तायें, जीवन शक्ति (विटामीन) हीन भोजन, सार्वजनिक अस्वच्छता, मनोरंजनाभाव इन सबने मिलकर भारतीय युवक को बहुत ही दयनीय एवं क्षयादिक व्याधियों का दास बना दिया है।

क्षय रोग पर प्राचीनकाल से अनुसंधान किया जा रहा है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों चरक सुश्रुतादिक में इसका अच्छा वर्णन पाया जाता है। जैसा कि उपरोक्त भूमिका से स्पष्ट है कि जीवन की इन आवश्यक मूल बातों के अभाव में शारीरिक जीवनीय शक्ति (Vital force) अतः शक्ति की क्षीणता के कारण क्षय के कीटाणु के प्रवेश से इस रोग की उत्पत्ति होती है। नवीन एलोपैथिक विज्ञान भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। लेकिन क्षय के कीटाणु कितनी दूर तक अपना असर करते हैं, शरीर के किन विभिन्न स्थानों में जाकर क्या उपद्रव उत्पन्न करते हैं इस विषय में एलोपैथी ने अच्छी खोज की है।

क्षय का मुख्य स्थान फुफ्फुस (Lungs या श्वास वाहिनी नालियां मानी गई हैं। शरीर की विभिन्न लसीका ग्रन्थियाँ Lymphatic Glands में भी क्षय के कीटाणु Tubercle Bacilli अक्रिय रूप में रहते हैं और जब उपरोक्त कारणों से शारीरिक वातिक क्षीणता हो जाती है तब फुफ्फुस में प्रवेश करके फुफ्फुसीय क्षय रोग (Pulmonary Tuberculosis का कारण बनते हैं। यही क्षयरोग *विशेषतया पाया जाता है शरीर के अन्य* विभिन्न उपद्रवों का मूल कारण भी यही बनता है।

इस रोग का प्रारम्भ अधिकतया हलके रूप में होता है और कालान्तर में यह रोग उद्बुद्ध होता है इसलिये इसे चिरस्थाई उर.क्षय रोग कहते हैं।

प्रारम्भ में बहुत धीरे २ छोटी २ श्वास नालियों के प्रान्त भाग मे शोथ आरम्भ होता है और यह शोथ धीरे २ शिखर की अन्यान्य श्वास नालियों में भी फैल जाती है। रोग भिन्न २ व्यक्तियों में भिन्न २ रूपों मे आरम्भ होता है। किसी २ रोगी में इसका आरम्भ साधारण अस्वास्थ्य से होता है अर्थात् शरीर की शक्ति घटती जाती है, कुछ पांडुता रहती है। हृदय थोड़े श्रम से धड़कने लग जाता है भार बढ़ता नही और कभी २ सायंकाल के समय हाथ पेर में कुछ गर्मी सी प्रतीत होती है। किसी २ व्यक्ति में प्रतिश्याय के वेग होते हैं। थोड़े थोड़े समय के बाद प्रतिश्याय या श्लेष्म ज्वर का वेग होकर और व्यक्तियों के समान जल्दी न हटकर कई दिनों तक बना रहता है इसी प्रकार किसीज्वर ( जैसे-श्लेष्मज्वर, खसरा, कास-ज्वर ( Broncho Pneumonia ), आंत्र-ज्वर ( Typhoid ) से मुक्त होने के बाद भी यदि रोगी निर्बल और कृश बना रहे और उसे हलका २ सा ज्वर आता रहे तो उसमे भी इसी रोग का संदेह करना चाहिये। यदि किसी व्यक्ति को खांसी बनी रहे और महीनों या वर्षों तक खुश्क खांसी उठती रहे। विशेषतया रात्रि के समय और रात्रि में भी प्रातःकाल के समय-उस में चाहे विशेष कफ स्राव न भी हो अथवा पतला सा झागदार कफ निकले और ऐसा रोगी 'युवक या युवती हो तो इस रोग का संदेह कर लेना चाहिए। कभी २ एक सर्वथा स्वस्थ व्यक्ति को निष्कारण सहसा रक्त की वमन हो जाती है और उसके बाद भी थूक के साथ रक्त आता रहता है। इस रक्त वमन से उरःक्षय रोग का संदेह करना चाहिये। फुफ्फुस मे विद्यमान क्षय के अंकुरों के आस पास रक्त का अधिक संचय हो जाने से और किसी अंकुर के फूट जाने पर यह रक्तस्राव हो जाया करता है। १० प्रतिशत के लगभग रोगियों में यह रोग इसी तरह प्रारम्भ होता है कई रोगियों में यह रोग पार्श्व शूल के लक्षण से आरम्भ होता है। छाती के एक पार्श्व में मन्द २ शूल रहती है। थोड़ी सर्दी लग जाने, थोड़ी वर्षा पड़ जाने वा स्वल्प से कारण से सांस के साथ ये पार्श्वशूल के दौरे होते रहते हैं। फुफ्फुसावरण मे क्षय के अंकुरों के उत्पन्न हो जाने से यह रोग प्रारम्भ होता है। कई रोगियों में श्वास काठिन्य या थोड़ा चलने से श्वास का फूल जाना इस रोग का प्रारम्भिक लक्षण है। जब फुफ्फुस के किसी एक भाग की श्वास नालियों में क्षय रोग जन्य शोथ हो जाये और फुफ्फुस का वह भाग सांस मे भली प्रकार भाग न लेता हो तो सांस फूलने लगता है जिससे पूर्ववत् शारीरिक श्रम करने की शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार यदि किसी रोगी को भूख न लगती हो, अग्निमांद्य व अरुचि हो, आध्मान रहता हो और इन लक्षणों के साथ शरीर का वजन घटता जाता हो तो भी इस रोग का संदेह करना चाहिये। यदि अग्निमांद्य के लक्षणों के साथ भार न घटता हो तो इस रोग का संदेह नहीं होता। कई रोगियों में सायकाल हलका सा ज्वर हो जाता है और यदि ऐसा ज्वर कुछ काल तक निरन्तर वा ठहर २ कर होता रहे और रोगी का भार भी घटता हो तो भी इस रोग का संदेह होजाना चाहिये और यदि श्रम करने से यह ज्वर हो जाता हो अर्थात् जिस दिन श्रम किया जाये उस दिन साय ज्वर हो और जब श्रम न करें तो ज्वर न हो तो इस रोग का सन्देह करना चाहिए। साथ ही रोगी का प्रातः वा सायं का ताप परिमाण देखने से यह प्रतीत हो कि प्रातः का तापमान

साधारण से बहुत नीचे या साय ४ से ६ के बीच रहता है और इस प्रकार प्रात वा सायं के ताप परिमाण में अधिक अन्तर है तो इस रोग का सदेह करना चाहिये। विशेषतया यदि दो तीन मील चलने से १ डिग्री ताप परिमाण बढ़ जाये और १२ घण्टे लेटने पर भी बना रहे तब तो इस रोग का प्रबल सदेह करना चाहिये। स्त्रियों में या बालकों में यदि साय तापमान ९९ भी हो तो भी रोग का सदेह न करना चाहिये क्योंकि उनमें ताप मान कुछ स्वाभाविक अधिक रहता है। आर्तव के समय या पहिले भी ताप परिमाण कुछ अधिक रहता है। जब कभी रोगी को रात्रि के समय स्वेद आये अर्थात् सायकाल का ज्वर उतरते समय यह स्वेद आये तो भी इस रोग का सदेह हो सकता है। यदि किसी रोगी को कुछ २ काल के बाद विषम ज्वर के से ज्वर के तीव्र आक्रमण हों सर्दी लगकर तापमान १०२ हो जाये पसीना उतर आए और ऐसा कुछ २ विषम दिनों के अन्तर से हो तो मले रिया नहीं समझना चाहिये। इसके बीच के दिनों की अवधि नियमित होती है। इसी प्रकार यदि किसी रोगी की नाड़ी संख्या ८० से अधिक हो, हृदय थोड़े श्रम से धड़कने लगे, रक्त का दबाव १०० से कम हो तो भी इस रोग का सदेह करें। गण्ड माला या कान के पीछे ग्रीवा के एक पार्श्व की लसीका ग्रन्थियां फूली हुई हों कभी २ ज्वर आता हो तो भी क्षय रोग के शीघ्र हो जाने की संभावना है ऐसा समझ लेना चाहिये। कई नवयुवकों या युवतियों में इस रोग के साथ प्रारम्भ में उदासीनता का रोग या वातिक नैर्बल्य के चिह्न अधिक स्पष्ट होते हैं। ऐसे नवयुवक या युवती उदासीन दुखी या एकान्तप्रिय ध्यानशील हो जाते हैं। कइयों में वासना मैथुनेच्छा या ऐसी विशेष अस्वाभाविक बातें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी २ को भयङ्कर स्वप्न आने लगते हैं और अपना अनिष्ट दीखता है। किसी २ को सब पदार्थों में दोष दीखने लगा है। भोजन सम्य-धी-पान के व्यक्तियों में दोष की भावना होने लगती है। नवयुवतियों में आर्तवनाश वा मन्दता की शिकायत युवकों तथा युवतियों के मूत्र में फास्फेट आते हैं जिससे शरीर की क्षीणता का पता लगता है। कई निर्बल या पाण्डुर होते जाते हैं और उनकी आखों का धवलिमा बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है। किसी २ में सहसा न्यूमोनिया होना सा प्रतीत होता है पर वास्तव में वह भी क्षय रोग होता है। कभी २ स्वर भङ्ग होकर या साथ यह रोग होता है पर प्रायः स्वरभङ्ग इस रोग का एक उपद्रव होता है। बूढ़े व्यक्तियों में कई बार उर क्षय का पता ही नहीं चलता लोगों को विश्वास है कि बूढ़ों में यह होता ही नहीं। कई में वो खांसी रहती है पर वास्तव में यह क्षय रोग होता है। अत किसी वृद्ध आदमी को खांसी होकर बनी रहे, बल गम गिरता रहे और निर्बलता बढ़ती जाती हो ज्वर भी होने लगे तो यही रोग समझें।

इसका दूसरा रूप आन्त्रिक क्षय रोग है। इसमें या तो (१) प्राथमिक आन्त्रिक संक्रमण (२) औपसर्गिक रूप से आन्त्रिक संक्रमण (३) अन्त्र च्छदाकला से आन्त्रिक संक्रमण (४) प्राथमिक आन्त्रिक ग्रन्थियों का संक्रमण (५) प्राथमिक अन्त्र च्छदाकला का संक्रमण। इन उपरोक्त द्वारों से क्षय के कीटाणु आन्त्रों में पहुंच कर आन्त्रक्षय रोग उत्पन्न करते हैं। शुरू २ में साधारणतः

कभी २ उदरामय, मामूली हरारत और पेट में दर्द के सिवाय और कोई लक्षण नहीं मिलता। कभी-कभी सहसा रक्तस्राव या रक्तातिसार दिखाई पड़ता है। जिसकी वजह निर्णय करना प्रथमतः दुःसाध्य होता है। जब तक रोगी का बल मांस क्षय नहीं होता तब तक चिकित्सक को भी क्षय रोग का संदेह नहीं होता। साधारणतः कोष्ठबद्धता या अतिसार ( प्रायः कर अतिसार ) से रोगी को तकलीफ रहती है। बद्धकोष्ठ रोगी धीरे २ जीर्ण वा दुर्बल होते जाते हैं। अतिसार के समय पहिले पहल पेट में सामयिक मामूली दर्द और बाद में लगातार दर्द होता है। नाना ढङ्ग का अति दुर्गन्ध युक्त पाखाना होता है। हर समय साधारण ज्वर रहता है और कभी-कभी १०२° या १०३° तक पहुंच जाता है। कभी २ यह ज्वर इतना न्यून होता है कि दिन में तीन चार बार ताप परिमाण देखे बगैर ज्वर का पता नहीं लगता। पेट में आध्मान हो जाता है। पतला दस्त बराबर होता रहता है। और रोगी का मांस क्षय तथा दुर्बलता होनने का कारण होते हैं। रोगी क्रमशः रक्त शून्य होकर पाण्डु वर्ण होजाते हैं।

इसमें दक्षिणकुक्षि में दर्द रहता है। पेट में गुल्म पिण्डवत् सरस पदार्थ अनुभव होता है। कभी वह स्थिर तथा दृढ़ कभी २ मामूली हिलता जुलता और कुछ नरम सा मालूम होता है। जिस क्षेत्र में पेट वायु से भरा रहता है या आन्त्रच्छदाकला आक्रान्त होने की वजह से प्रदाह पैदा होता है वा पेट में स्राव जम जाता है। उस जगह में सम्मिलित आन्त्रिक ग्रन्थियों या आन्त्रों से पैदा हुआ वह कठिन पदार्थ अनुभव करना मुश्किल होता है। आन्त्रच्छदाकला के आक्रमण में उसके प्रदाह से पैदा हुआ जो स्राव होता है वह जलीय या रक्त हो सकता है, जो पेट में जम जाने से उदर रोग पैदा करता है। धीरे २ रोगी का हृत्पिण्ड भी दुर्बल होजाता है। जिस कारण से और पेट में जल रहने की वजह से रोगी को श्वास कष्ट का अनुभव होता है।

आंत्रच्छदा कला प्रदाह का कोई कार्यकारी लक्षण प्रकाशित न होकर गुप्तरूप से यह बीमारी होसकती है। सहसा आक्रमण बहुत कम होता है और होने से खतरनाक भी है। शस्त्र क्रिया के बाद रोग निर्णय सरलता से होता है। जहां यह धीरे २ शुरू होता है वहां पेट में मामूली दर्द जैसे उदर वायु से भरा हुआ होता है और हरारत हुआ करती है, जिससे पहिले पहल आंत्रिक ज्वर का भ्रम पैदा होता है आन्त्रच्छदा कला के प्रदाह में पेट में स्राव संचित होना अति साधारण है मगर स्राव बहुत कम क्षेत्र में होता है, जो कि जलीय या रक्तमय दोनों प्रकार का होता है पर जलीय स्राव ही ज्यादा होता है। पेट का आकार बढ़ जाना स्वाभाविक है। वायु पूर्णतया शुरू से ही रहती है और पहिली हालत साधारणतः आन्त्रों की अङ्ग शिथिलता से ही पैदा होती है। पुरानी अवस्था में वायु का पैदा होना, आन्त्रों की कर्म हीनता या शक्ति हीनता से ही होता है। तरुण अवस्था में ज्वर ताप बहुत बढ़ जाता है और १०३° या १०४° तक देखा जाता है। लेकिन पुरानी अवस्था में ज्वर कम होता है।

बहुत दिन तक अतिसार या कोष्ठबद्धता रहना साथ ही साथ रोजाना थोड़ा बहुत ज्वर होजाना, पुष्टि का अभाव और बल मांस क्षय देखने से ही

यक्ष्मा बीजाणुओं के संक्रमण का संदेह होना चाहिये। विशेषतः फुफ्फुस में यक्ष्मा का आक्रमण रहने से या गले में गिल्टियां देखने से रोग निर्णय में असुविधा नहीं होती है। अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से मल परीक्षा करने से यक्ष्मा बीजाणुओं का पता लग सकता है। X-ray इस रोग का निर्णय करने में सहायक होती है। शुरू से ही उसकी सहायता लेने से पहिली ही हालत में रोग निर्णय सम्भव होता है।

क्षयरोग के इन मुख्य दो भेदों के अतिरिक्त निम्न स्थानों में भी क्षय का प्रकोप हो सकता है।

(१) नाक (Nose)
(२) श्वास पथ (Pharynx)
(३) कण्ठ (Larynx)
(४) आन्त्रिकग्रन्थियां Ileo-Caeacal Glands)
(५) सन्धि (Joints)
(६) वृक्क (Kidneys)
(७) लसीकाग्रन्थियां (Lymphatic Glands)
(८) वक्ष ग्रन्थियां (Mediastinal Glands)
(९) आन्त्रपटलग्रन्थियां (Mesenteric Glands)
(१०) उदरकला (Peritoneum)
(११) त्वचा (Skin)
(१२) सुषुम्ना (Spine)
(१३) प्लीहा (Spleen)
(१४) जिह्वा (Tongue)
(१५) मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क

(Miliary or Letomeningits)

## नासाक्षय रोग–

यह बहुत कम मिलता है। और प्रायशः त्वक् रोग के रूप में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है और १५ से ३० वर्ष की आयु में होता है। इसमें नासापटल का सम्मुख भाग और नासास्थि का निचला हिस्सा ग्रस्त होते हैं। इसमें सेव के गूदे के समान क्षय के दाने पाये जाते हैं। परिणामतः नासापटल बीच में से फट जाता है। यह बीमारी बहुत धीरे २ फैलती है। यदि समय पर चिकित्सा की जाए तो आराम होसकता है।

## श्वास पथ क्षय रोग–

औपसर्गिक संक्रमण के परिणाम रूपेण होता है और फिरङ्ग रोग व्रण के समान इसमें भी व्रण होजाते हैं और श्वासपथ की श्लेष्मकला सूजी हुई तथा "कृमिभक्षित" सी प्रतीत होती है जिसको छीलकर देखने पर क्षय कीटाणु पाये जा सकते हैं। यह रोग भी धीरे २ वृद्धि करता है।

## कण्ठ क्षय–

कण्ठ क्षय रोग का सन्देह तभी होता है जब कि रोगी हमेशा गले की खुश्की या खुरदरेपन की शिकायत करता है। इसमें श्लेष्म कला के पीलेपन के साथ २ उपर्युक्त ग्रन्थियों की शोथ का लक्षण भी मिलता है। असमानाकृति धीरे २ बढ़ने वाले और उभयपार्श्वी व्रण भी पाये जाते हैं। लेकिन वर क्षय रोग का साथ होना जरूरी होता है।

## लसीका ग्रन्थि क्षय–

प्रायशः बच्चों को होता है। इसमें अधिकतौर पर गले की ग्रन्थियां ग्रस्त होती हैं। जिसे हम गण्डमाला के नाम से कहते हैं। ग्रन्थियां सूजकर बढ़ जाती हैं। पहिले पहल एक आध ग्रन्थी प्रभावित होता है। बाद में साथ की दूसरी ग्रन्थियों में भी संक्रमण होकर वे भी सूज जाती हैं। यह

शोथ फैल कर विद्रधि का रूप धारण कर लेती है और अन्त में फट कर अन्दर का द्रव निकल जाता है और व्रण रह जाता है। इस विद्रधि के साथ २ रोगी को सामान्य ज्वर (जो कि प्रायशः सायंकाल ९९° तक जाता है) रहता है। अग्निमांद्य तथा शक्ति क्षीणता की शिकायत बनी रहती है।

आन्त्रिक ग्रन्थि क्षय, आन्त्र पटल ग्रन्थि क्षय, तथा उदरकला प्रदाह क्षय ये सम्मिलित विषय है। जो कि प्रायशः अन्योन्याश्रयी रोग है। पहिले आन्त्रिक ग्रन्थियों में क्षय होकर आन्त्रपटल में संक्रमण हो जाता है। और फिर उदरकला प्रदाह क्षय रोग हो जाता है। यह २ वर्ष के नीचे की आयु में कभी नहीं होता। परन्तु २ वर्ष के बाद से लेकर ऊपर की आयु में बहुत होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। क्षय के कीटाणु दूध आदि के अपचन के द्वारा आन्त्रों में प्रविष्ट होजाते हैं। यदि भोजन प्रणाली की श्लैष्मकला अस्वस्थ हो तो शीघ्र ही संक्रमण हो जाता है। संक्रमण बहुत धीरे २ होता है और कई महीने लग जाते हैं। शनैः २ मुख और धड़ क्षीण होते जाते हैं। पाण्डु, आंखों का खुले रहना, ज्वर का आक्रमण और कभी २ उदरामय की शिकायत होने लगती है। इसके मुख्य लक्षण बढ़ा हुआ उदर होता है जिसे टटोलने पर ढोल की आवाज सुनाई पड़ती है। इसके तीन मुख्य भेद हैं। (१) जलोदराकृति (२) संश्लिष्ट (३) सिस्टाकृति।

प्रथम भेद में रोगी को थोड़ी पीड़ा होती है। और जलोदर भी उपस्थित रहता है। यदि सूचीवेध से उदर से द्रव निकाल कर परीक्षा की जाए तो उसमें प्रोटीन की अधिकता और श्वेतकण पाये जायेंगे।

संश्लिष्ट भेद में आन्त्र और उदरकला संश्लिष्ट हो जाती है। अतिसार या मलबन्ध के दौरे होते हैं। आन्त्रावरोध के भी कुछ चिह्न मिलते हैं। दर्द और स्पर्शाक्षमता के लक्षण बहुत स्पष्ट होते हैं। और स्पर्श करने पर संश्लिष्ट मांस अनुभव होता है। इस तरह संश्लिष्ट पटल यकृत के सिरे पर एक अर्बुद के रूप में नजर आता है।

Cyst की आकृति में भी संश्लिष्ट पटल होता है लेकिन बीच में द्रव पूरित सिस्ट का अनुभव होता है. सन्तत ज्वर की आम शिकायत रहती है। और उस ज्वर को देख कर कई बार आन्त्रिक ज्वर का सन्देह होजाता है।

आन्त्रिक ग्रन्थियों के क्षय में रोगी सदा अस्वस्थ बना रहता है। और स्थानीय वेदना की शिकायत रहती है जिसका भ्रम अन्त्रपुच्छ शोथ से होता है।

## सन्धि क्षय रोग—

सन्धि क्षय रोग का कारण क्षत होकर क्षय कीटाणु का संध्यावरण में संक्रमित हो जाना है। संध्यावरण के द्रव को निकालकर परीक्षा करने पर उनमें स्पष्टतया क्षय के कीटाणु पाये जाते हैं। यह व्याधि प्रायशः बच्चों में होती है यद्यपि बड़ी उम्र वालों में भी विनाशक रूप देखे जाते हैं। यद्यपि इसकी उपेक्षा की जाय तो यह व्याधि दूसरे अवयवों में भी प्रविष्ट होजाती है, यह व्याधि धीरे २ होती है। विशेष स्थान कटि और जानु सन्धियां हैं। यद्यपि दूसरी सन्धियों में भी संक्रमण हो

सकता है। इसमें विशेषतौर पर रोगी को हलकी वेदना होती है, जिससे लगड़ापन होजाता है प्रायशः यह वेदना जानु प्रदेश में होती है कभी २ कटि में भी होजाती है। सन्धि सूज जाती है और स्पर्श करने पर पिलपिली प्रतीत होती है। यदि इलाज न किया जाय तो विद्रधि का रूप धारण कर लेती है।

## वृक्क क्षय–

वृक्क क्षय का रोग प्राय: कर औपसर्गिक संक्रमण के परिणाम रूपेण होता है। साधारणतः उत्पादक अङ्गों का क्षय साथ ही होता है। कभी २ दोनों ही वृक्क ग्रस्त होते हैं। इसमें भेदक लक्षण (१) पेशाब का बहुत बार २ आना, कभी २ साथ में दर्द भी होता है। (२) ६०% केसों में पेशाब के साथ खून भी आता है, (३) कटि प्रदेश में हलका २ दर्द होता है। (४) बारे की तरह एक दिन छोड़ कर बुखार भी आता है (५) मूत्र अम्लीय होता है और इसमें कुछ एल्ब्युमीन पस और रक्ताणु होते हैं क्षय कीटाणु भी मूत्र के तलछट में पाये जा सकते हैं (६) यदि मूत्रनली परीक्षक यन्त्र से मूत्राशय की परीक्षा की जाय तो एक मूत्रवाहिना ( Ureter ) के मुह पर कुछ व्रण तथा शोथ पाये जायेंगे।

## वक्षग्रन्थि क्षय–

यह बहुत कम पाया जाता है। इसमें मुख्य तौर पर वक्ष ग्रन्थियां सूज जाती हैं और उनमें बहुत तीव्र वेदना होती है और उसके ऊपर के प्रदेश में शोथ और लालिमा फैली हुई होती है ज्वर भी बना रहता है जो कि बारे वाला होता है। इसमें रोगी को शीत लगकर बुखार आता है और पसीना आकर बुखार उतरने के साथ २ बहुत क्षीणता आ जाती है। रक्त परीक्षा करने पर श्वेत कणों की स्पष्ट वृद्धि नजर आती है।

## त्वक् क्षय–

प्रायःकर या तो किसी समीपस्थ संक्रामित अस्थि या ग्रन्थि के द्वारा यह त्वचा में पहुंच जाता है इसलिये सदा जीर्ण रूप में होता है। इस तरह के व्रण, फिरङ्ग रोग के व्रणों के समान होते हैं यद्यपि गोलाकृति नहीं होते। इसके शिकार बच्चे ही होते हैं बड़ी उम्र में बहुत कम यह बीमारी होती है।

दूसरी अवस्था वह होती है जिसमें शारीरिक बात शक्ति की क्षीणता के कारण बाहर से ही क्षय के कीटाणु छिन्न त्वचा के भागों में छिपकर अपना घर बना लेते हैं और धीरे २ फैलते जाते हैं यह व्याधि शरीर के किसी भी भाग में हो सकता है परन्तु अधिकतर गले और मुंह पर ज्यादा होते हैं जब कि सिर पर बिलकुल नहीं पाई जाती। यह व्याधि भी बच्चों में ही होती है और २० वर्ष के बाद नहीं पाई जाती। इसके व्रणों की विशेषाकृति होती है ये छोटे दाने से लकर बहुत विशाल भी होते हैं। क्षय के दानों के उभार और चारों तरफ तात्विक शोथ इसके विभेदात्मक चिह्न हैं शारीरिक क्षीणता, कभी २ ज्वर आ जाना आदि इसके साथ साथ रहते हैं।

## सुषुम्ना–

नवीन विज्ञान में यह व्याधि "पौट की बीमारी" ( Potts Disease )" के नाम से मशहूर है। इस व्याधि में सुषुम्ना में थोड़ा सा मड़ाव होता है जो

कि शुरू में नजर नहीं आता इससे कमर में दर्द रहता है जोकि खड़े होने पर बढ़ जाती है। X'Ray की परीक्षा होने पर ही व्याधि का ज्ञान हो सकता है

## प्लीहा–

यह औपसर्गिक रूपेण होता है प्रायःकर उरः-क्षय रोग के बाद क्षय कीटाणु प्लीहा में जमा होकर प्लीहा का रूप धारण कर लेते हैं। प्लीहावरण में भी शोथ हो जाती है इस रोग के परिणाम रूपेण स्थानीय शोथ, वेदना और Polycytheamia होता है।

## जिह्वा–

के क्षय रोग जन्य सामान्य तौर पर नहीं मिलते ! वे उथले होते हैं और इनमें से पीला स्राव निकलता रहता है अगर जिह्वा को थोड़ा खुर्च कर उसकी परीक्षा करें तो उसमें क्षय कीटाणु पाए जाते हैं। ये व्रण भी औपसर्गिक होते हैं और गले या फुफ्फुस में क्षयरोग की व्याधि जीर्ण होने पर ही फैलते हैं।

मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क क्षय रोग—

यह दो तरह का होता है एक तो फुफ्फुसीय और दूसरे आंत्र ज्वर सदृश।

## फुफ्फुसीय–

यह व्याधि धीरे २ होती है कुछ सप्ताह पहिले ही शारीरिक क्षीणता के चिह्न स्पष्ट हो जाते हैं। तापमान प्रातः नार्मल तथा सायंकाल १०१ से १०४° तक हो जाता है। ज्यों २ व्याधि जीर्ण होती जाती है ज्वर संतत रूप धारण करता जाता है। कई केसों में इसके विपरीत सवेरे अधिक और शाम को कम तापमान होता है। रात्रि स्वेद तथा कास भी हैं जिसमें पूय मिश्रित स्राव निकलता है। श्वासाव-रोध के साथ २ चेहरे का नीला पड़ जाना हो जाता है जो कि इसका खास लक्षण है ३ या ४ सप्ताह में या तो यह आंत्र ज्वर का रूप धारण कर लेता है या फिर मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण हो जाते हैं।

प्रारम्भ में कास रोग और आर ज्वर से भेद करना बड़ा कठिन होता है परन्तु शारीरिक क्षीणता श्वासावरोध के साथ २ चेहरे का नीला पड़ जाना, तापमान का विशेष रूप से बलगम में क्षय कीटाणु पाया जाना।

आन्त्र ज्वर वाले रूप में रोगी शुरू में सिर्फ आलस्य एवं शरीर टूटने की शिकायत करता है। जिसके साथ संतत ज्वर और श्वास नाली शोथ होते हैं। प्रातःकाल तापमान सामान्य और शाम को २–३ डिग्री बढ़ा हुआ होता है कभी २ सवेरे अधिक और शाम को कम होता है। रोगी का शिर भारी रहता है और यह शिकायत बढ़ती चली जाती है और थोड़े दिनों में उसको प्रलाप की शिकायत हो जाती है। पहिले पहल यह शिकायत रात को होती है। संतत ज्वर की शिकायत अन्त तक बनी रहती है, श्वास संख्या भी बढ़ी रहती है कास भी बनी रहती है यद्यपि स्पष्ट रूप में कोई चिन्ह नजर नहीं आता परन्तु मस्तिष्क की नाड़ियों का पक्षाघात उदरकला शोथ तथा फुफ्फुसावरण शोथ के चिन्ह नजर आते हैं। X'Ray परीक्षा करने पर सहायता मिल सकती है।

मस्तिष्कावरण क्षय भी मस्तिष्क क्षय रोग का रूप है। यह पांच साल के बच्चों में सामान्य तौर पर होता है और पारिवारिक क्षय रोग की प्रवृत्ति के परिणाम रूपेण होता है आंत्रिक क्षय

ग्रन्थियां वक्ष क्षय ग्रन्थि फटने पर संक्रमण शिरा के द्वारा पहुंच जाता है।

इस व्याधि में बहुत दिनों तक बच्चों को भूख नहीं लगती और वे धीरे २ सूखते जाते हैं यहां तक कि वे बिलकुल पीले और अक्रिय हो जाते हैं। बच्चों के लिये यह व्याधि प्रायः घातक होती है और थोड़े दिनों से लेकर तीन सप्ताह में रोगी मृत्यु का शिकार हो जाता है लेकिन बड़ों में पांच से १२ सप्ताह का कोर्स देखा गया है।

इस व्याधि की ४ स्थितियां मानी जा सकती हैं (१-२) इसमें कड़ापन सिर दर्द, वमन होते हैं (३) इस स्टेट में ऊंघते रहना, पेट का तनाव घुटनों के झटकों का न होना ( Knee Jerk ) हो जाते हैं। (४) यह अन्तिम अवस्था है इसमें दीर्घ मूर्छा हो जाती है और आत्म नियन्त्रण का अभाव हो-जाता है।

इस तरह इस छोटेसे लेखमें मैंने क्षयके विभिन्न रूपों को दिखाने का प्रयत्न किया है। नवीन चिकित्सा विज्ञान अभी भी इसके अनुसन्धान में लग्न है। आयुर्वेद इसमें कोई शक नहीं कि मानव समाज के लिये सबसे अधिक उपयोगी एवं पुरातन चिकित्सा शास्त्र है। लेकिन हमें इस विषय में अभी भी गहन अन्वेषण एवं अनुसंधान की आवश्यकता है।

# वेदों में-राजयक्ष्मा

लेखक--कविराज महेन्द्रनाथ राय बी० ए० शास्त्री, वैद्यवाचस्पति, ए० आर० पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज, बम्बई।

महर्षि दयानन्द का ही नहीं अपितु प्रत्येक प्राचीन आचार्य का मत है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वस्तुतः ज्यों २ वेदों का अधिकाधिक स्वाध्याय किया जाये त्यों २ इस सिद्धान्त को सत्यता प्रगट होती जाती है। सूत्र रूप में वेदों में सब विद्यायें विद्यमान हैं, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। आज हम पाठकों के सामने राजयक्ष्मा विषयक कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं जिससे हमारे कथन की सत्यता स्पष्ट प्रतीत होगी। सूक्त के सूक्त विशेषकर अथर्व वेद में विविध व्याधियों के वर्णन में दिये गये हैं। यह लेख को लेशमात्र ही दिग्दर्शन कराता है।

पाठकों की जानकारी के लिये यह कहना अप्रसङ्गिक न होगा कि वेद मन्त्रों के जो अर्थ यहां किये गये हैं वह कपोल कल्पित नहीं हैं अपितु सायण, उव्वट, महीधर, महर्षि दयानन्द, जयदेव वेदालङ्कार आदि के भाष्यों के आधार पर किये गये हैं। अस्तु! प्रकरणम नुसरामः।

## यक्ष्मा की उत्पत्ति-

अनेक कारणों में एक कारण नीचे के मन्त्रों में बताया गया है। वेदों में चरकादि के समान चन्द्रमा के क्षय की कहानी नहीं मिलती है। नीचे लिखे मन्त्र अथर्व वेद कांड ७ सूक्त ७६ के हैं। इनमें रोग का अधिष्ठान तथा स्वरूप भी बतलाया गया है।

> यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
> नि र्हास्तं सर्वं जायान्यं नःकश्च ककुदिश्रितः ॥

जो रोग (कीकसाः) पसलियों को तोड़ता है, तथा जो रोग (तलीद्यं) फेफड़ों में जाकर बैठता है, तथा जो कोई रोग (ककुदि) गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी जम जाता है। उस (जायान्य) स्त्री सम्भोग जन्य प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा (निरहाः) शरीर के प्राण के बल (रोग क्षमता शक्ति) से निकाल दो।

यक्ष्मी के बल को बढ़ाओ और स्थिर रक्खो। यही तो यक्ष्म चिकित्सा का मूल मन्त्र है।

## यक्ष्मा का संक्रमण-

> यक्ष्मी जायान्यः पतति स आविशति पुरुषम् ।
> तद क्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ७-७६-४अथर्व०

अर्थ—स्त्रियों से प्राप्त (अति मैथुनादि द्वारा) राजयक्ष्मा रोग पक्षी के समान (पतति) उड़ २ कर एक दूसरे में सचार कर जाता है। वही पुरुष (भोग के समय) के शरीर में (आविशति) धीरे २ आ-वेंठता है।

यक्ष्मा के संक्रमण को रोकने का उपाय—

> विद्मवैते जायान्य जानं य तो जायान्य जायते ।
> कथ ह तत्र त्वंहनो यस्य कृण्मो हवि गृहे ॥
> अथर्व ७-७६-५

अर्थ--हे क्षय रोग! तेरे उत्पन्न होने के विषय में हम निश्चय से जानते हैं कि तू (य तो जायान्य जायसे) जहां से उत्पन्न होता है और जिस प्रकार हानि कर सकता है (अर्थात् क्षय का कारण एवं संक्रमण आदि के विषय ईश्वर ने वेदों में ऋषियों

*निश्चित ज्ञान का प्रकाश किया है।* किन्तु ( कथह स्व तन्न हनो) किस प्रकार तू वहा हानि कर सकता है जहा ( यस्य कृएमो हविर्गृहे ) या जिस घर में विद्वान लोग प्रतिदिन हवि औषधियां द्वारा हवन करते हैं अर्थात् विसक्रामक औषधिया ( Disinfective & antiseptic ) से हवन द्वारा यक्ष्मा के सक्रमण को दूर रक्खा जाता है।

यक्ष्मा के विष ( Toxin ) का वर्णन—

> ये अगानि मन्यन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
> यक्ष्माणां सर्वेषां विष निरोाच मद॥ अथर्व ६ ८ १६

अर्थ—ये यक्ष्मास ये जो यक्ष्म रोग जनक पदार्थ तुम्हे (रोपण) मूर्छा उत्पन्न कर (मदयन्ति) और कपकपी उत्पन्न करे उन सब यक्ष्माणा सर्वेषा विष सब प्रकार के यक्ष्म रोगों के विषों को—त्वत् निरवोच तेरे शरीर से निकालता हू। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र वेत्ता अच्छी तरह जानते हैं कि ( Toxin ) विष सचार में प्रलाप कम्प ( Shivering ) और ( Delirium ) मुख्य लक्षण हैं।

## यक्ष्मा के लक्षण—

निम्न मन्त्रों में न केवल यक्ष्मा के कुछ विशेष लक्षणों का ही वर्णन किया गया है अपितु अधिष्ठान भेद से स्थान विशेष के लक्षणो का भी वर्णन है और यक्ष्मा के प्रसार का भी।

> या सीमान विरुजन्ति मूर्धान प्रत्यर्पणी ।
> अहिं सन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिः बलम ॥
> अथर्व० ९—८ १३

अर्थ—ये जो तीव्र रोग पीड़ायें सीमा शिर क ऊपरी भाग को विरुजन्ति और मूर्धान प्रति शिर क प्रति दौड़ता है। व सब ( अहिंसन्ती ) बिना किसी शरीर विकृति पहुचाये ( अनमया, रोग शून्य करके तुझ से निकल जाये।

> या हृदयमुपर्षन्ति अनुतन्वन्ति कीकसा ९ ८ १४
> अहिंसन्ति स्त्वमया .. ।
> ये पार्श्वे उपर्षन्त्यनु निक्षन्ति पृष्टी ।
> अहिंसन्ति , ॥ १५
> यस्तिरश्चीरुपर्षे सन्त्यर्षणी वक्षणासु ते ।
> अहिंसन्त .. .. ॥ १६
> या गुदा अनुसर्पन्त्यन्त्राणि मोहयन्ति च ।
> अहिंसन्ती ॥ १७

अर्थ—जो वेदनायें हृदय की ओर तीव्र गति से जाती है और जो ( कीकसा ) कशेरुक एव पसलियों को अकड़ लती है। वे रोग रहित हो शरीर से बाहर निकल जायें।

जो वद ाय पार्श्वों को पीड़ित करती है और पृष्ठ के मोहरों तक पहुचती है। जो वक्षण और पृष्ठ की ओर जाती है तथा जो गुदा तक पहुचती हैं एव अन्त्रों में मूर्च्छा उत्पन्न कर देती है। वह वेदनायें राग रहित होकर शरीर से बाहर निकल जायें।

> या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परुषि विरुजन्ति च ।
> अहिंसन्त स्त्वनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बलम् ॥ ९ ८ १८

अर्थ—जो वेदनायें मज्जा तक को (निर्धयन्ती) सुखा डालती हैं, और पुर्वों तक में (विरुजन्ति सन्ताप उत्पन्न करती है वह सब वेदनायें नष्ट हो जायें।

> अस पार्श्वाभितापश्च सताप कर पादयो ।

तथा शिरस परिपूर्णत्व आदि लक्षणों को, यद्यपि नाम निर्देश नहीं है तथा अधिष्ठान भेद से उनका ही वर्णन किया गया है।

## यक्ष्मा का विस्तार–

अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्कं जिह्वाया विवृहामि ते ॥

ऋग् १०–१६३–१

हे रोगी ! मैं वैद्य तेरी आंखों, नासिका, कानों चुबुक (ठोड़ी) शिर, मस्तिष्क जिह्वा से विवृहामि दूर करता हूं ।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं मंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥

१०–१६३–२

अर्थ–हे व्याधित ! तेरी ग्रीवा उष्णिहा-१) धमनियां. कीकसा जत्रू तथा वक्ष की अस्थियों ( अनूक्यात् ) सन्धियों से-२ (दोषण्यं) भुजाओं से (अंसभ्यां ) पन्खों से और से बाहुओं से बाहर निकालता हूं ।

आंत्रेभ्योस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्म कुक्षिभ्यां प्लाशे नाभ्यां विवृहामि ते ॥

अथर्व० २–३३–४

हे रोगी ! तेरी आंतों, गुदा, उदर, आमाशय, कुक्षि (प्लाश) मलाशय आदि से यक्ष्म रोग को दूर करता हूं ।

उरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मंभसद्यंश्रोणिभ्यां भासदंभसंसोविवृहामिते ॥

अ० २–३३ ५

हे व्याधित ! तेरी उरुओं से, ( अष्ठिवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां ) सख्त हड्डी वाले दोनों पैरों से और एड़ियों से ( भसद्य) कटिदेश से (भंसमः) गुह्यमार्ग—मूत्रमार्ग (भासदं) गुद प्रदेश में उत्पन्न रोग को दूर करता हूं ।

हृदयात् ते परिक्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्म मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते विवृहामि ॥

अ० २–३३ ३

हे रोगी ! तेरे हृदय, क्लोम, (हलीक्ष्ण) पित्ताशय, पार्श्व (फुफ्फुसों) और ( मतस्नाभ्यां ) वृक्कों से यक्न यकृत और प्लीहा से यक्ष्म रोग को दूर करता हूं ।

पाठको ! देखा आपने राजयक्ष्मा के विस्तार के विषय वेदों में कितना विशद वर्णन है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रायः वक्ष (फुफ्फुसों) के ही राजयक्ष्मा का वर्णन प्राप्त है । किन्तु वेद तो कहते हैं कि शरीर के किसी भी अङ्ग में राजयक्ष्मा हो सकता है । आजकल सन्धियों, अस्थियों आदि का राजयक्ष्मा पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में हम देखते हैं, किन्तु वेद तो इससे भी आगे जाता है और प्रायः शरीर के प्रत्येक अङ्ग में राजयक्ष्मा होने की सम्भावना दिखाता है ।

अब संक्षेप में चिकित्सा के विषय में प्रकाश डालेंगे । सामान्य चिकित्सा के विषय में वेद कहता है । शुद्ध वायु और सूर्य प्रकाश तथा पौष्टिक पदार्थ। वेदों का यह सिद्धान्त अभी तक प्रत्येक चिकित्सा विज्ञान में चला आता है और स्थिर रहेगा । क्योंकि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है ।

## यक्ष्म चिकित्सा–

( प्रकाश एवं वायु की महत्ता )

---

उष्णिहा ऊर्ध्वंस्निग्धाभ्यः रक्तादिना उरस्नातो नाडीभ्यः । तदुक्तांउष्णिगुड रुनाताभवतिस्निह्यतेवास्यातिकांतिकर्मणः ॥ सायण ।

२ अनुक्यात् अनुक्रमेण समन्वयंतिअस्थीनीतिअनूक्यंतत्संधिः सायण ।

तासु त्वन्तर्जरस्या दधामि प्रयक्ष्म एतु निर्ऋति पराचे ।
एवाह त्वा चेत्रियान्निर्ऋत्या जामिश सरतद् द्रुहो ॥
अथर्व० २ १० ५

हे व्याधि पीडित ! (त्वा) तुझको (जरसि) वृद्धावस्था तक भी (तासु) पूर्वोक्त उत्तम वायु एवं सूर्य प्रकाश वाली दिशा में (अभिदधकि) रहने का आदेश देता हूं और वहां ही तुझे रखता हूं । ताकि तेरा यक्ष्मा (प्रएतु) दूर हो जाये । और (निर्ऋति) शरीर की सब क्लेश दशा भी (पराचे) दूर हो जाये । एवं (त्वा) तुझको शरीर में होने वाले (क्षत्रिया) मातृज, पितृज, लालन पालन की त्रुटि से होने वाले, और मानसिक रोगों से दूर करता हूं ।

## सूर्य यक्ष्मा नाशक

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशाय तक्मानं चारस कृधि ॥ ५ २ ६

हे पार्थिव देह में स्थित आत्मा, तू उत्तम है तेरा पिता निश्चय से उत्तम है । हे प्रभो ! (तक्मान) राजयक्ष्मा रोग का नाश कर इन्हें सुखी दे । उत्तम सूर्य इसका घातक है वह कुष्ठ और राजयक्ष्मा का भी नाशक है ।

## प्राण वायु की महत्ता—

आयुष्मता मायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥
३-१०१ ८

अर्थ—आयुष्मान और आयु को बढाने वाले दिव्य गुणों से युक्त (प्राणेन) चिरकालावस्थायी प्राण वायु से हे माणवक ! जीवन को अपने प्राणों को चिरकाल तक धारण कर । अर्थात् यक्ष्म का नाश प्राण वायु द्वारा ( Oxygen ) करके चिरजीव हो

## अग्नि चिकित्सा—

अग्नि प्राणान् सदधाति चन्द्र प्राणेन संहित
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥
३-१०१ ६

अग्नि—पाचक अग्नि इन्द्रि से धारण करे अन्न पान रस से पुष्ट करके स्व २ कर्मों में समर्थ करे । और चन्द्रमा सोम प्राण वायु के साथ मिलकर अमृतमय रस से समस्त शरीर का पोषण करे और राजयक्ष्मा को दूर करे ।

पाठक, राजयक्ष्मा चिकित्सा में जठराग्नि का और प्राण वायु का महत्व ध्यान में रक्खें । इन्हीं दोनों साधनों से शरीर की पुष्टि होकर राजयक्ष्मा का नाश होता है । यही वेद मन्त्र का अभिप्राय है

## मानसिक चिकित्सा—

या बिभेर्न मरिष्यसि जरदिष कृणोमि त्वा ।
निरवोच मह मगेभ्य अङ्ग ज्वर तव ॥ ५ ३० ८ अथर्व

हे रोगी, डरो मत वृद्धावस्था तक मैं तेरे अङ्गों से (अङ्ग ज्वर) सर्व शरीर में वर्तमान ज्वर यक्ष्मा को दूर करता हूं ।

अङ्गभेदो अङ्ग ज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्म श्येनइव प्रापप्तत वाचा साढ परस्तराम ॥
५-३० ६

हे रोगी निराश मत हो मैं अपनी शक्ति और वाणी द्वारा तेरे यक्ष्मा रोग को नष्ट कर दूंगा जिस तरह बाज अपने शिकार को मारता है ।

## यक्ष्मा नाशक औषधि—

जीवला नघारिषां जीवन्तीं मोषधीमहम् ।
अरु धती मुन्नयन्तीं पुष्पां मधु र तीमिह हुवे स्मा
अरिष्टतातये ॥ अथर्व ८ ७-८

[ शेषांश पृष्ठ ६० पर देखें ]

# वेदों में यक्ष्मा रोग का वर्णन

लेखक—विद्यावारिधि ऋषिमित्र शास्त्री, साहित्य रत्न, गु० महाविद्यालय अयोध्या ।

'...आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुराजीव गृभो यथा।'
ऋग्वेद ।

विश्व-साहित्य और विश्व-विज्ञान के एक मात्र निधि हमारे वेदों में प्रत्येक प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है । दयालु जगदीश्वर ने मनुष्य की मनुष्यता एवं सर्व शक्तिमता के आभार के लिये ही आदि मानव-सृष्टि में इन्हें दिया है । यही कारण है कि मनुष्य का प्रत्येक आवश्यकता एवं निर्देश की उपलब्धि इस ज्ञान सागर में होता है । इसीलिये इन्हें वेद कहा जाता है । प्रस्तुत 'यक्ष्मा' के विषय में भी हमें इनके द्वारा एक मौलिक ज्ञान प्राप्त होगा । आइये कुछ क्षुद्र बुद्धि से ही इस विषय का अनुसन्धान करें ।

## राजयक्ष्मा क्यों ?

आयुर्वेद में हमें इस व्याधि के राजयक्ष्मा नाम के दो कारण मिलते है । ( १ ) यह सब रोगों का राजा है । ( २ ) राजा चन्द्रमा को ही यह सर्व प्रथम हुआ था; ऐसी जनश्रुति है । ये दोनों ही बाते वेदों से ही फैली हुई हैं । प्रथम प्रकार के विचारों के लिये उक्त शीर्षक का मन्त्र (१०-९७-११) है । राजा चन्द्रमा के लिये जो इसका प्रथम शिकार होना कहा जाता है । सम्भवतः वह यजुर्वेद के १२-९८ मन्त्र × के द्वारा वेदों में इतिहास मानने वालों ने फैलाया है । किन्तु हमारे वैदिक कोष निघण्टु एवं निरुक्त के प्रणेता महर्षि यास्क ने सभी इतिहास मानने वालों का खण्डन किया है । अतः यह विचार अमान्य होना चाहिये । यद्यपि 'राजयक्ष्मा' शब्द ऋक् अथर्व में आया है ।

## यक्ष्मा के कीटाणु—

पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि भारतियों को पहले रोगों के सूक्ष्म कीटों का परिज्ञान नहीं था । किन्तु कुछ धीरता से विचार करने पर आयुर्वेद में प्राप्त होने वाले 'क्षेत्रिय' रोगों का विभाग ही कीटाणुओं की स्थिति करता है । अथर्ववेद के काण्ड २ सूक्त १० में इस प्रकार के रोगों का उल्लेख है । उसमें यक्ष्मा प्रभृति वे ही रोग है; जिनके कीटाणु होना आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है । यहां क्षेत्रिय का तत्पर्य यह है कि उसकी उत्पत्ति पूर्वज ( माता या पिता ) में हुई रहती है । इससे वैदिक काल में भी इस विज्ञान की स्थिति सिद्ध होती है ।

अथर्व के ही १९-२-५ मन्त्र ❀ में लिखा है कि जल की परीक्षा करके उसका ग्रहण करना चाहिये कि कहीं उसमें यक्ष्मा कीटाणु (कारण) तो नहीं है । प्रायः अन्य स्थलों में जल विषयक सावधानियां इस वेद और ऋग्वेद में भी कही गई हैं ।

---

× —गन्धर्वा अखनस्त्वामिन्द्रस्त्वां प्रजापतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्माद मुच्यत ॥
(देखिये महर्षि भाष्य तथासंस्थान भाष्य

❀ 'ता अपः शिवा अपो यक्ष्मंकरणीरपः ।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आदत्त भेषजीः ॥
( पं० जयदेव कृत भाष्य )

सम्भवत जल में इस रोग के सूक्ष्म कीट शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं। अन्यत्र ( ६-८५-१ में ) इस रोग को 'आविष्ट' कहा गया है। इससे भी इसके कीटाणुओं का शरीर में प्रवेश होना, फिर रोग की उत्पत्ति सिद्ध होती है। आगे भी हमें इस विचार की पुष्टि के लिये सामिग्री मिलेगी।

## यक्ष्मा की सम्प्राप्ति–

ऋग्वेद के १-१२-९ मन्त्र × में इस विषय में कहा गया है कि 'जो प्राण और उदान से विरोध करता है, उसे यक्ष्मा रोग हो जाता है।' इस वचन से हमें माधव निदान में वर्णित इस व्याधि के चार मुख्य कारणों का पता लग जाता है। जिन्हें वहाँ पर 'वेगरोधात्' क्षयाच्चैव, साहसात्, विषमाशनात्' कहा है। अथर्व के भी २-१० सूक्त देखने से ज्ञात होता है कि निन्दित ( अवद्यात ) कार्यों से भी इस रोग की उत्पत्ति होती है। वेद के उक्त स्थल में प्रार्थना की गई है कि 'यह निन्दित व्यवहारों से छूट कर यक्ष्मा रहित हो।' इसका संकेत सम्भवतः माधवाचार्य के 'अतिव्यवायिनोवाऽपि' वचन का ओर है। अथर्व के ही १२-२-१ मन्त्र ● मे एक आश्चर्य प्रद किन्तु वैज्ञानिक सम्प्राप्ति मिलती है कि जो 'क्रव्यादि' अर्थात् मांस भक्षी होते है, व यक्ष्मा के फैलाने वाले होते है। उनसे गौ और मनुष्यों में यक्ष्मा फैलता है। उनको गोली (सीस) से मार डालना चाहिये। सम्भवतः इसका रहस्य यह हो सकता है कि मांस मनुष्य के मेदे के प्रतिकूल भोजन है। इसका कारण उसके खाने पर ठीक पाचन न होकर उसी समय शरीर में ही या उसके किसी अवयव से भी यक्ष्मा के कीटाणुओं की उत्पत्ति होती है। उसका प्रभाव उसके निकटतम

× अभोपोमिथ्याप्यचनिपु गयोनमुसो पाऽथाभु क्।
स्मय स यक्ष्म हृदय निषस स्वापयी होशाभिक्षं ताया ॥
(महर्षि भाष्य)

● यक्ष्माताह नदे पत्रङ्गोक इदमीम भागधेयत पहि ।
यो गोषु यक्ष्म पुरुषेषुयक्ष्मातेन त्वं साकमधराङ परेहि ॥
( जयदेव कृत भाष्य और माधवाचार्य कृत भाष्य )

[ पृष्ठ ८८ का शेषांश ]

जीवन्ती नामक औषधि तथा रोग नाशक अरुन्धती नामक औषधि और मधु रस पुष्पा नामक औषधि का ( अरिष्ट तातये ) यक्ष्म रोग नाशनार्थ आह्वान करता हू।

> वैयाघ्रो मणि वीरुधा त्रायमाणोऽभि शास्तपा ।
> अमीवा सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरस्मत् ॥
> ८७१

अर्थ—वीरुधा—वल्लियों से बनाई गई वैयाघ्र नामक मणि और प्रशस्त गुण वाली त्रायमाण औषधि तथा राक्षसों की नाशक, अमीवा नाशक औषधि इस राजयक्ष्म रोग को दूर से ही नष्ट करे।

पाठको ! उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से आपको ज्ञात हो गया होगा कि वेदों में किस प्रकार राज रोग का तथा अन्य रोगों का वर्णन मिलता है। यह तो दिग्दर्शन मात्र है। विशेष ज्ञानार्थ स्वयं वेदों का विशेष कर अथर्व वेद का अध्ययन करें। जो लोग सायण आदि के सहायक भाष्यों को प्राप्त न कर सकें उन्हें हम पं० जयदेव वेदालङ्कार कृत तथा आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित अथर्व वेद के अध्ययन का परामर्श देंगे।

१—प्रशितलीन परिवाामहेतु ब ंतर ब स्यतो आशानि भाषात् पशुगदीनि इ ंद्रियाधि तथा बंद्व सोम माष वायुना तदाधारम् तेन । माधव

और आवश्यक पोषक प्राणी गौ पर भी पड़ना असंगत नहीं। एक और आश्चर्य-प्रद तथा वैज्ञानिक कारण अथर्ववेद के १२ ४-५ मंत्र ÷ में कहा गया है। जिसका भाव यह है कि गोपति की उपस्थिति में यदि पालित गौ के लोम को भी कौवा उखाड़ कर कष्ट देता है तो इसके पाप-स्वरूप गोपति के पुत्रों में यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। इसका यह कारण होसकता है कि यदि किसी भी तरह गौ को मानसिक कष्ट होगा; जिसका प्रभाव उसके दूध पर भी अवश्य पड़ेगा: उसके पीने वाले गोपति-पुत्रों में (रासायनिक विज्ञान से विचार करने पर) वह दूध यक्ष्मा का कारण हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

## यक्ष्मा के भेद और निदान—

माधव निदान में यक्ष्मा के ११ (वातज ४, कफज ४) भेद माने गये हैं। यजुर्वेद के १२-८७ मंत्र = में 'वात' पित्त और कफ के दोषों से यक्ष्मा की प्राप्ति होती है, कहा गया है। ऋग्वेद के कुछ स्थलों में भी यक्ष्मा का निदान है। कुछ अथर्ववेद के का० २ के ३१ वें सूक्त में भी उसी प्रकार कहे गये हैं। इसके द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग में यक्ष्मा अपना प्रभाव दिखलाता है। यह सूक्त ही इसी विषय का है 'मैं अक्षि, नासिका, जिह्वा, शिर, ग्रीवा (की १४ मांस पेशियां) जत्रु (हसली) वक्ष, पसली, स्कन्ध, बाहु और हाथ आदि के सन्धि भागों से यक्ष्मा को दूर करूं।" "हृदय, क्लोम (पिपासा स्थान, हलीक्ष्ण (पित्तोत्पादक अङ्ग) गुर्दे प्लीहा, यकृत, लघु और बृहत् आन्त्र, नाभि, जघा, कमर, घुटने और ऐड़ियों तथा पंजों से (वैद्य) यक्ष्मा को दूर करें।" सभी अस्थियों, मज्जा, धमनी (नाड़ियों) और नख २ में एवं पर्व २ में व्यापकता प्रदर्शित करने वाले यक्ष्मा को कश्यप (ज्ञानी वैद्य) वीवर्ह (रोग नाशक उपायों से) दूर करें।'

यक्ष्मा ग्रस्त होने पर इन अङ्गों की स्थिति आयुर्वेद में निम्न है—

'यक्ष्मा ग्रस्त की आंखें सफेद होजाती हैं। जरा शोषी क्षय में नासिका से पानी गिरता है। मस्तिष्क बेकार हो जाता है। जिह्वा लोलुपता बढ़ जाती है। ग्रीवा की मांस पेशियों में सिकुड़न पैदा हो जाती है। जत्रु, वक्ष, पसली और स्कन्ध में व्यथा होती है। शरीर के सन्धि भागों में अकड़न पैदा हो जाती है। हाथ पैर रूक्ष होजाते हैं। कास आदि के द्वारा हृदय में क्षत होजाते है। क्लोम सूखने लगता है। हलीक्ष्ण में दाह प्रतीत होती है। गुर्दे, प्लीहा तथा यकृत आदि के उचित कार्य न कर सकने से वमन, मन्दाग्नि, मद ज्वर, खांसी और कुछ शून्यता (निर्बलता की) भी प्रतीत होती है। शरीर के प्रायः सभी अन्य अङ्ग भी शक्ति हीन हो जाते हैं।

अथर्व वेद के ४-९-४ में यक्ष्मा को 'मध्यमशी अर्थात् मध्य (हृदय में) मुख्यतया रहने वाला कहा गया है। इससे 'कफ प्रधानदोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु' वाले निदान का कितना उचित समन्वय

---

÷ यदस्या गोपतौ सत्यां लोम ध्वांक्षो अजीहिडत।
ततःकुमाराः म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामयात ॥
(जयदेव भाष्य)

= साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या, साकं नश्य निहाकया ॥
(वैदिक संस्थान भाष्य)

(यह मंत्र ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी आया है)

सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'कफ की प्रधानता से उसके मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, तो वह हृदय स्थल में ही टिकता है। फिर खांसी के कफ रूप में होकर कठिनाई से निकलता है। फेफड़े पर इसका संघातकारी प्रभाव पड़ता है, जो इसकी असाध्यता का कारण सिद्ध होता है। क्योंकि फेफड़े की विकृति से शरीर मात्र पर इसका प्रभाव अनिवार्य है। इसी वेद के सूक्त (३-३१) अन्य सूक्तों में भी यह प्रार्थना की गई है कि 'यह रोगी यक्ष्मा से छूट कर दीर्घायु प्राप्त करे। इससे इसके द्वारा शीघ्र मृत्यु का अभिप्राय भी सिद्ध होता है। इससे मुक्ति प्राप्त करके ही दीर्घायु हो सकता है।

## औषधियां

इस राज रोग का भयङ्करता वर्णित होने पर भी हमें वेदों में अनेक स्थल ऐसे मिलते हैं, जहां यक्ष्मा को औषधियों द्वारा शीघ्र भाग जाने वाला कहा गया है। अथर्व वेद के ८-७-२५ में कहा गया है कि 'औषधि से गौ और मनुष्यों का यक्ष्मा रोग इस प्रकार भाग जाता है जिस प्रकार सिंह के गर्जन से अन्य क्षुद्र जन्तु या अग्नि को देखकर अन्य जन्तु। अथर्व के ही ६-१२७-३ × में कहा गया है कि यह शरीर के प्रत्येक अङ्ग में किस प्रकार फैल जाता है, इसका पता ही नहीं लगता। प्रारम्भ में ही इसकी औषधि कर देनी चाहिये।' इसका एक मात्र यही अभिप्राय है कि कहीं इसका रोगी आरम्भ को इसमें मात समझ कर अधीर न हो जाय क्यों कि अधीरता से भी मनुष्य का संहार करती है।

यजुर्वेद के जिस मन्त्र के आधार पर चन्द्रमा को यक्ष्मा का प्रथम रोगी कहा जाता है, वह मन्त्र और उसके आगे और पीछे के ३-४ मन्त्रों में 'सोमलता' से यक्ष्मा का प्रशमन कहा गया है। अथर्ववेद के १९ कांड का ३८ वां सूक्त+ में ही यक्ष्मा पर 'गुग्गुल' को अमोघ औषधि कहा है। वहां तो यह उपमा दी गई है कि यक्ष्मा गुग्गुल से इस प्रकार भाग जाता है जैसे हिरन। इसी वेद के कांड ६-८५-१ + में 'वरण' नाम की औषधि यक्ष्मा दूर करने वाली कही गई है। इसके परिचय के सम्बन्ध में पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार ने लिखा है कि वृहत्पाली जीरा को ही 'वरण' कहा जाता है। तमाल को भी इसका पर्याय उन्होंने माना है। वैद्यों को चाहिये कि इन पर अपना अनुभव करें।

घने पापों से उत्पन्न (इस) रोग की चिकित्सा अथर्व वेद ८-७-३ ‡ में दिव्य (वरुण) जल से कही गई है। सम्भवतः इसी के आधार पर जल चिकित्सा का आरम्भ किया गया है। वस्तुतः 'वाष्प स्नान' मनुष्य के लिये अधिक रोगों पर हितकर है। अथर्व वेद ही ८-२-१८ में व्रीहि और यव को भी यक्ष्मा का शमन करने वाला कहा गया है। इसका तात्पर्य दा स्वरूपों में फलतः होगा। १-जो 'विषमाशनात' सम्प्राप्ति के रोगी हैं उन्हें यदि उचित प्रणाली इन्हें सुलभ कर दिया जाय तो इसकी निवृत्ति हो

---

× अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते। विसल्पकस्यौषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ पं० जयदेव कृत भाष्य।

+ विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते। यद् गुग्गुलु सैन्धवं यद्वाप्यासि समुद्रियम् (सायण और जयदेव भाष्य)

+ वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥

‡ आपो अग्रं दिव्या ओषधयः। तास्ते यक्ष्ममेनस्यमङ्गादङ्गादनीनशन्। (जयदेव भाष्य)

जायेगी। २-इस रोग में यव पथ्य स्वरूप भी कहा जाता है।

विशेष ज्ञान तथा आदेश ( हिदायतें )—

अथर्व वेद मे एक यक्ष्मा रोगी का वर्णन (९-३ ३३ ) आया है कि 'मैं श्रेष्ठ जल तथा प्राकृतिक व्यवहारों से यक्ष्मा मुक्त हो 'गृहानुपर्मादामि' अर्थात् अपने बन्धु बान्धवों में फिर निवास करू। इसके भी संकेत दो हो सकते हैं। १—यक्ष्मा की चिकित्सा के लिये आधुनिक 'सिनोटोरियम' जैसे प्राकृतिक सुविधाओं के स्थान होने चाहिये।

२—यक्ष्मा का रोगी घर पर न रहे, नहीं तो अन्यों में इसकी उत्पत्ति हो सकती है। अथर्व वेद के ही =१४-२-६९ में एक रोगी का वर्णन है कि

= आमाद वयमस्या अप यक्ष्मं निदध्मसि। तन्मा प्रापत पृथ्वीमोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वं तरिक्षम। अयो मा प्रापद मलं मेतदग्ने यमं मा प्रापत पितृंश्च सर्वान्

( जयदेव भाष्य )

'उसके मल आदि खुले ही न छोड़ें, न जल मे फेंकें।' उन्हें जला देने का विधान कुछ भाष्यकारों ने वर्णित किया है। हो सकता है कि इससे यक्ष्मा के कीटाणु विनष्ट हो जाते हों। कुछ अन्य स्थलों में मन्दाग्नि के दूरी कारण से भी इसकी चिकित्सा कही गई है

## यक्ष्मा और गौ—

उक्त अनेक स्थलों में तथा अन्यत्र भी वेदों में गौओं के लिये यक्ष्मा का वर्णन आया है। यजुर्वेद के सबसे पहिले ही मन्त्र मे यक्ष्मा रहित गौ के लिए प्रार्थना की गई है। सम्भवतः मनुष्यों मे यक्ष्मा फैलने का कारण दूषित प्रणाली से ( गौ को दुःख आदि देकर ) दुग्ध ग्रहण करना भी हो सकता है। इसका यही रहस्य होगा कि मनोविज्ञान से प्रत्येक प्राणी ( मनुष्येतर ) का सम्बन्ध रहता है। नहीं तो इसका कुछ और गूढ़ कारण होगा। तात्पर्य यह है कि वेदों से हमे यह भी शिक्षा मिलती है कि यक्ष्मा का कारण गौ भी है।

# वेदों में क्षय रोग का वर्णन

लेखक—कविराज प० युगलकिशोर जी, द्वारिकाप्रसाद शर्मा आयुर्वेद शास्त्री, दधिमथि आयु० भवन, राजगांगपुर।

यह कोई साधारण रोग नहीं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहा इस दुष्ट रोग का प्रभाव न हो इसलिये यह देश व्यापी भी कहा जा सकता है। क्षि क्षय धातु से अच प्रत्यय होने पर क्षय सिद्ध होता है। जिसका अर्थ क्रम क्रम से (शरीर का) नाश करता है। यह धीरे २ शरीर का नाश करता है, इसलिये शास्त्रकारों ने इसे यह नाम दिया। यह रोग सम्पूर्ण पृथ्वी में व्याप्त होकर सर्वदा अपनी जन सहार करने वाली शक्ति से मनुष्यों का क्षय करता रहता है। शायद है इसीसे शास्त्रकारों ने इसे सब रोग का राजा कहा है श्री वसन्तराज चरित नामक ग्रन्थ क चतुर्थ प्रकरण में लिखा है कि—

> क्षयरोगे ज्वरो राजानस्य पत्नी तु कामला।
> चमू पति पाडु रोगश्च रक्तपित्तस्तु पुत्रक ॥
> सख्यो शोका तमारोश्च मन्त्रिणौ श्वास कासकौ।
> गूढचारौ वातरित्ते वाजिनौ शातका हृवि।
> महत्ययशौं गुल्म शूल गाय्क हलौं वादका।
> अनेक रोगानुगतो बहुरोग पुरोगमएष्व: विति।
> प्रकारेण क्षयोभवति रोगराट्।

क्षय रोग बड ही महत्व का होकर इसकी भयङ्कर बलिवदी पर भारत म प्रति वर्ष लाखो की सख्या मे मानव क्षय की तीक्ष्ण रोग रूप खड्गधारा से भवसागर पार होते हैं।

वास्तव म यह रोग कब उत्पन्न हुआ इस बात का कोई ठीक २ पता नहीं। हा, हिन्दू शास्त्र के पूज्य ग्रन्थ वेदों को देखने से जाना जाता है कि यह रोग अनादि है। वेद को पढ़ने से राज रोग का पूर्ण विवरण मिल जाता है। वेद में लिखा है कि—

> "त्वामौषधे सोमोराजा विद्वान्यक्ष्मनरहमुच्यत।"

अर्थात्—हे औषधे! तुमको सेवन कर विद्वान सोम नामक राजा यक्ष्मा रोग से छूटा था। सोम नामक राजा को कब और किस प्रकार यक्ष्मा हुआ और वह किस प्रकार इस रोग से मुक्त हुआ इस बात का खुलासा अगल मन्त्रो में नहीं है। हा इतना उपरोक्त मन्त्र के पढ़ने और समझने से जान पडता है कि कभी चन्द्रमा को यक्ष्मा रोग हुआ था और वह औषधी का सेवन कर रोग मुक्त हुआ था। वेद म यक्ष्मा रोग की चिकित्सा का बहुत से मन्त्रों म वर्णन है। वेद म यक्ष्मारोग का नाम और उसका विवरण है। वैद्यक शास्त्र के प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ चरक और सुश्रुत म इसका पूर्ण विवरण है। सुश्रुत सहिता के अवलोकन से पता चलता है कि यह रोग सबसे प्रथम औषधों के राजा चन्द्रमा (सोम) को हुआ था। शायद इसलिये इस रोग का नाम राजयक्ष्मा हुआ होगा। जैसे—

> राजश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामय।
> तस्मात्तं राजयक्ष्मेति।

सुश्रुत अध्याय ४१ श्लोक ३

सुश्रुत इस प्रमाण द्वारा वेद मन्त्र की सत्यता को और भी पुष्ट करता है। आयुर्वेद अथर्ववेद का अङ्ग है जो बातें वेद में विस्तार पूर्वक नहीं हैं वह हमारे महर्षियों के प्रामाणिक पूज्य चरक सुश्रुत

आदि या हमारे पुराण ही स्पष्ट कर सकते हैं अन्य नहीं। यदि हमारे पुराण आदि ग्रन्थ न होते तो वेद मन्त्रों का कभी अर्थ ही नहीं लग सकता था। वेद और सुश्रुत की एकता से सिद्ध होगया कि यह रोग सबसे पूर्व चन्द्रमा को हुआ था और वह इस रोग से मुक्त भी होगया था। अब निश्चय होगया कि यह रोग अनादि है।

## वर्तमान शताब्दी में क्षय का इतिहास

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार राजयक्ष्मा रोग के सर्वप्रथम विशेषज्ञ हिपोक्रेटिस और गेलन नामक विद्वान थे। इस रोग का वर्तमान इतिहास ईसा के ४६० से ३७७ वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान तो इस बात का पहिले से ही निर्देश कर रहा है। हिपोक्रेटिस के बाद गेलन १३० से २०० ई० तक के लेखों का पता चलता है। गेलन पहले पहल यक्ष्मा रोग को संक्रामक ( Epidemic ) समझा था। इसको विश्वास था कि फुफ्फुसों ( Lungs ) में व्रण होने से यक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। गेलन के बाद १६ वीं शताब्दी के आरम्भ तक यूरोपीय वैज्ञानिक वायु मंडल अन्धकार पूर्ण है। पुरानी बातें वैज्ञानिकों को आगे बढ़ने नहीं देती थीं। कुछ दिनों के बाद उक्त वायुमण्डल का परिवर्तन हुआ। १६१४ ई० से लेकर १६७२ ई० के अन्दर सिल्विअस ने एक पुस्तक लिखी, जिसमें इन्होंने क्षय रोग के लक्षण के विषय में कास, ज्वर और दैहिक ह्रास होना लिखा है। यह लक्षणोक्ति महर्षि चरक के कथन से सर्वथा समता रखती है। यथा—

"प्रतिश्यायं ज्वरं कासं ... ।"

सिल्विअस ने ही सर्व प्रथम ( Tubercle ) ( यक्ष्माग्रन्थि ) शब्द का प्रयोग किया। सिल्विअस कहता था कि यक्ष्मा ग्रन्थियां फुफ्फुसस्थ लसीका ग्रन्थियां हैं जो रोग वसात सूज जाती हैं और इनके घुलने से फुफ्फुस में गड्ढे होजाते हैं। सिल्विअस के बाद १८ वीं शताब्दी में वेली का प्रादुर्भाव हुआ तो इन्होंने बतलाया कि फुफ्फुसों में ग्रन्थियां नहीं हैं। यह रोग वस्तुतः फुफ्फुस तन्तुओं में होता है। तदनन्तर १७८१ से १८२६ ई० के लग भग में लेकेन का आविर्भाव हुआ तो आपने बतलाया कि फुफ्फुस में अथवा लसीका ग्रन्थि में पहले यक्ष्मा रोग के दाने निकलते हैं, तत्पश्चात् फुफ्फुस में क्षणीकरण क्रिया होती है जिससे फुफ्फुस मुलायम तथा पीला पड़ जाता है। जब घुलने का अतिक्रम होता है तो फुफ्फुस में गड्ढे पड़ जाते हैं। यक्ष्मा रोग में रक्त स्राव होना इन्हीं क्रियाओं का फल स्वरूप है। लेकेन की कही बात यह महर्षि चरक की निम्न-लिखित उक्ति से एक दम मिलती जुलती है। जैसा कि—

"ततः क्षणानाञ्चोरसो विषम गतित्वाच्चवायोः कण्ठस्योद्धंसनात्कासः संजायते कास प्रसंगात् उर-सिक्षते संशाधितं ष्ठीवति। शोणित गमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते, इत्यादि।

लेकेन की मृत्यु के बाद एक रूसी वैज्ञानिक वर्चो की प्रसिद्धि हुई। इसने पूर्वोक्त विद्वानों के सारे कृत्यों पर पानी फेर दिया। यह अद्वितीय प्रभाव-शाली था। इसने इस मन्तव्य का प्रचार किया कि यक्ष्मा गांठें अन्य रोगों के द्वारा भी पाया जाती है। इसी मत का अनुयायी निमेयर ने तो यहां तक

कह डाला कि किसी भी क्षय रोगी ( रसाक्तादि विहीन ) को सबसे अधिक भय है कि यक्ष्मा पीड़ित होजाय। अब इन बातों को निर्मूल बतलाने वाला १८६८ ई० में विलेमिन पैदा हुआ तो उसने यक्ष्मा ग्रन्थि ( Tubercle ) को क्षुद्र पशुओं में लगाकर उन्हें यक्ष्मा रोग के सभी लक्षणों से आक्रान्त दिखलाकर सिद्ध कर दिया कि वास्तव में यक्ष्मा रोग का अस्तित्व अलग ही है। तदनन्तर १८८२ ई० में कांक की प्रसिद्धि हुई तो इसने टी० बी० ( यक्ष्मा-जीवाणु ) का पता लगाया। इसके *बाद अर्लिक ने जीवाणुओं को अम्लग्राही बत*लाया। कांक ने १८८८ ई० में टी० बी० टौक्सिन ( यक्ष्मा-जीवाणु-विष ) का आविष्कार किया और १९०१ ई० में यह सिद्ध कर दिखाया कि जीवाणु मानुषिक और पाशविक दो प्रकार के होते हैं। संक्षेपतः, यह इस रोग विषयक पश्चिमीय इतिहास है, जिसके विषय में लिखना केवल लेख को बढ़ाना है।

अब आप यक्ष्मा रोग के भारतीय इतिहास पर ध्यान दें।

आर्यों के बड़े २ पुस्तकागार एवं असंख्य पुस्तक किसनी ही बार भस्मसात् कर दी गई हैं। अतएव हमारे विद्वान विशेष अग्निदेव के वशस्थ हैं, तथापि कतिपय ऐतिहासिक बातें आज भी उपलब्ध हैं। जिन्हें यथा शक्ति आपके सामने रखता हूं। प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने से हमें मालूम होता है कि यक्ष्मा रोग आर्यावर्त में सर्व प्रथम राजा चन्द्र को हुआ था और आपकी बीमारी अश्विनीकुमार *नामक वैद्यों की चिकित्सा से अच्छी हुई थी। जैसा* कि तैत्तिरीयोपनिषद में कहा गया है—

प्रजापतेस्त्रय स्त्रिंशद् दुहितर आसन्। ताः सोमाय राज्ञेऽददात् तासां रोहिणीम् एवोपैत। स यक्ष्म आर्च्छत्। तद् राजयक्ष्मस्य जन्म। यत् पापीयान् अभवत्। तत्पाप यक्ष्मस्य। यज्जायाभ्यो विदत् तज्जायेन्यस्य। य एवं एतेषां जन्मवेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दति। इत्यादि ( तै० सं० ७-३-५-२ )

प्रजापति के ३३ पुत्रियां थीं। ये इन सबों को राजा चन्द्र के साथ ब्याह दीं। चन्द्रमा अपनी स्त्री रोहिणी में विशेष संभोगासक्त होकर यक्ष्मा रोग से पीड़ित हुये। यही यक्ष्मा रोग की प्रथमोत्पत्ति कही जाती है। इस प्रकार जो इस रोग की उत्पत्ति जानता है वह यक्ष्मा रोग के फेर में नहीं आता है।

न अमावस्यां नांच पौर्णमास्यांच स्त्रियमुपेयात यदुपेयात निरिन्द्रियः स्यात्। सोमस्य वैराज्ञोऽर्धमास्य रात्रयः पत्नय आसन् तासामामावस्यांच पौर्णमासींच नोपैत (४) ते एनम् *अभिसमनह्य तांत* यक्ष्म आर्च्छत् राजानं यक्ष्म आरदिति तद्राजयक्ष्मस्य जन्मयत पापीयानभवत् तत पापयक्ष्मस्य यत जायाभ्याविन्दत् तत जायेन्यस्य। य एवमेतेषां यक्ष्माणां जन्मवेद *नैनमते यक्ष्माविन्दति स एते एव नमस्य* न्नुपधावस्ते अथ तांवरं वृणा वहा आयं देवानो भागधे असाव। तैत्तिरीय संहिता का ७-५-६-५ )

अमावस और पूर्णिमा को स्त्री गमन करे यदि करेगा तो इन्द्रिय हीन होजावेगा। (यही कथा कहते है) राजा सोम के रात्रियें पत्नियें थीं उनमें यह पूर्वोक्त तिथियों में भी गमन करता रहा उसको यह यक्ष्मा रोग हुआ। पाप करने से पाप, यक्ष्मा स्त्रियों के साथ अधिक रमण करने से जायेन्य-यह इसके नाम हुये जो यक्ष्मा के इस जन्म को जानता है वह

इस रोग से छूट जाता है उसको नमस्कार करता हुआ यह रोग भाग जाता है। चरक में भी यही लिखा है—

दिव्यै कसां कथयतां ऋषिभिर्वै श्रुताकथा।
काम व्यसन संयुक्ता पौराणी शशिनंप्रति॥
रोहिण्यामति सक्तस्य शरीरं नातु रक्षतः।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेह परिक्षयात्॥
दुहितृणा मसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान निः सृतोमुखात
प्रजापतेर्हि दुहितृरप्राविशांत सशुमान्।
भार्यार्थं प्रति जग्राह न च संवास्व वर्तत॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्व समवर्तिनम्।
रजोऽन्धम बलं दीनं यक्ष्मा शशिन माविशत्॥
अथ चन्द्रमसः शुद्धामतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः।
प्रसादं कृतवान सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सतः
क्रोधोयक्ष्मा ज्वरोरोग एकोर्थो दुःख संज्ञितः।
यस्मात् सराज्ञः प्रागासी द्राजयक्ष्मा ततो मतः॥
चरक० चि० ८

अर्थात चन्द्रमा ने प्रजापति की कन्याओं के साथ विवाह किया परन्तु सबको छोड़कर एक रोहिणी से ही रहने लगे, इसी से चन्द्रमा का बल नष्ट होने लगा। प्रजापति ने क्रोध कर शाप दिया। उनके हुंकार से यक्ष्मा रोग उत्पन्न हुआ, वह निर्बल चन्द्रमा में जा घुसा। अब पुनः सब स्त्रियों में एकसा वर्तने लगा तो प्रजापति प्रसन्न हुए। अतः उन्होंने चन्द्रमा को पुनः स्वस्थ अश्विनी कुमार से करा दिया।

क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर रोग यह सब एक ही अर्थवाची हैं जिससे कि प्रथम राजा को यह रोग हुआ इसी से इसका नाम राज रोग पड़ा।

कह नहीं सकते यह कथा कहां तक सत्य है। परन्तु इतना अवश्य है कि यदि तैत्तिरीय संहिता वाले को रूपक मानें तब भी इसका मिलान उससे एक सङ्गति खाता है। अस्तु इतना अवश्य है कि इस रोग का सम्बन्ध सोम से है। सो धातु का क्षय होना, पुनः निर्बलता होकर ज्वर होना, पुनः फेफड़ों में क्षय होना यह एक परम्परागत सम्बन्ध है। सूक्ष्म गति इसको विचार सकते हैं। ऊपर चरक में जो कथा का उद्धरण किया है 'पौराणिकी कथा' यह शब्द आया है सो महाभारत में यह कथा ज्यों की त्यों है।

## जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान सोमो यक्ष्मणा समगृह्यत।
कथंच तीर्थ प्रवरे तस्मिन् चन्द्रोन्यमज्जतः॥४०॥
कथमाप्लुत्य तस्मिंस्तु पुनराप्यायितः शशी।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामुने॥४१॥

जनमेजय कहते हैं चन्द्रमा को यक्ष्मा क्यों हुआ और उस तीर्थ में स्नान कर पुनः कैसे स्वस्थ हुआ यह कहो।

## वैशम्पायन उवाच

दक्षस्य तनया यास्ताः प्रादुरासनविशाम्पते।
ससप्तविंशतिकन्यादक्षः सोमाय वैददौ॥४३॥
तास्तुसर्वाः विशालाक्ष्यो रूपेणा प्रतिमाभुवि।
अत्यरिच्यत तासांतु रोहिणी रूपसम्पदा॥४४॥
ततस्तस्यां सभगवान प्रीतिं चक्रे निशाकरः।
सास्य हृद्यावभूवाथ तस्मातां बुभुजेसदा॥४५॥
पुरा हि सोमो राजेन्द्र रोहिण्याम वसच्चिरम्।
ततस्ताः कुपिता सर्वा नक्षत्राख्या महात्मनः॥४६॥
तागत्वापितरं प्राहु प्रजापति मतन्द्रिताः।
सोमोवसतिनास्मासु रोहिणीं भजतेसदा॥४७॥

कह डाला कि किसी भी क्षय रोगी ( रसरक्तादि विहीन ) को सबसे अधिक भय है कि यक्ष्मा पीड़ित होजाय। अब इन बातों को निर्मूल बत लाने वाला १८६८ ई० में विलेमिन पैदा हुआ तो उसने यक्ष्मा ग्रन्थि ( Tubercle ) को क्षुद्र पशुओं में लगाकर उन्हें यक्ष्मा रोग के सभी लक्षणों से आक्रान्त दिखलाकर सिद्ध कर दिया कि वास्तव में यक्ष्मा रोग का अस्तित्व अलग ही है। तदनन्तर १८८२ ई० में कॉक की प्रसिद्धि हुई तो इसने टी बी० ( यक्ष्मा जीवाणु ) का पता लगाया। इसके बाद अर्लिक ने जीवाणुओं को अम्लग्राही बत लाया। कॉक ने १८८६ ई० में डा० बी टौक्सिन ( यक्ष्मा जीवाणु विष ) का आविष्कार किया और १९०१ ई० में यह सिद्ध कर दिखाया कि जीवाणु मानुषिक और पाशविक दो प्रकार के होते हैं। संक्षेपत, यह इस रोग विषयक पश्चिमीय इति हास है, जिसके विषय में लिखना केवल लेख को बढ़ाना है

अब आप यक्ष्मा रोग के भारतीय इतिहास पर ध्यान दें।

आर्यों के बड़े २ पुस्तकागार एवं असंख्य पुस्तक कितनी ही बार भस्मसात् कर दी गई हैं। अतएव हम रे विज्ञान विशेष अनिदर्श के रहस्य हैं, तथापि कतिपय ऐतिहासिक बातें आज भी उपलब्ध हैं। जिन्हें यथा शक्ति आपके सामने रखता हूं। प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने से हमें मालूम होता है कि यक्ष्मा रोग आर्यावर्त में सर्व प्रथम राजा चन्द्र को हुआ था और आपकी बीमारी अश्विनीकुमार नामक वैद्यों की चिकित्सा से अच्छी हुई थी। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—

प्रजापतेस्त्रय स्त्रिंशद् दुहितर आसन्। ता सोमाय राज्ञेऽददात् तासां रोहिणीम् उपैत्। त यक्ष्म आर्च्छत्। तद् राजयक्ष्मस्य जन्म। यत् पापी यान् अभवन्। तत् पाप यक्ष्मस्य। यज्जायाभ्यो विन्दत् तज्जाये यस्य य एवं एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दति। इत्यादि ( तैं० सं० २-३-५-२ )

प्रजापति के ३३ पुत्रियां थीं। वे इन सबों को राजा चन्द्र के साथ ब्याह दीं। चन्द्रमा अपनी स्त्री रोहिणी में विशेष संभोगासक्त होकर यक्ष्मा रोग से पीड़ित हुये। यही यक्ष्मा रोग की प्रथमो त्पत्ति कही जाती है। इस प्रकार जो इस रोग की उत्पत्ति जानता है वह यक्ष्मा रोग के फेर में नहीं आता है।

न अमावस्या याच पौर्णमस्याच स्त्रियमुपेयात यदुपेयात निरिन्द्रियः स्यात्। सोमस्य वैराज्ञोऽर्धे मासस्य रात्रय पत्नय। आसन् तासाममावस्यांच पौर्णमासीं चनोपैत् (४) त एनम् अभिसमनह्येतां यक्ष्म आर्च्छत् राजानं यक्ष्म आरदिति तद्राजयक्ष्मस्य जन्मयत पापीयानभवत् तत् पापयक्ष्मस्य यत् जाया भ्यामविन्दत् तत् जायेन्यस्य। य एवमेतेषां यक्ष्माणां जन्मवेद नैनमेत यक्ष्माविन्दति स एते एव नमस्यन्नुपाधावेत्ते अनृतावस्य सृणी यहो आवे देवान भागधे असाव। तैत्तिरीय संहिता का २५ ६-५ )

अम वस और पूर्णिमा को स्त्री प्रसङ्ग न करे यदि करेगा तो इन्द्रिय हीन होजावेगा। (यहां कथा कहते हैं) राजा सोम के रात्रियें पत्नियें थीं उनमें वह पूर्वोक्त तिथियों में भी गमन करता रहा उसको यह यक्ष्मा रोग हुआ। पाप कर्म से पाप, यक्ष्मा स्त्रियों के साथ अधिक रमण करने से जाये य—यह इसके नाम हुये जो यक्ष्मा के इस जन्म को जानता है वह

इस रोग से छूट जाता है उसको नमस्कार करता हुआ यह रोग भाग जाता है। चरक में भी यही लिखा है—

दिवौ कसां कथयतां ऋषिभिर्वै श्रुताकथा।
काम व्यसन संयुक्ता पौराणी शशिनंप्रति॥
रोहिण्यामति सक्तस्य शरीरं नातु रक्षतः।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेह परिक्षयात्॥
दुहितृणा मसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान निः सृतोमुखात
प्रजापतेर्हि दुहितृरष्टाविंशति मशुमान्।
भार्यार्थं प्रति जग्राह न च सर्वास्व वर्तत॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्व समवर्तिनम्।
रजोऽन्धम बलं दीनं यक्ष्मा शशिन माविशत्॥
अथ चन्द्रमसः शुद्धामतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः।
प्रसादं कृतवान सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सतः
क्रोधोयक्ष्मा ज्वरोरोग एकोर्थो दुःख संज्ञितः।
यस्मात् सराज्ञः प्रागासी द्राजयक्ष्मा ततो मतः॥

चरक० चि० ८

अर्थात् चन्द्रमा ने प्रजापति की कन्याओं के साथ विवाह किया परन्तु सबको छोड़कर एक रोहिणी से ही रहने लगे, इसी से चन्द्रमा का बल नष्ट होने लगा। प्रजापति ने क्रोध कर शाप दिया। उनके हुंकार से यक्ष्मा रोग उत्पन्न हुआ, वह निर्बल चन्द्रमा में जा घुसा। अब पुनः सब स्त्रियों में एकसा वर्तने लगा तो प्रजापति प्रसन्न हुए। अतः उन्होंने चन्द्रमा को पुनः स्वस्थ अश्विनी कुमार से करा दिया।

क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर रोग यह सब एक ही अर्थ-वाची हैं जिसमे कि प्रथम राजा को यह रोग हुआ इसी से इसका नाम राज रोग पड़ा।

कह नहीं सकते यह कथा कहां तक सत्य है। परन्तु इतना अवश्य है कि यदि तैत्तिरीय संहिता वाले को रूपक मानें तब भी इसका मिलान उससे एक सङ्गति खाता है। अस्तु इतना अवश्य है कि इस रोग का सम्बन्ध सोम से है। सो धातु का क्षय होना, पुनः निर्बलता होकर ज्वर होना, पुनः फेफड़ों में क्षय होना यह एक परम्परागत सम्बन्ध है। सूक्ष्म गति इसको विचार सकते हैं। ऊपर चरक में जो कथा का उद्धरण किया है 'पौराणिकी कथा' यह शब्द आया है सो महाभारत में यह कथा ज्यों की त्यों है।

## जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान सोमो यक्ष्मणा समगृह्यत।
कथंच तीर्थ प्रवरे तस्मिन् चन्द्रोन्यमज्जतः ॥४०॥
कथमाप्लुत्य तस्मिंस्तु पुनराप्यायितः शशी।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामुने ॥४१॥

जनमेजय कहते हैं चन्द्रमाको यक्ष्मा क्यों हुआ और उस तीर्थ में स्नान कर पुनः कैसे स्वस्थ हुआ यह कहो।

## वैशम्पायन उवाच

दक्षस्य तनया यास्ताः प्रादुरासनविशाम्पते।
ससप्तविंशतिकन्यादक्षः सोमाय वैददौ ॥४३॥
तास्तुसर्वाः विशालाक्ष्यो रूपेणा प्रतिमाभुवि।
अत्यरिच्यत तासांतु रोहिणी रूपसम्पदा ॥४४॥
ततस्तस्यां सभगवान प्रीतिं चक्रे निशाकरः।
सास्य हृद्याबभूवाथ तस्मातां बुभुजेसदा ॥४५॥
पुरा हि सोमो राजेन्द्र रोहिण्याम वसच्चिरम्।
ततस्ताः कुपिता सर्वा नक्षत्राख्या महात्मनः॥४६॥
तागत्वापितरं प्राहु प्रजापति मतन्द्रिता।
सोमोवसतिनास्मासु रोहिणीं भजतेसदा ॥४७॥

दक्ष प्रजापति के २७ कन्यायें थीं वह चन्द्रमा को व्याही गईं, इन सब में रोहिणी रूपवती थी इस लिये चन्द्रमा सदा उसी के पास रहते थे। सब और कन्यायें पिता के पास गईं और उनसे कहा प्रजापति ने चन्द्रमा को फिर समझाया परन्तु चन्द्रमा ने नहीं माना इस तरह तीन बार समझाने पर भी न माना तब प्रजापति ने यक्ष्मा भेजा।

> तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धो यक्ष्माणं पृथ्वीपते।
> ससर्ज रोषात सोमाय स चोडु पतिमाविशत॥
> स यक्ष्मणाभिभूतात्मा क्षीयताहरहः शशी।
> यत्नं चाप्यकरोद्राजन् मोक्षार्थं तस्य यक्ष्मणः
> इष्ट्वेष्टिभिर्महाराज विविधाभिर्निशाकरः।
> नचामुच्यत शापाद्वै क्षयञ्चैवाभ्यगच्छत॥४६॥

तीसरी बार उनके वचन को सुनकर प्रजापति ने सोम के प्रति यक्ष्मा को भेजा। उससे हर रोज वह क्षय होता चला गया। यद्यपि बहुत यत्न किये, अनेक यज्ञ किये परन्तु वह इस रोग से नहीं छूटा।

इसके आगे सोम के क्षय होने से औषधि, अन्नादि का नाश, उसके न होने से प्रजा नाश पुनः देवताओं की प्रजापति से प्रार्थना करना चन्द्रमा का अपराध स्वीकार और सरस्वती प्रभास तीर्थ में स्नान कर यक्ष्मा से मुक्त होना इत्यादि का वर्णन है देखो महाभारत शल्य पर्व अध्याय ३५।

आधुनिक इतिहास तत्ववेत्ता राजा चन्द्र का काल ईसा से २००० वर्ष पूर्व मानते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के बाद चौबीसवीं पीढ़ी में प्रादुर्भूत रघुवंशी महाराज अग्निवर्ण यक्ष्मा रोग के ही शिकार हुये। यथा—

> "आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चंद्रमक्षिणोत्।
> दृष्ट दोषमपि तन्नसोत्यजत्संगवस्तुभिषजामनाश्रव"॥
> स्वादुवस्तुविषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते।
> तस्य पांडुवदनाल्पभूषणा सावलम्ब गमनामृदुस्वना॥
> राजयक्ष्मपरिहानिराययौकामयानसमवस्थयातुलाम्।
> ( रघुवंश काव्य )

आधुनिक अनुसंधान के अनुसार महाराजा अग्निवर्ण जी का काल ईसा से लगभग १७०० वर्ष पूर्व है।

महाभारत में देखिये इसी रोग ने 'महाराजा विचित्र वीर्य' को मारकर शंतनु संतति को निर्मूल कर दिया था। यथा—

> अथकाशिपतेः कन्याधूरावाना वैस्वयंवरम्।
> भीष्मोविचित्रवीर्यायप्रददौविक्रमाहृताः॥
> तासाम्अम्बिकाम्बालिकेभार्येप्रादाद्भात्रेयवीयसे।
> तयोःपाणी गृहीत्वातु रूप यौवन दर्पितः॥
> ताभ्यां सह समास्सप्त विहरन्पृथ्वी पतिः।
> विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत॥
> जगामास्तमिवादित्यः कौरव्योयमसादनम्।
> (महाभारत आदि पर्व)

विचित्र वीर्य का काल ऐतिहासिक लोग ईसा से ११०० वर्ष पूर्व मानते हैं। भारतीय युद्ध ( महाभारत ) का काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व है।

देखिये पार्गिटर साहब लिखित प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास—

अस्तु, इन प्रमाणों से निश्चित है कि भारतवासी यक्ष्मा रोग को अनन्त काल से जानते हैं। कुछ पाश्चात्य पंडित इस देश की महत्ता जानते हुए भी बहुत सी बातों में हमें अनजान बनाने का असफल प्रयास करते हैं। जो प्रायः प्राकृतिक हैं। लेकिन सत्य ग्राही अनेक सज्जन भी अनेक यूरोपीय इतिहास में विद्यमान हैं जो इस देश की महनीयता मुक्त हृदय से मानते हैं। यथा—

अमेरिका देश के सुप्रसिद्ध डाक्टर कारपेंटर साहब लिखते हैं कि अग्निवेश, चरक, सुश्रुत एवं अन्यान्य महर्षियों की आविष्कृत चिकित्सा प्रणाली को देखने से उनकी दिव्य स्मृति हमें आज भी होती होती है; क्योंकि अनेक सदियों के पहिले उक्त महर्षियों की लिखी पुस्तकों का अनुवाद अरब, यूरोप, अमरीका और ग्रीस आदि देशों में लैटिन, अरबी, यूनानी आदि भाषाओं में अनेक बार हो चुका है। इससे हमारी चिकित्सा पुस्तकों में भी भारतीय महर्षियों की प्रचुर विभूतियां विद्यमान हैं।

प्रोफेसर मैक्डानल का कहना है कि हिन्दू वैद्य विद्या का अरबों पर ७१० ई० के लगभग में प्रभाव पड़ा। यह विचारणीय है क्योंकि बगदाद के खलीफा ने कितनी ही संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद कराया था।

राजयक्ष्मा रोग की अवतरणिका लिखते हुए महर्षि चरक ने लिखा है कि—'लब्ध्वा चतुर्विधहेतु समाविशति मानवान्' चार कारणों से यह रोग मनुष्यों को होता है। जिनमें वीर्य नाश प्रधान कारण है। जैसा कि—

"रोहिण्यामति सक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः।
रजोऽन्वमबलंदीनंयक्ष्माशशिनमाविशत्॥"
पतंजलिः (चरकर्षिः)

रजोगुण से कर्तव्याकर्तव्य विमूढ़ अपनी देह की रक्षा में अनवधान, स्त्री संभोग में सदा संलग्न निर्बल एवं कृश राजा चन्द्रमा को यक्ष्मा रोग हो गया। क्यों न हो? यथार्थ में शुक्र के क्षय होने पर शारीरिक रोग निवारक शक्ति घट जाती है और ऐसा होने पर सभी रोग आक्रमण कर सकते हैं। जैसा कि कहा है—

"क्षये शुक्रेसर्वे रोगाः भवन्ति"

उपर्युक्त महर्षि पतंजलि (चरकर्षि) का काल प्राच्य और प्रतीच्य ऐतिहासिकों ने इस समय से २००० वर्ष या कुछ और अधिक पूर्व माना है। निम्न लिखित मन्त्र से वेद भी उपर्युक्त संदर्भ का समर्थन करता है। यथा—

यःकीककसाःप्रशृणाति तलीद्यमव तिष्ठति।
निर्हास्तंसर्वं जायान्यं यः कश्चककुदिश्रितः॥
अथर्ववेद का० ७ अ० ७ सू० ८१

साय० भा०—यो राजयक्ष्माख्यो रोगः कीककसाः अस्थीनि प्रसृणाति व्याप्नोति। यश्चरोगः तलीद्यम्। तलीद् इति अन्तिक नाम। आन्तिके भवं तलीद्यम्। अस्थि समीप गतं मांसं अवतिष्ठति अवकृष्य तिष्ठति मांसं शोषयतीत्यर्थः। यः कश्चिद् दुःसाध्यो राजयक्ष्माख्योरोगः ककुदि ककुन्नाम ग्रीवा पर भाग तस्मिन्श्रितः संश्रितः ककुत्स्थानं तन् कुर्वन् यो रोगोऽस्ति तं सर्वं शरीरगत सर्वधातु शोषकं जायान्यं निरंतर जाया स्त्री संभोगेन् जायामानं क्षयरोगं निर्हाः निर्हरतु। जायान्य शब्दोरोगविशेषपरः। सच जाया संबंधेन प्राप्नोतीति "तैत्तिरीयके" समाम्नायते।

जो राजयक्ष्मा रोग रस, रक्त आदि धातुओं को लेकर हड्डियों तक फैलने वाला और दुश्चिकित्स्य है, जो फुफ्फुसों के ऊपरी भाग में अवस्थित होकर उस वस्थि प्रदेश को सिकोड देता है, उस सम्पूर्ण शारीरिक धातुओं को सुखाने वाले एवं निरन्तर मैथुन से पैदा होने वाले रोग को निकाल डालें। जायान्य शुद्ध रोग विशेषवाची है और वह स्त्री सम्बन्ध से पकड़ता है, जैसा कि तैत्तिरियोपनिषद् से जाना

[ शेषांश पृष्ठ १०३ पर देखें ]

# क्षय के शास्त्रीय कारण
## और
# उनका विस्तृत विवेचन

लेखक—श्री० डा० वेदव्यास जी शर्मा आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि, M. B. & S. भूतपूर्व चीफ मैडीकल आफीसर— श्री० जिम यशवन्तराव हास्पीटल इन्दौर, जालन्धर ( पंजाब )

## क्षय के चार कारण—

चरकाचार्य ने अपनी चरक संहिता में लिखा है कि

अयथा बलमारम्भो वेग सन्धारणं क्षयः।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम्॥ चरक०

इसी प्रकार भाव प्रकाश में भी कहा है—

वेगरोधात्क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात्॥ भा० प्र०

अष्टाङ्ग हृदय वाग्भट्ट में भी क्षय के चार कारण ही माने हैं।

साहसं वेग संरोधः शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः।
अन्नपान विधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः॥ वा० म०

प्राचीन महर्षियों ने योग बल से त्रिकाल का ज्ञान प्राप्त कर स्पष्ट कह दिया है कि क्षय के चार कारण होते हैं। जैसे (१) वेगरोधात् (२) क्षयात् (३) साहसात् (४) विषमाशनात्

## प्रथम कारण वेगरोधात्—

मल, मूत्र, अधोवायु, जम्भाई, अश्रुपात, उद्गार ( डकार ), छींक, वमन, मैथुन, क्षुधा, तृषा श्वास, निद्रा इन १३ वेगों में से किसी भी वेग के रोक लेने से वायु कुपित होकर इतस्ततः शरीर में दुष्ट होकर गमन करके अनेक रोगों को उत्पादन करेगी। वायु स्वयं कुपित होकर कफ व पित्त को दूषित करेगी और त्रिदोष मिलकर समस्त धातुओं को दूषित कर देंगे। रक्त दूषित होकर शरीर के विष को विसर्जन न कर सकेगा, और अन्यान्य धातुओं का पोषण भी न कर सकेगा। फलतः समस्त शरीर में विष फैल जावेगा या मलिनता बढ़ जावेगी जिससे शरीरावयवों का सम्यक पोषण न हो सकेगा और प्रति दिन कृशता बढ़ने लगेगी यही क्षय कहलावेगी। निरन्तर कार्यों में लगे रहने और उनकी चिन्ता तथा भरण पोषण की व्यवस्था की हर समय मानसिक चिन्ता रहने से स्वाभाविक वेगों के निकलने के लिये यथोचित समय नहीं मिल सकता। मिलों की नौकरी, सामयिक व्यापार की अवस्था, देखने से दूसरे कारण से किसी भी भारतीय का बचकर जीवन निर्वाह करना अत्यन्त कठिन हो रहा है।

स्वामी राजा, माता, पिता, गुरु, भाई आदि पूज्य तथा किसी समाज, सभा, सुसाइटी में बैठने पर भय, लज्जा, घृणा आदि कारणों से वात, मूत्र तथा मल के वेग को रोकने, ड्राइंग रूम, की सभा तथा अन्य प्रसङ्गों में फंसकर वेग धारण करने पर, अधिक उचकने वाली सवारी में बैठने पर, वात, मूत्र, पुरीष के वेग को रोकने से वायु कुपित हो जाती है। कुपित हुई वायु शूल, अतिसार या मल बद्धता ( कब्जियत ) पसुलियों में दर्द, कन्धों में

मैथुन जन्य क्षय रोगी
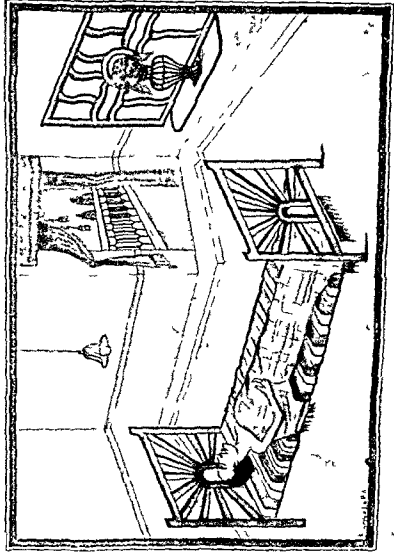
व्यवाय शोषी शुक्रस्य क्षय लिङ्गैरुपद्रुत ।
पाण्डुदेहः यथा पूर्व क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥

खिंचावट, कण्ठ में घुरघुराहट, फेफड़ों में पीड़ा शिरः शूल, कास, श्वास, ज्वर, प्रतिश्याय, स्वरभेद आदि को उत्पन्न कर देती है। इन उपद्रवों को होने से मनुष्य का शरीर क्षीण होने लगता है इसलिये वेगों को कभी न रोकना चाहिये अन्यथा उपरोक्त कारणों वाला क्षय उत्पन्न होकर प्राण- नाश कर देगा।

## २ क्षयात्–

चिन्ता, शोक, ईर्षा, उत्कण्ठा, भय, क्रोध आदि के अधिक होने से, दुबले पतले मनुष्य को बहुतायत रूखा सूखा पदार्थ सेवन करने से, अनाहार रहने से, भोजन की कमी से हृदय में रहने वाले रस के क्षय होने से, सूख जाने से, अति मैथुन या हर्ष के साथ बहुमैथुन करने से (क्योंकि हर्ष से शरीर के सब स्रोतों का मुख खुल जाने से वीर्य्य विशेष परिमाण में निकला करता है) या अन्य तरीकों से धातु क्षय करने से क्षय रोग होने लगता है। अधिकाधिक मैथुन करने वाले मनुष्य का वीर्य (शुक्र) क्षय हो जाता है, वीर्य के क्षय हो जाने से मैथुन के समय वीर्यपात नहीं होता उसके स्थान में फेन लिये हुए कुछ सफेदी मायल रक्त आने लगता है। शरीर दुर्बल तथा कृश होने लगता है प्रकुपित वायु शुक्र, रक्त तथा ओज के क्षय हो जाने से शून्य शरीर में चारों ओर चक्कर लगाने लगती है। मांस तथा रक्त सूखने लगते हैं। वायु के द्वारा पित्त और कफ बाहर निकाले जाने लगते हैं। इन सब कारणों से पसुलियों में पीड़ा, स्कन्धों में खिंचावट, कण्ठ खुजली, घुरघुराहट होने लगती है। इस प्रकार वायु से प्रेरित कफ जब शरीर में पहुंचता है तब शिरः शूल या शिर का भारी हो जाना होता है। सन्धि स्थानों में जाकर संधिशूल, अङ्गों का टूटना तथा पक्वाशय में जाकर अरुचि, अन्न का न पचना आदि व्याधियों को उत्पन्न कर देता है। पित्त कफ के अपने स्थान से हट जाने से तथा प्रतिकूल गमन करने से बलवान वायु, ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद, प्रतिश्याय आदि को उत्पन्न करती है। इन सुखाने वाले उपद्रवों से युक्त होकर मनुष्य धीरे धीरे क्षीण होने लगता है इसलिये मनुष्य को उचित है कि शरीर की रक्षा के वीर्य की रक्षा अवश्य करे

(१) काम अधिक करना पड़ता है भोजन कम मिलता है इस प्रकार नित्य जो काम करने से शारीरिक स्नेहादि का क्षय होता है उसकी भोजन से पूर्ति नहीं होती, तब शरीर कमजोर होने लगता है। शरीर का यह नियम है जिस वस्तु का खर्च जितना होता है आहार का भाग उसी को सबसे पहिले पूर्ति करता है। शेष भाग से नित्य नैमित्तिक शरीर भागों की पूर्ति करता है परन्तु यह भाग इतना सूक्ष्म रह जाता है कि नित्य नैमित्तिक शरीर संचलनादि से प्राप्त हुई कमी की पूर्ति के लिये पर्याप्त नहीं होता इससे शरीर क्षीण होने लगता है यही अनुलोम क्षय कहलाता है। अथवा यों समझिये–रस दुष्ट हुआ उससे आमाशय में कफ बना। कफ ने कुपित होकर रसवाही स्रोतों को रोक दिया और रक्त न बन सका, इधर वायु कुपित हुआ और उसने समस्त धातुओं को सुखा डाला।

(२) दुबला शरीर है, बल कम है, मैथुन, हस्त-मैथुन, नर-मैथुन आदि का शौक लग गया, खर्च से आय कम, उस पर भी चाय, कोकेन, काफी गर्म मसाले, शराब, गांजा, अफीम, तमाखू आदि वीर्यनाशक पदार्थों को धारण कर लिया। बस फिर

क्या दुर्बलता जोरों से बढती गई और उधर वायु ने कुपित होकर समस्त धातुओं को सुखा डाला वीर्य कम हुआ और समीपस्थ धातुओं पर बीती। मैथुन त्याग सकते नहीं, वीर्य कहां तक बने? यह तो ऐसी वस्तु है जो ४० वें दिन तैयार होती है। फिर क्या था जब तक वीर्य रहा वीर्य निकला, बाद को मज्जा, और रक्त, रक्त के आते ही शुक्राशय व मूत्राशय प्रणाली मे व्रण हो गया। और पीव 'मवाद' आने लगा और क्षय का आरम्भ हो गया। 'वायोधातु क्षयात् कापो मार्गस्या वरणे' की उक्ति के अनुसार कमजोर नाजुक तबियत के ठहरे। जरा ठण्डी खुली हवा लगा अथवा जल का परिवर्तन हुआ जुकाम हो गया, शुक्र क्षीणता और बल की न्यूनता में जुकाम शीघ्र हो जाया करता है और जुकाम की भीषणता (प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः) को जानते नहा, जो मन चाहा चटपटे आलू, कचालू, दही बड़े खा लिये कुछ नहीं तो रसगुल्ले, काजी के बतासे या गोल गप्पे ही उड़ा दिये। देहात में हुए तो समय कुसमय वाला भुट्टे (छल्लियें) आलू भूनकर खा लिया जुकाम बिगड़ गया, कुपथ्य बढ गया, खांसी बढ गई और मैथुन भी कर डाला। बस ठंडी 'शुष्क कास' आने लगी फिर भी कोई ख्याल न किया और न औषध ही सेवन किया धीरे २ ज्वर होने लगा और एक दिन शय्या शायी बनाकर छोडा। इस प्रकार के रोगियों को यदि मलेरिया 'फसली ज्वर' का दौरा हो गया तो उतना ही असम्भव हो जाता है। क्षय पूर्ण एवं उग्र रूप धारण करके प्रगट हो जाती है और सम्पूर्ण विधानों को निष्फल कर देती है।

कोमलांगी नवरमणी है अति मैथुन किया, प्रदर हो गया। प्रथम तो छिपाये रक्खा और रोग बढ़ता गया जिस से निर्बलता बढती गई, अजीर्ण भी रहने लगा और आहार कम हो गया, मलेरिया फीवर हो गया। डाक्टरों ने कुनैन मिक्श्चर दे दिया, प्रदर और भी बढ गया, कविराज जी ने देखा भूख नहीं है मल है झट इच्छाभेदी रस दे दिया। दस्त प्रारम्भ हो गये, क्षीणता और बढ़ती गई ज्वर तेज हो गया और खांसी भी आने लगी बस, खाट पर गिर गई। तब ज्ञात हुआ कि अरे इन देवी को तो क्षय हो गया। फिर जानने से क्या लाभ 'जब चिड़िया चुग गईं खेत' यह भी प्रतिलोम क्षय का उदाहरण है।

## अनुलोम प्रतिलोम क्षय-

नव युवक है, अतिमैथुन से स्वप्नदोष रहने लगा कब्ज भी रहने लगा, धीरे २ शुक्रमेह बढ गया, शुक्र क्षय से निर्बलता बढने लगी, कहीं जागने का रात्रि को काम पड गया थियेटर आदि मे बस जुकाम होगया। इसके बाद खांसी आने लगी और हरारत होने लगी भूख कम होगई। सैकड़ों दवाईयों की लाभ कुछ न हुआ और खाट पर पड़ गये, यह अनुलोम व प्रतिलोम दोनों प्रकार की क्षय का उदाहरण होगया भेलाचार्य इस प्रकार इसे पुष्टि करते हैं—

> व्यायामार्थं भजते जन्तुर्योऽवीर्यो जनस्य च।
> तस्मादायमेनैव प्रातवेगं न धारयेत् ॥
> मदशाद्दुर्बलो जन्तु रूक्षाहार कृशोऽपिवा।
> रूक्षभोजि विशेषेण स्त्रियो यश्चातिसेवनात् ॥
> सार्द्रं कुरुते मूत्रं जन्तु शुक्र परिक्षयात्।
> रेतः स्थाने च सुषिरं वायुस्तस्य प्रधावति ॥
> तस्य वातात् भूतस्य ज्वर कासश्च जायते।
> स्वर भेदश्च साप्यस्य निष्ठीवति सशोणितम् ॥

अथवाप्य वशोजन्तु शश्वत्सपरि हीयते ।
इत्येभिर्लक्षणं विद्यात अति मैथुन जं क्षयम् ॥
रतिमूलं शरीरंहि शरीरस्य रतिः फलम् ।
तस्मात्फलर्थी मूलार्थं स्त्रियस्सेवेत युक्तितः ॥

इन सुखाने वाले उपद्रवों से युक्त होकर मनुष्य धीरे २ क्षीण होने लगता है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि शरीर की रक्षा के लिये वीर्य की रक्षा अवश्य करे। यही आहार का उत्तम उत्कृष्ट तथा अन्तिम परिणाम-तत्व है। जैसे कहा भी है—

आहारस्य परंधाम वीर्य्यंत द्रक्ष्य मात्मनः ।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं च नियच्छति ॥

हम जो आहार खाते पीते हैं उसका अन्तिम सारभूत तेज वीर्य बनता है, जिसकी हर प्रकार से रक्षा करनी चाहिये। वीर्य के क्षय के होने से बहुत से कष्ट देने वाले अनेक रोग उत्पन्न होजाते हैं। अतः शरीर का नाश होजाता है, तथा जन्मजन्मान्तर के संचित पुण्य की कृपा से पाये हुए मनुष्य शरीर का सम्बन्ध छूट जाता है। इसलिये मुनिवरों वा महर्षियों ने अपने ग्रन्थों में उपदेश दिया है कि—

"नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः" "वीर्य्यंबलम्" अकामतः स्वयमिन्द्रिय स्पर्शेन वीर्य्य शरीरे संरक्ष्यो-र्ध्वरेतः सततंभव., "मरणंबिन्दु पातेन जीवनंबिन्दु धारणात्" "ब्रह्मचर्य्य प्रतिष्ठायां वीर्य्य लाभः"

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण प्राप्त होते हैं। अतः सर्व प्रकारेण वीर्य की रक्षा करना प्राणी मात्र का धर्म है। आजकल हम जो इतने कमज़ोर (बलहीन) होगये हैं और रोगों का घर बन गये हैं, अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं का लक्ष्य हो रहे हैं, निर्बलों से भी निर्बल बनकर अनेक प्रकार के अपमानों तथा असफलताओं का केन्द्र बन रहे हैं, उन सब का एक मात्र कारण अपरिमित वीर्य व्यय ही होसकता है दूसरा कुछ नहीं। रक्त की ४० बून्दों से वीर्य की एक बून्द बनती है। यही शरीर का सार है। बहु मैथुन से वीर्य और रक्त तो शरीर में न्यून हो ही जाता है और साथ ही ओज भी नष्ट होजाता है। इससे शरीर और चेहरे पर की कान्ति (शोभा) भी जाती रहती है। इससे अधिकांश भारतवर्ष के युवा वीर्य नाश करते हैं। मैथुन में फंसे रहकर दुर्बल बनते हैं। इस पर किसी योरपीयन डाक्टर ने ठीक ही कहा है—

The greatest enemy to the health of man is woman, and the worst enemy to the health of woman, is man.

अर्थात्—पुरुष की आरोग्यता का बड़े से बड़ा शत्रु स्त्री, और स्त्री के स्वास्थ्य को नाश करने

---

[ पृष्ठ ९९ का शेषांश ]

जाता है। अस्तु, कुछ पाठकों को सन्देह होगा कि लेखक इन वेदादि वचनों से यक्ष्मा रोग होने के मुख्य कारण शुक्र क्षय को लिखते हैं, तो भला यह रोग स्त्रियों को क्योंकर होता है?

## उत्तर—

बहुतों को मालूम होगा कि स्त्रियों में शुक्र और उसके क्षरण करने वाली डिम्ब ग्रन्थियां (Ovaries glands) गर्भाशय के दोनों पार्श्व में संसक्त रहती हैं और मैथुन के समय स्त्रियां भी इन्हीं डिम्ब-ग्रन्थियों से शुक्रपात करती हैं। जैसा कि कहा है—

"योषितोऽपिस्रवत्येवंशुक्रं पुंसः समागमेः।
(सुश्रुत सं० शोणित वर्णनाध्याये)

नोट—स्त्रियों के इस शुक्र का नाम चरक ने बीजार्तव लिखा है।

वाला शत्रु पुरुष है। अतः इस व्यसन से जहां तक हो सके बचना चाहिये। श्री सत्यव्रत भीष्म आदि का उदाहरण सर्वदा अनुकरणीय तथा पालनीय होने पर हमारा कल्याण और उद्धार है। इस सिद्धान्त को भूल जाना हमारे लिये बड़ा खतरनाक होगा।

## कारण साहसात्–

तृतीय साहसकारण–बलवान के साथ मल्लयुद्ध करने, भारी धनुष वा बन्दूक आदि के चलाने, ऊंचे स्वर से चिल्लाने, गाने भारी बोझ उठाने, दूर तक नदी में तरने, पैर से शरीर को दबाने, मारने या मारखाने, तेज चलने आदि, बल से अधिक व्यायाम तथा शरीर को विधि विहीन नीचे ऊपर करने से फेफड़ों में व्रण (घाव) होजाते हैं। घाव होने पर वहां की वायु कफ को सुखा कर ऊपर नीचे तिरछे इन तीन प्रकार की चालों से चलती हुई जब शरीर के जोड़ों में पहुंचती है तब जम्हाई, शरीर का टूटना तथा ज्वर को उत्पन्न करती है। इस प्रकार वायु की विषमगति से, फुप्फुस के क्षत होने से तथा कंठ में घुरघुराहट-कण्डू होने से खांसी उठने लगती है। विशेष खांसने से रुक्ष हुए क्षत स्थान से (फेफड़े) रक्त निकल कर दुर्गन्ध उत्पन्न करता है। इन उपद्रवों से शरीर सूखने लगता है तब उसे साहस से उत्पन्न हुआ क्षय कहते हैं।

अथवा–जोर से कूदे, फेफड़ा फट गया और धक्का पड़ गया, खांसी में रक्त आने लगा, जोर से भाषण दिया या गाना गाया, नवीन भागते हुए घोड़े या बैल को जोर से रोका, भारी बोझा उठाया साईकल को बल से अधिक दौड़ाया, या कोई धक्का लगा छाती में चोट आई धक्का पड़ गया, कुछ दिन दर्द होता रहा फिर कास (खांसी) में रक्त आने लगा। उचित उपचार न हुआ और घाव पड़ गया। फिर उरःक्षत (क्षय) के लक्षण प्रगट होगये। इसी प्रकार साहस के अन्य उदाहरण समझियेगा। यथोक्तम्–

> उरो विभग्नतस्याथ ज्वर कासश्च जायते।
> स्वरस्सीदति चाप्यस्य निष्ठीवति सशोणितम्॥
> अथवाप्यवशो जन्तुः शश्वस्स परि हीयते।
> इत्येतैर्लक्षणैः विद्यात्साहस प्रभव क्षय॥

## ४-विषमासनात्–

चतुर्थविषमाशन कारण–जिस समय मनुष्य पान अर्थात् दाल रोटी, भात, पूड़ी, मालपूआ आदि भक्ष्य अर्थात् मांस मच्छी आदि जो दांतों से चबाये जाते, लेह्य-चटनी खाण्डव रसाला अन्य चाटने वाले पदार्थ, इत्यादि पदार्थों को प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग कर्ता, इस आठ प्रकार की भोजन विधि का त्याग करके विषम प्रकार से भोजन में प्रवृत्त होता है तब उसके शरीरस्थ वात, पित्त, कफ दुष्ट होजाते हैं। दोषत्रय के बिगड़ कर विषमावस्था में परिणत होने, शरीर में चारों ओर फैल जाने, रस तथा दोषवाही स्रोतों के मुख को बन्द कर देने के कारण मनुष्य जो कुछ भी खाता पीता है उसका विशेष करके मूत्र और विष्ठा (टट्टी) की ही वृद्धि होती है। अन्य धातु उतने पुष्ट नहीं होने पाते क्योंकि उनके बहाने वाले स्रोतों के मुख बन्द रहते हैं जैसे चरक संहिता में कहा भी है–

> स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनाञ्च संक्षयात्।
> धातूष्मणाञ्चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥

पुनः कहते हैं–

स्रोतांसि रुधरादीनां वैषम्याद्विषमङ्गताः ।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥

स्रोतों के मुख बन्द रहने के कारण औषधियें भी पूर्ण लाभ नहीं करती, इन्हीं कारणों से लोग हर प्रकार की शक्तियों से हीन होते जारहे हैं। वर्तमान समय मे यह इतने हीन हैं कि इस हीनता की पूर्ति अब १०० वर्ष में भी हो सकना अत्यन्त असम्भव है। फिर इन्हें समय पर और पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। अंग्रेजी राज्य जब भारतवर्ष की आर्थिक शक्ति को चूस कर भी घी के स्थान में नकली घी ( अपौष्टिक और विकृत तैल ) और लकड़ी का निकम्मा आटा आने देना बुरा नहीं समझता, तब हमे अपने पुराने दिनों की पुष्टि का पुनः प्राप्त होना बिलकुल असम्भव प्रतीत होता है। समय पर भोजन न मिलने से भारतीयों की जठराग्नि विषम समस्या पर जा डटी है। इससे अब उन्हें समय २ पर यथोचित भूख लगना, समय पर यथोचित अन्न का पचना और उसका उपयोगी आहार रस प्राप्त होना असम्भव होगया है। पौष्टिक पदार्थ न मिलने से भारतीय मात्र को विशेष कर फलाहारियों का पौष्टिक आहार रस प्राप्त होकर रक्त, वीर्य और ओज का बनना दुष्कर होगया है। यही कारण है कि भारतीयों मे क्षय रोग की बाढ बड़ी तेजी पर है। पाश्चात्य चिकित्सक भी इन कारणों को मानने के लिये मजबूर हैं। क्योकि उनके माने हुए स्थानीय और सार्वदेहिक क्षय के भेद इन्हीं चार कारणों से उत्पन्न होते हैं। अब ऊपर लिखित चार कारण ही इतने बलवान क्षय प्रवर्तक हो रहे हैं कि उनके फैलने के बारे मे बहुत सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता ही बहुत कम रह गई है! अतः हम विषमासन का लक्षण लिखते हैं।

बहुस्तोक मकाले च तज्ज्ञेयं विषमासनम् ।

चतुर्थ विषमासन कारण का विशेष विवरण :—

चतुर्थ विषमासन में वर्णित भोजन के आठ प्रकारों को विस्तार पूर्वक दो नम्बरो में विभाजित करके लिखते हैं।

१ - क्षय रोग का चौथा कारण विषमासन है। कभी किसी समय कभी कम, कभी अधिक, कभी जल्दी २ कभी देर से अनियमित रूप से कभी भारी कभी हलका, जो भोजन किया जाता है वह विषमासन कहाता है। किसी भी कारण से जब मनुष्य खाने पीने चबाने और चाटने योग्य आहार के पदार्थों को अपनी प्रकृति (स्वभाव) से विषम, अपनी इन्द्रियों के कर्तव्यों और स्वभाव से विषम, परस्पर संयोग से विषम, मिलावट से विषम, देश व्यवहार से विषम, समय से विषम, उपयोग से विषम, स्थिति से विषम और उपशय दृष्टि से विषम करके आहार करता है। तब उससे उस मनुष्य के वात, पित्त, कफ प्रकृति मे विरुद्ध विषम रूप धारण कर लेते हैं और धीरे-धीरे क्षय रोग उत्पन्न कर देते है। इन ऊपर लिखे विषम भोजन के आठ प्रकारों को उदाहरण से इस प्रकार समझना चाहिये—

प्रकृति विषम—

किसी मनुष्य की प्रकृति है कि वह नित्य ही चिकनी पौष्टिक और गरिष्ठ वस्तुयें खाता रहता है और इस आहार से उसको कोई हानि न पहुंच कर पूरा लाभ ही पहुंचता है। ऐसी दशा मे उस मनुष्य को वैसा ही नियमानुसार सदा न मिलने लगे अर्थात कभी मिले कभी न मिले तो इसे प्रकृति विषम आहार कहते है।

२–इन्द्रिय विषम—

किसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियां अथवा ज्ञानेन्द्रियां खूब कर्मठ हैं, बराबर उनसे काम लिया जाता है किन्तु किसी पराधीनता, या रोग कारणवश नियमानुसार काम नहीं लिया जाता या जिन इन्द्रियों की सहायतार्थ वह मनुष्य कोई ऐसे पदार्थ खाता है जिनसे उसकी इन्द्रियां सबल और कर्मठ बनी रहती हैं, परन्तु प्रसङ्ग वश अब मनुष्य वह खुराक समय पर और ठीक परिमाण में नहीं पहुंचा सकता तो उसका आहार इन्द्रिय विषम कहलाता है।

३–संयोग से विषम—

दूध और आम का संयोग बुरा है, मधु और घृत का समान भाव से खाना विष किया पैदा करता है, ऐसी दशा में जो मनुष्य ऐसी ही परस्पर विरुद्ध वस्तुयें ना समझी से खाता रहता है उसका वह आहार संयोग विषम माना जाता है।

४–मिलावट से विषम—

भोजन के पश्चात् सत्तुओं का खाना निषध है अथवा बिना जल के सूखे सत्तु खाना निषिद्ध है, पर कोई मनुष्य भूल से ऐसा करता है तो उसके खाये हुये सत्तु पहले किये आहार से मिलकर विगुणता उत्पन्न करते हैं। यह आहार मिलावट से विषम कहलाता है।

५–देश से विषम—

गर्म देश में गरम वस्तुओं (चाय, काफी नशा) इत्यादि का सेवन सदा हानिकर होता है। ऐसी दशा में कोई मनुष्य गरम देश में गरम वस्तुयें ही खाता रहता है तो उसका आहार देश से विषम कहलाता है।

काल से विषम—

जाड़े के दिनों में बरफ का सेवन या गरमी के दिनों में मद्य या चाय आदि का अधिक सेवन करना, नाम काल से विषम आहार करना कहलाता है।

उपयोग से विषम—

शरीर में प्रत्येक काम और आहार के उपयोग का क्रम और परिणाम निश्चित रहता है। उस उपयोग के क्रम और परिणाम से जो भी विषम (ऊट पटांग-अट्टमट्ट) कार्य किया जाता है वह उपयोग से विषम कहलाता है। जैसे–खाली पेट होने पर बड़ी शान्ती से आध पेट सुपाच्य भोजन का और चौथाई पेट पानी का उपयोग करके चौथाई पेट खाली रखना चाहिये। पर इस उपयोग नियम के विपरीत या विषम (कभी इसके अनुकूल और कभी प्रतिकूल) आचरण करने से उपयोग विषम आहार कहलाता है।

( ८ ) स्थिति विषम—

प्रत्येक मनुष्य को सीधे ढङ्ग से आराम से बैठ कर शान्त चित्त से भोजन करना चाहिये। यही शास्त्रीय नियम है, किन्तु जो खड़ा लेटकर, तिरछा बैठकर, चलता फिरता, अशान्त में भोजन करता है वह स्थिति विषम आहार कहलाता है।

नोट उपशय विषम—

किसी मनुष्य का स्वभाव है कि वह ताजा और मुलायम भोजन करके ही स्वस्थ्य रहता है। बासी या कठिन पदार्थ खाने से उसका स्वास्थ्य बिगड़ता है। इससे ताजा और मुलायम भोजन ही उसके लिये उपशय है वही उसके लिये उचित है। पर उससे विपरीत भोजन करना उपशय विषम आहार

कहलाता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि आप विषमाहारों से दूर ही रहे क्योंकि इस पर चरकाचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान मनुष्यों को जितेन्द्रिय रहकर ठीक समय पर हितकारी और प्रमाण युक्त आहार करना चाहिये, उन्हें समझ रखना चाहिये कि विषमासन के दोष से कैसे कष्ट-दायक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है।

## उपदेश—

हिताशीस्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून्कष्टान् बुद्धिमान विषमाशनात॥

## नं० २ के विषमासन का वर्णन—

नं० २ के विषमासन के आठों प्रकारों का वर्णन दूसरे क्रम से करेंगे।

चतुर्थ विषमासन कारण का विशेष विवरण नम्बर २ भोजन के आठों प्रकारों का विवरण—

१–प्रकृति २–करण ३–संभोग
४–राशि ५–देश ६–काल
७–उपयोग संस्था ८–उपयोग कर्त्ता

१–प्रकृति—का भाषांतर अर्थ है स्वभाव। भोजन के समय खाने वाले पदार्थों के साथ प्रकृति का मिलान पूर्वक विचार करना ही प्रकृति कहलाता है। यथा—माष (उरद) और आलू स्वाभाविक गुण गरिष्ठ और मूङ्ग, अरहर और परवल स्वाभाविक लघु हैं। इनमें से यथा प्रकृति सेवन करना ही प्रकृति कहलाता है।

२–करण—स्वाभाविक पदार्थों (द्रव्यों) के संस्कार करने को करण कहते हैं यथा साधारण दुग्ध क्षय रोग में पीना कफ के बढ़ाने वाला होता है और यही दुग्ध अग्नि द्वारा 'क्षीरपाक' रूप में बनाकर सेवन किया हुआ 'कफोघ्न' और पुष्टि देने वाला होता है। इसी प्रकार शीतल जल ज्वर में पान किया हुआ त्रिदोषों को कुपित करता है वही जल गर्म किया संस्कारित होने पर पीने से दोषत्रय और ज्वर नाशक है।

३–संयोग—का अर्थ है दो द्रव्यों के परस्पर मिलने को संयोग कहते हैं। समभाग में खाया हुआ मधु और घृत विष (जहर) के बराबर होता है, न्यूनाधिक प्रमाण में खाया हुआ अनेक प्रकार के रोगों को नष्ट करता है।

४–राशि—सर्वग्रह और परिग्रह को कहते हैं। सर्वग्रह का अर्थ है–सब वस्तुओं को इकट्ठा करके जान लेना। परिग्रह से तात्पर्य है पृथक २ वस्तुओं के प्रमाण इकट्ठा कर जान लेना। जैसे भोजन डेढ़ पाव पका या आध सेर पुख्ता खा लेना नाम सर्वग्रह और इसमें निश्चय करना कि इतना आटा और इतनी दाल और भात खाने में आया है इसका नाम परिग्रह है। राशि का यह भी अर्थ है कि प्रत्येक कार्य में राशि का विचार कर कार्य करना उत्तम होता है।

५–देश—का अर्थ स्पष्ट ही है। प्रत्येक देश के लिये विचार करना चाहिये कि इसमें कौन २ से पदार्थ उत्पन्न होते हैं और किन २ द्रव्यों का प्रचार इस देश में अधिकता से होता है। जैसे—पञ्जाब देश के लोग अधिकता से अन्न (गोधूम) खाकर ही अच्छे रहते हैं यदि वह लोग निरन्तर दाल भात सेवन करें और मद्रास वासी (चावल खाकर खुश रहते हैं) लोगों को निरन्तर अन्न दिया जाये तो दोनों देश वासियों के लिये इस प्रकार का खाना अहितकर होगा।

६–काल–का अर्थ है समय। यह दो प्रकार का होता है। प्रथम नित्यग दूसरा आवस्थिक। पहिला नित्यग ऋतु सात्म्यापेक्षी अर्थात् आहारादि में ऋतु और विकार के समय को देखकर चलना, जैसे ग्रीष्म ऋतु में अंगूर ( दाक्षा ) सेवन ऋतु सात्म्य होने के कारण नित्यग है और दूसरा आवस्थिक ऋतु विकारापेक्षी होता है। यथा–ग्रीष्म ऋतु के ज्वर में ऋतुवैपम्य उष्ण जलपान आवस्थिक कहलाता है।

७–उपयोग संस्था—इसका मतलब यह है कि आहारादि के उपयोग की नियम पूर्वक व्यवस्था का होना अर्थात् भोजनादि का नियम पूर्वक सोच समझ कर करना। जैसे आहार की अधिकता अजीर्ण उत्पन्न करती है इसलिये वैसा न करना वा अजीर्ण रोग में खाया हुआ रोग पैदा करता है ऐसा न करना।

८–उपयोक्ता—का अर्थ है उपयोग करने वाला अर्थात् उपयोक्ता करने वाले को कहते हैं। किया हुआ भोजन भली प्रकार अर्थात् अच्छी तरह पच गया है इस बात को जानने वाला योग्य नाम उपयोक्ता कहलाता है।

अनेक प्रकार के खाने पीने वाले पदार्थों के विषम तरीके से सेवन करने पर अन्न ठीक २ नहीं पचता। वात, पित्त, कफ, विषम हो स्रोतों के मुख द्वार को बन्द कर स्थित हो जाते हैं और पाचकाग्नि को विकृत कर देते हैं अतः पाचन न होने के कारण रस रक्तादि नहीं बनते और नहीं रक्तादि धातुओं को पोषण ही मिलता है। इसलिये वायु कुपित होकर यत्र-तत्र पहुंच अङ्गमर्द पार्श्वशूल, गला घुटना, स्वरभेद, प्रतिश्याय आदि को उत्पन्न करता है। इसीप्रकार से कुपित हुआ २ पित्त दोषानुबन्धी होकर ज्वर, दाह, अतिसारादि को उत्पन्न कर देता है। एवं प्रकुपित हुआ २ कफ दोषानुबन्धी होकर प्रतिश्याय, शिर का भारीपन, श्वास-कास, अरुचि आदि को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार दोषत्रय कुपित होकर हृदय और फुफ्फुस को भी खराब कर देते हैं। इसलिये क्षय रोग हो जाता है। मनुष्य जो कुछ खाता पीता है उस का अधिक भाग मल बन जाता है। इन्हीं कारणों से धातु पुष्ट नहीं होने पाते। अतः क्षय रोग वाला रोगी पुरीष के बल पर ही जीता है। पुरीष क्षय से मृत्यु हो जाती है इस पर चरकाचार्य लिखते हैं—

> तस्मात्पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः ।
> सर्वधातु क्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥

इसी कथन के अनुसार यक्ष्मा ( क्षय ) वाले रोगी के मल की विशेष रक्षा करनी चाहिये। यह रोग धीरे २ इस प्रकार बढ़ता है कि रोगी को तथा उसके बन्धु बान्धवों को प्रत्यक्ष रूप से रोग बढ़ा हुआ मालूम नहीं पड़ता। जब रोगी चलने फिरने में असमर्थ हो जाता है और रोग भी असाध्य होकर उसे मृत्यु शय्या पर सुलाना चाहता है तब कहीं जाकर घर वालों को होश आता है और इस रोग के होने का पक्का प्रमाण मिल जाता है। पाश्चात्य विज्ञान वेत्ता डा० जी० डब्ल्यू विलसन ने ठीक ही कहा है—

अपनी शिकार की टोह में पत्थर या घास के नीचे छिपे हुए सर्प के समान क्षय ( तपेदिक ) रोग भी प्रगट होने से पहिले ही ( शरीर में छिपा हुआ भीतर ही भीतर ) शरीर को नाश करने का काम आरम्भ कर देता है। जो लोग बीमारी

[ शेषांश पृष्ठ ११० पर देखें ]

# यक्ष्मा रोग के कारण और भेद

लेखक—आचार्य श्री० बदरीदत्त जी झा, A, M. S. आरोग्य मन्दिर, झांसी।

'शरीरम् व्याधि मन्दिरम्' की उक्ति कितनो चरितार्थ है इसको प्रत्येक प्राणाचार्य भली प्रकार जानता है। यह लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं है कि तनिक सी जीवन सम्बन्धी नियमों की असावधानी न जाने कितने रोगों का स्वागत करने लगती है। दैविक, दैहिक, और भौतिक व्याधियां विविध प्रकार का रूप रख कर असंयमी जीवन पर सदैव आक्रमण करने को प्रस्तुत रहती है। और फिर यही व्याधियां दोष, दूष्य, बल काल के आधार पर साध्य, कष्ट साध्य और असाध्य बन कर काल चक्र को प्रेरित करती हुई, प्राणी के जीवनीय तत्वों का अपहरण करती हुई, प्राणी के प्राणों से क्रीड़ा करती है। इस लेख में इन्हीं व्याधियों में से एक, उस व्याधि का वर्णन कर रहा हूं जिसकी भयंकरता ने समस्त विश्व को कम्पायमान कर दिया है। विशेषतौर पर इस युग मे तो इसके नाम से सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गई है। ऐसा कोई घर नहीं है कि जिसमें इसने अपना नाशकारी प्रभाव न दिखाया हो। इस रोग का नाम राज-यक्ष्मा, Tuberculosis है।

## इतिहास—

इस रोग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। हमारे संस्कृत ग्रन्थ चरक सुश्रुत आदि के सिवाय वेदों में भी विस्तार के साथ इसका वर्णन मिलता है। महाभारत काल में भी यह रोग था इसका प्रमाण विचित्र वीर्य नामक पाण्डवों के पूर्वज की मृत्यु की घटना है।

## इसके जीवाणुओं का इतिहास—

हम आयुर्वेद मतानुयायी 'रोगस्तु दोष वैषम्यम्' अर्थात् वात, पित्त, और कफ की न्यूनाधिक्यता को रोग मानते हैं। किन्तु पाश्चात्य विज्ञानवादी रोगों का कारण भिन्न २ प्रकार के जीवाणुओं को मानते हैं। हमारी दृष्टि में दोषवाद जीवाणुवाद से अधिक सार्थक सिद्ध होता है। क्योंकि जीवाणु दोषों से रहित नहीं हैं। किन्तु फिर भी वर्णन दृष्टि से उस पर प्रकाश डालना असंगत न होगा।

सर्व प्रथम जर्मन निवासी प्रसिद्ध चिकित्सक श्रीयुत काक The Kack महाशय ने १८८२ ई० में भारत के प्रसिद्ध नगर [कलकत्ता] में इस रोग के जीवाणु का पता लगाया जिसको कि यक्ष्मा का जीवाणु Bacillus Tuberculosis कहते हैं और यही जीवाणु इस रोग का पाश्चात्य विज्ञान-वादियों की दृष्टि मे प्रधान कारण होता है।

## जीवाणुओं का प्रवेश—

प्राणियों में इस रोग के जीवाणुओं का प्रवेश वायु और भोजन द्वारा होता है।

वायु द्वारा—

जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। नेत्रों द्वारा इनका देखना सर्वथा असम्भव है। इनके देखने के लिये अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता ली जाती है। यह निर्विवाद सत्य है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण समस्त वायु मण्डल इनसे व्याप्त रहता है। अतः जब हम श्वास लेते हैं तब जीवाणु वायु

के साथ हमारे फुफ्फुसों में Lungs में पहुंचते हैं, जिस समय यह श्वास मार्ग द्वारा प्रवेश करते हैं। उस समय उनमें से कुछ तो फुफ्फुस में जाते हैं और कुछ मुख में होते हुये उदर में चले जाते है और कुछ लसीका वाहिनियों द्वारा शरीर के भिन्न २ भागों में पहुंच जाते है। जिस समय यक्ष्मा के जीवाणु शरीर में प्रवेश करते हैं या कर पाते हैं, उस समय शरीर की रोग क्षमता शक्ति उनके नाश करने का प्रयत्न करता है। यदि रोग नाशक शक्ति प्रबल होती है तब तो रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश करता है। किन्तु यदि शक्ति शिथिल होती है तो जीवाणुओं द्वारा रोग का प्रादुर्भाव होने लगता है। यक्ष्मा के जीवाणुओं द्वारा रोग का प्रसार धीरे २ होता है। किन्तु जीवाणुओं की संख्या अत्यन्त शीघ्रता के साथ बढ़ती है। एक बार में यह ३०० तक अण्डे देता है।

भोज्य पदार्थ द्वारा—

वायु मण्डल में व्याप्त जीवाणु ही हमारे भोज्य द्रव्यों पर बैठ जाते हैं और फिर आहार के साथ अन्नप्रणाली में जाकर वहां पर रोग का आरम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार रोगी पशुओं के दूध में मिले हुये हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं।

## रोग का प्रसार—

संक्रमण की दृष्टि इस रोग का प्रसार मक्खियां, रोगी का कफ, और रोगी के संसर्ग द्वारा होता है।

मक्खियों द्वारा—

मक्खियों का स्वभाव है कि वह जहां गन्दगी होती है उस पर अवश्य बैठती है। अतः रोगी का कफ पूय आदि पर जब यह बैठती है तब उसके अङ्गों पर कफ आदि के साथ जीवाणु चिपक जाते हैं। पुनः यह मक्खियां आहार पर जाकर बैठ जाती हैं और जीवाणुओं से आहार को जीवाणु युक्त बना डालती है। इसी दूषित आहार को जब प्राणी खाते हैं तब उसके द्वारा उनमें रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

कफ पूय आदि—

यक्ष्मा रोग से आक्रान्त रोगी को बार २ खांसी आती है। और खांसी के साथ कफ भी निकलता है जिसको कि रोगी स्थान २ पर थूकता रहता है, उसके द्वारा उस स्थान की धूल रोग के जीवा-

[ पृष्ठ १०८ का शेषांश ]

(रोग) की प्रथमावस्था में ही सावधान होकर अपनी पूरी २ चिकित्सा कराते हैं वे ही प्रायः आरोग्यता प्राप्त कर जाते हैं। रक्त, मांसादि क्षीण होने पर बचना कठिन है। विषमाशन के विषय में भेल संहिता में यह लिखा है—

> आदौरूप विनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वंसिनी।
> रूपच्छेदकरी तप क्षयकरी धर्मस्य निर्मूलनी॥
> पुत्रभ्रातृ कलत्र भेदनकरी सन्तानकुलच्छेदनी।
> नाम्ना पीडित सर्वदोष जननी प्राणापहारी क्षुधा॥
> यदा दुर्बलो जन्तु सेवते विषमाशनम्।
> भुञ्जानस्यास्य विषम दोषस्त्वयाचित धातवः॥
> ततः पुरीषमेवेह वर्धयत्यस्य भोजनम्।
> न धातोर्न रस देहे विद्रुतस्य देहिनः॥
> रसे निर्द्रुते तस्याथ ज्वरः कासश्च जायते।
> श्वासश्चैति चास्यास्य निष्ठीवति स शोणितम्।
> यथाप्यधमो जन्तुः शाखामपरि हीयते।
> एवमेभिर्विकारैर्विद्य त विषमाशनजं क्षयम्॥
> तस्मादर्थी शरीरार्थं स्वभोजन मिच्छति।
> शरीरा पेक्षया तस्मात आहार सुसमाचरेत॥ भेल॥

णुओं से व्याप्त होजाती है। ऐसे स्थानों पर निवास करने और खेलने, कूदने और उठने बैठने से वहां के जीवाणुओं का प्राणी पर आक्रमण होता है।

सम्पर्क—

रोगी के बिस्तर, बर्तन, हुक्का, कंघी आदि व्यवहार में आने वाली वस्तुओं के व्यवहार करने से तथा रोगी के साथ सम्पर्क रखने से यह रोग एक से दूसरे पर होजाता है। अर्थात् इसलिये इस रोग को संक्रामक रोग कहा जाता है। उसका संक्रामण अत्यन्त शीघ्रता के साथ होता है।

## रोग का कारण—

ऊपर की पंक्तियों से यह तो विदित हो ही गया है कि पाश्चात्य विज्ञानवादी रोग का कारण जीवाणुओं को मानते हैं किन्तु हम दोषवादी वैद्य विविध कारणों से कुपित वात, पित्त, कफ को ही रोग का आधार मानते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवादी जीवाणुओं के साथ ही साथ निम्नलिखित कारणों को भी रोग का सहाय भूत मानते हैं। (१) ब्रह्मचर्य त्याग, (२) दरिद्रता, (३) आयु, (४) दूषित जलवायु (५) परदा प्रथा (६) बालविवाह (७) रोगी पशु सम्पर्क, (८) व्यापारिक सम्बन्ध।

ब्रह्मचर्य त्याग—

'मरणं विन्दु पातेन जीवनम् विन्दु धारणात्' की व्याप्त वाणी अक्षरशः नितान्त सत्य है। ब्रह्मचर्य का पालन शरीर के सत्व रूप वीर्य की रक्षा करता है। और इसकी रक्षा से मनुष्य में ओज की अभिवृद्धि होती है। जो हम भोजन करते हैं वह रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा और फिर वीर्य में परिवर्तित होता है। शरीर में वीर्य के रहने से बल और ओज की वृद्धि होती है। शरीर की रोग क्षमता शक्ति प्रबल बनी रहती है। यदि वीर्य की रक्षा न की जाय तो मनुष्य की जीवनी शक्ति क्षीण होने लगती है। विविध प्रकार के रोग उसके द्वार पर सदैव खड़े रहते हैं।

वीर्य का क्षय होने से विशेषतौर पर यक्ष्मा के होने की अत्यन्त सम्भावना होजाती है। ब्रह्मचर्य के नियमों का पूरा २ पालन करना जीवन को स्थिर रखने के लिये परम आवश्यक है।

दरिद्रता—

आज अपना देश दरिद्रता से भली प्रकार घिरा हुआ है। और इसीका परिणाम है कि भर पेट भोजन तक के लाले पड़े हुये हैं। शरीर के लिये जिस प्रकार का जितना भोजन मिलना चाहिये उतना कितनों को मिलता है यह बात विचारणीय है। दरिद्रता के कारण जैसे तैसे पेट की समस्या सुलझाई जाती है। बाजार के विशुद्ध पौष्टिक पदार्थ यथा दूध दही इनका मिलना अत्यन्त कठिन होगया है। हमारे जीवन में विलासता ने अधिकार कर लिया है और हम चिन्ताओं के साथ सोते हैं और चिन्ताओं के साथ ही उठते हैं। ऐसी अवस्था में हम कितने स्वस्थ रह सकते हैं? पौष्टिक द्रव्यों का अभाव, आहार द्रव्यों का समुचित न मिलना और चिन्ताओं का भार लदा रहना भी जिनके कि परिणाम स्वरूप शरीर की जीवनीय शक्ति क्षीण होती जाती है। और रोग न जाने कब धावा बोल दे, इसका पता तक नहीं रहता।

आयु—

अवस्था विशेष का इस रोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। पोषण का अभाव और दूषित दूध से

बालकों में इस रोग की अधिकता होती है। अधिकतर १५ वर्ष से लेकर ४५ वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में अधिकतर देखा जाता है। वृद्धों में यदि रोग होना है तो वह सर्वथा असाध्य रूप का ही होता है।

दूषित जलवायु—

आहार विहार के साथ ही रहन सहन का भी इस रोग का बड़ा सम्बन्ध है शुद्ध वायु, शुद्ध जल, सूर्य का प्रकाश, धूप और प्राकृतिक सौन्दर्य सर्वदा इस रोग से रक्षा करते हैं। गावों की अपेक्षा बड़े २ शहरों में जहाँ पर कि घनी बस्ती छोटी २ गलियां, ऊंची २ इमारतें बनी रहती हैं वहां की जलवायु सदैव दूषित रहती है। सूर्य का प्रकाश अर्थात धूप जीवन के लिये परमावश्यक है। इसके द्वारा वायुमण्डल के रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश हो-जाता है अनुसन्धानों द्वारा देखा गया है कि सूर्य की किरणें भयङ्कर से भयङ्कर रोगोंके नष्ट करने की शक्ति रखती हैं। जीवाणुओं के लिये तो यह महा-काल ही कहना चाहिये किन्तु दुर्भाग्य से शहरों में ऊंचे २ मकान होने के कारण सुगमता के साथ सूर्य की किरणों का प्रसार प्रथ्वी पर नहीं हो पाता जिसके कि फल स्वरूप मीलन बनी रहती है और जिसमें विविध प्रकार के रोगोत्पादक कीटाणु पलते रहते हैं। साथ ही बडे शहरों मे रहने के लिये पर्याप्त स्थान न होने के कारण छोटे २ मकानों में अधिक मनुष्य निवास करते हैं उनके प्रश्वास आदि के एक दूसरे के साथ मिलने से रोग का प्रसार होता है। उड़ती हुई धूल और धुंआं भी वायु को दूषित करता है। शहरों में शुद्ध भोजन का मिलना तो असम्भव ही है। बनावटी वस्तुओं पर जीवन यापन करना पड़ता है जिसके कि फलस्वरूप शरीर का पोषण रुक जाता है और रोग को फैलने की पूरी २ सुविधा हो जाती है। इसलिये रोग से बचने के लिये सदैव खुली हवा, शुद्ध जल और सूर्य का प्रकाश परमावश्यक है।

पर्दा प्रथा—

पर्दा की प्रथा मानवी जीवन के लिये कलङ्क है सभ्यता की दृष्टि से यदि इसका अध्ययन किया जाये तो कोई महत्व नहीं है। परदे में रहने वाली स्त्रियां घर में ही विशेषतः रहती हैं और यदि बाहर निकलती भी हैं तो घूंघट काढ़ कर और अङ्गों का विशेष प्रकार से फुलाकर तथा सिमेट कर निकलती है जिसके कि प्रतिकूल शरीर में रक्त संचार भली प्रकार नहीं हो पाता और न शुद्ध वायु ही इनको भली प्रकार से मिल पाता है। इससे परदे वाली स्त्रियों का शरीर पीला निस्तेज और रोगी होजाता है और इनसे पैदा होने वाली सन्तान भला कब स्वस्थ हो सकती है? इनके साथ सहयोग रहने से पुरुषों को भी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे परदा की प्रथा स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानि-प्रद है।

बाल विवाह—

बाल विवाह की प्रथा कितनी अनिष्टकारी है इसको लिखने की अधिक आवश्यकता नहीं है। कची अवस्था में प्रणय के पाठ पढ़ने से बल, बुद्धि, ओज, शक्ति एवं पुरुषार्थ आदि का नाश हो जाता है, शारीरिक और मानसिक विकास में पूरी २ बाधा उपस्थित हो जाती हैं। बालकों की प्रवृत्तियां विलास की ओर आरम्भ से ही शुरू हो जाती हैं। अतः उनके जीवन शान्ति निर्बल बन जाती है। और इनसे असमय में ही होने वाली सन्तान भी निर्बल और निस्तेज होती हैं जिससे कि राष्ट्र का

भविष्य भी बिगड़ जाता है। निर्बल शरीर को रोगों से सदैव सामना करना पड़ता है और न जाने कब कौन सा रोग आक्रमण कर दे इसका सदैव भय बना ही रहता है यक्ष्मा रोग की तो प्रवृत्ति हो ही जाती है। बाल विवाह अत्यन्त हानिप्रद है।

रोगी पशु सम्पर्क—

जिस प्रकार मनुष्य रोगों से पीड़ित होते हैं उसी प्रकार जानवर भी बीमार पड़ते हैं। विशेष तौर पर गाय यक्ष्मा के रोग से अधिक पीड़ित पाई जाती हैं। और इन रोगी गायों का दूध पीने से मनुष्यों में भी रोग हो जाता है। भारत के स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों का कथन है कि बालकों में यक्ष्मा रोग का मुख्य कारण एक मात्र दूषित अर्थात रोगी जानवरों का दूध ही है। पशुओं की अस्वच्छता और उनके रहने की अस्वच्छता रोग के प्रसार का बहुत बड़ा कारण होते हैं अतः उनको स्वच्छ रखना आवश्यक है। साथ ही पशुओं की शारीरिक परीक्षा भी समय २ पर करानी चाहिये। दूध सदैव अत्यन्त स्वच्छता के साथ स्वस्थ पशुओं का ही लेना चाहिये। अस्वस्थ पशुओं का दूध सदैव हानिप्रद होता है।

व्यापारिक सम्बन्ध—

व्यापार के लिये मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर आया जाया करते हैं। इनको देश विदेश घूमना, खान पान का ध्यान रखना और अनियमित जीवन बिताना स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिप्रद है। ऐसे लोगों के शरीर में रोग की प्रवृत्ति हो जाती है और विशेष तौर पर यक्ष्मा रोग घर कर लेता है। और जहां २ यह जाते हैं वहां रोग को अपने साथ ले जाकर उसका प्रसार करते हैं। ऐसी दशा में व्यापारी लोगों को सदैव अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिये और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्त नियमों का पूरा २ पालन करना चाहिये। खान पान के विषय में विशेष सतर्कता के साथ ध्यान रखना चाहिये।

ऊपर लिखित कारणों से भली प्रकार सिद्ध होता है कि शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न करने वाले समस्त कारण यक्ष्मा रोग का कारण होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इस रोग से बचने के लिये शारीरिक बल का संचय किया जाय। बलवान शरीर रोगों के लिये सदैव अक्षम होते हैं।

आयुर्वेद के आचार्यों ने इस रोग का कारण वेगों का अवरोध अर्थात मल, मूत्रादि वेगों का प्रवृत्ति होने पर इनका त्याग न करना, क्षय शरीर की धातुयें रस, रक्त, मांस मेद अस्थि, मज्जा, शुक्र, इन में से किसी का क्षय होना।

साहस—

शक्ति से अधिक कार्य करना, विषमासन, अनियमित समय पर अनियमित भोजन करना मना है। ऊपर वर्णन किये हुए कारणों में इनका समन्वय हो जाता है।

## रोग के भेद—

साधारण तौर पर लोग फुफ्फुस के विकार को जिसमें कि कास और ज्वर का अनुबन्ध रहता है यक्ष्मा कहते हैं। यह ठीक है, किन्तु फुफ्फुसीय यक्ष्मा के सिवाय शरीर के अन्य अवयव भी इस रोग से दूषित हो जाते हैं। स्थान विशेष के भय से उनको उन स्थानों का यक्ष्मा कहा जाता है।

[ शेषांश पृष्ठ ११५ पर देखें। ]

# क्षय और उससे बचने के उपाय

लेखक-वैद्य छोटूलाल महाजन आयुर्वेद विशारद, देवास ( सीनियर )

आजकल भारतवर्ष में क्षय रोग जिस तीव्रगति से अपना प्रसार कर रहा है, उसे देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि इस सर्व व्यापी महा व्याधि से बचने के लिये कतिपय ऐसे उपाय जनता के समक्ष रक्खे जाय जिन पर अमल करने से इसके जाल में न फसे। एक दिन वह था जब कि यह रोग केवल नाम मात्र के लिये ही यहा पर था, किन्तु आज जिधर देखो उधर ही इसका बाजार गर्म दिखाई पड़ता है, और प्रति सहस्रों की संख्या में मनुष्य इसका भेंट चढ़ते हैं। इसका क्या कारण है? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इसका एक मात्र कारण मनुष्यों की स्वेच्छाचारिता और नियमोल्लंघन ही है। प्रचीनकाल में मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते थे, सात्विक आहार करते थे, सदाचार मय एव निर्व्यसनी जीवन व्यतीत करते थे, ऋषियों के आश्रम में रहकर विषय वासना रहित उच्च कोटि की शिक्षा ग्रहण करते थे और गृहस्थादि आश्रम का नियमानुकूल पालन करते हुए अपनी जीविकोपार्जन में सलग्न रहते थे। इन्हीं सब बातों का परिणाम यह होता था कि वे मनुष्य सदा निरोगी-शक्तिशाली तथा दीर्घायुषी हुआ करते थे। और उन्हीं के सदृश उनकी सन्तानें भी हुआ करती थीं। किन्तु, समय ने पलटा खाया और शनैः २ वे सब बातें लोप होती गई। हम भी उन्हीं पूर्वजों की सन्तान हैं, लेकिन बिल्कुल उन्हीं के विपरीत गुणवाले अर्थात् सदा रोग ग्रस्त दुर्बल तथा अल्पायुषी कारण स्पष्ट है। हमने स्वेच्छाचारी बनकर, अपना खान-पान, रहन सहन, आचार-विचार शिक्षा दीक्षा आदि सब बदल दिया और अपनी प्राचीन संस्कृति को भुला दिया, इसी का दुष्परिणाम हमको उठाना पड रहा है और अपने दुर्बल शरीर के कारण क्षय जैसे दुःसाध्य रोग के शिकार बन रहे हैं। शास्त्र में भी कहा है कि—

> सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ।
> तत् प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहित सेवनम् ॥

अर्थात्—सम्पूर्ण रोगों के कारण दुष्ट हुए वातादि दोष होते हैं और उनके दुष्ट होने के कारण अनेक प्रकार के मिथ्या आहार विहारादि होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य सात्विक आहार एवं सदाचार मय जीवन व्यतीत करता रहेगा, न तो उसके वातादि दोष ही कुपित होंगे और न किसी प्रकार की व्याधि उसको सतायेगी। किंतु ज्यों मनुष्य ने इसके विपरीत आचरण करना शुरू किया कि उसके शरीर को व्याधियों ने अपना घर बनाया और इन्हीं में क्षय एक मुख्य है। अतः अब भी यदि जनता इन मिथ्या आहार-विहारादिकों को त्याग कर सात्विक तथा नियमबद्ध जीवन व्यतीत करे तो शीघ्र ही ऐसे रोग रूपी शत्रुओं पर हमारी विजय हो जाय।

क्षयरोग को उत्पन्न करने वाले मुख्य चार कारण महर्षि सुश्रुत ने कहे हैं—

> वेग रोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् ।
> त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात् ॥

अर्थात्—मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से, अत्यन्त मैथुन, अति उपवास, चिन्ता आदि से धातुओं को क्षीण करने के कारण से, अपनी शक्ति से अधिक साहस का कार्य करने से, और विषम रीति से भोजन करने से यानी कभी जल्दी, कभी देर से, कभी थोड़ा कभी अधिक इत्यादि। इन चार कारणों से तीनों दोष युक्त क्षयरोग होता है। इन चार कारणों में भी वही मिथ्या आहार-विहारादिकों का निर्देश है। अस्तु इन कारणों से दोष कुपित होकर मनुष्य के रस वह स्रोतों में प्रवेश करके उनके मार्ग को रोक देते हैं जिससे रस धातु बिगड़ कर नष्ट होजाती है और के नष्ट होने से आगे की रक्तादि धातुएं नहीं बन सकती तथा शरीरस्थ रक्तादि धातुएं क्रम से नष्ट होना शुरू होती हैं। इसीसे मनुष्य दिन प्रति दिन क्षीण होता जाता है। इसे 'अनुलोम क्षय प्रक्रिया' कहते हैं। जो मनुष्य अत्यधिक मैथुन करके अपने वीर्य को नष्ट कर डालता है और फिर भी मैथुन रत रहता है, अतः उसके शुक्र के नष्ट होजाने पर उस स्थान की वायु कुपित होकर मज्जा और धातु क्षीण होना शुरू होती है। तत्पश्चात् अस्थि क्षीण होती है। इसी प्रकार, विपरीत क्रम से एक २ धातु क्षीण होती जाती है और साथ ही साथ मनुष्य भी क्षीण होता जाता है। इसे 'प्रतिलोमक्षय प्रक्रिया' कहते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं में मनुष्य के कंधे और पसलियों में पीड़ा हाथ पैर के तलुवों में जलन, सम्पूर्ण अङ्ग में ज्वर तथा कास आदि लक्षण भी होते हैं। यदि उपरोक्त लक्षणों के उत्पन्न होते ही मनुष्य सचेत हो जाय और जिन कारणों से ये लक्षण पैदा हुए हैं, उन्हें छोड़ उचित आहार-विहार तथा औषधि का सेवन करे तो शीघ्र ही रोग मुक्त हो सकता है. अन्यथा परिणाम स्वरूप उसके लिये मृत्यु का द्वार खुला है।

अब मैं उन उपायों को पाठकों के समक्ष रखूंगा जिनका उपयोग दैनिक जीवन में लेने से प्रत्येक मनुष्य क्षय जैसी दुःसाध्य व्याधि से मुक्त रह सकता है—

१—अन्धेरे या सील वाले घर में जहां सूर्य का प्रकाश व वायु प्रवेश न करती हो, तथा ऐसी भी जगह जहां धूल, धुआं आदि अधिक हो, नहीं रहना चाहिये, बल्कि प्रकाश युक्त तथा हवादार मकान में निवास करना चाहिये। क्योंकि सूर्य का प्रकाश व शुद्ध वायु इस रोग के शत्रु हैं। तथा अन्धेरा, सील, गन्दगी आदि इसके मित्र हैं।

२—सत्व हीन, दुष्पाच्य, पर्युषित तथा जिससे शरीर का पोषण न होता हो ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये। सुपाच्य और पौष्टिक भोजन खाना चाहिये। दूध, मक्खन, घृत आदि का उपयोग अधिक मात्रा में करते रहना चाहिये।

---

[ पृष्ठ ११३ का शेषांश ]

इस रोग का प्रभाव स्थापित और सार्वदैहिक दोनों प्रकार का होता है। प्रथम स्थान विशेष पर रोग का आक्रमण होता है और फिर वहां से सार्वदैहिक लक्षण आरम्भ हो जाते हैं।

गवेषणाओं द्वारा प्रतीत हुआ है कि शरीर के निम्न लिखित अङ्गों में यक्ष्मा रोग होता है यथा—फुफ्फुस, आन्त्र (बृहद्, लघु आन्त्र और आन्त्र-पुच्छ) यकृत्, प्लीहा, वृक्क, मस्तिष्क, अस्थि, शरीर की ग्रन्थियां (विशेषतः गले के आस पास की जिनको कि चलती भाषा में कण्ठमाला कहा जाता है) नेत्र, नासिका, कर्ण, कंठ और दांत का राजयक्ष्मा।

३-भोजन हमेशा आवश्यकता से अधिक न खाना चाहिये, बल्कि कुछ भूख रख कर ही खाना चाहिये। इस विषय में कहावत मशहूर है कि "बीमारी से बचना हो तो कम खाओ"। कम खाने से पाचन शक्ति नहीं बिगड़ती है। यदि पाचन-शक्ति खराब होजाय तो उससे शरीर भी अशक्त होजाता है। और अशक्त शरीर में इस रोग का प्रभाव अति शीघ्र होता है।

४-शराब व अन्य मादक द्रव्यों से परहेज करना चाहिये क्योंकि ऐसी चीजों के उपयोग से शरीर कमजोर होजाता है और उसकी रोग प्रतिबन्धक शक्ति ह्रास होजाती है।

५-अति स्त्री-प्रसङ्ग तथा अन्य खराब आदतें जैसे हस्त मैथुन, गुदा मैथुन, पशु मैथुन आदि से बचना चाहिये।

६-बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा अति निकट के रिश्तेदारों में विवाहादि सम्बन्ध नहीं करने चाहिये।

७-शारीरिक व मस्तिष्कीय इतनी मेहनत नहीं करनी चाहिये जिससे थकावट पैदा हो।

८-चिन्ता, शोक, फिक्र, भय आदि से हमेशा मुक्त तथा खुशदिल रहना चाहिये।

९-ऐसी स्त्रियां जो हमेशा पर्दे में रहती हैं और ऐसे घरों में रहती हैं, जिनमें शुद्ध वायु न आती हो उनको यह बीमारी होने का अधिक खतरा रहता है। अतः उक्त कारणों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

१०-हर एक मनुष्य को पृथक २ बिस्तरे पर सोना चाहिये और एक ही कमरे में अधिक आदमियों को नहीं सोना चाहिये।

११-श्वास हमेशा नासिका द्वारा लेना चाहिये, मुख द्वारा श्वास नहीं लेना चाहिए। और जहां तक हो सके श्वास लम्बा और गहरा लेना चाहिए जिस से वायु फुफ्फुस द्वय के प्रत्येक भाग में पहुंच जाय।

१२-सोते वक्त मुंह ढककर नहीं सोना चाहिए बल्कि सर्दी, गर्मी में हमेशा मुंह खुला रखकर ही सोना चाहिये।

१३-सोने के कमरे की खिड़कियां मौसम के अनुसार पूरी अथवा आधी खुली रखनी चाहिये जिससे कमरे में शुद्ध वायु आती रहे।

१४-सोने के कमरे में किसी प्रकार का धुंआ या जलती हुई अङ्गीठी न हो, दिया या लेम्प को भी सोते वक्त बुझा देना चाहिये। हां, यदि विद्युत प्रकाश हो तो कोई हर्ज नहीं।

१५-कच्चा दूध कभी नहीं पीना चाहिये। अच्छी तरह उबाल कर शीतोष्ण अथवा शीतल करके पीना चाहिये।

१६-मांसाहारियों को भी मांस को भली प्रकार उबाल कर ही कार्य में लेना चाहिये।

१७-भोजन करने से पहिले हमेशा हाथों को धोकर और कुल्ला करना चाहिये।

१८-अधिकांश ऐसे कार्य होते हैं जिनको करने से कार्यकर्त्ता के शरीर में श्वास के द्वारा धुंआ, धूल रजःकण आदि जाकर फुफ्फुसों को बिगाड़ देते हैं। आटे की चक्की, कपड़े आदि की मिलें, भोजनालय, लकड़ी व लोहादि धातु के कारखाने आदि। यथाशक्य इनसे बचना चाहिए और यदि कार्य करना ही पड़े तो मुख व नासिका पर वस्त्र बांध ले जिससे रजःकण अन्दर प्रवेश न कर सकें तथा

कार्य समाप्त होने के बाद मुंह आदि को अच्छी तरह धोकर साफ करना चाहिये।

१९-सार्वजनिक भोजनालय (होटल आदि) में यथा सम्भव भोजनादि नहीं करनां चाहिये क्यों कि वहां अनेक मनुष्य भोजनार्थ आते हैं और सम्भव है कि उनमें कोई मनुष्य क्षय रोगाक्रांत भी हो अथवा स्वयं रसोइया आदि ही इस रोग के जीवाणु युक्त हो। साथ ही ऐसे स्थानों पर सफाई और स्वास्थ्य रक्षा का विल्कुल ही ध्यान नहीं रक्खा जाता है, अतः इन जगहोंसे वचना चाहिए।

२०-कई मनुष्य कुत्ते, बिल्ली, तोता, मैना आदि पालते हैं। इनमें कई क्षयोत्पादक जीवाणुओं से युक्त हो सकते हैं। अतः इनका चुम्वनादि नहीं करना चाहिये।

२१-जिस मनुष्य को क्षय रोगकी संभावना हो उसका झूठा हुक्का नहीं पीना चाहिये, बल्कि ऐसे संक्रामक रोगों से बचने के लिये उचित तो यह है कि अपने हुक्के के सिवाय अन्य का हुक्का पिया ही न जावे।

२२-किसी के साथ एक वर्तन में अथवा किसी के झूठे वर्तनों में न तो भोजन करना ही चाहिये और न किसी के जूठे वर्तन से पानी आदि ही पीना चाहिए। खासकर क्षय रोगियों से तो इन बातों का परहेज ही रखना चाहिये।

२३-स्वस्थ मनुष्य को क्षय रोगी से अधिक मिलना जुलना भी नहीं चाहिए तथा ऐसे कमरे या मकान मे जिसमे क्षय रोगी रह चुका हो तब तक नहीं रहना चाहिये जब तक कि उसे पूर्ण रीति से शुद्ध न कर लिया जाय।

२४-यदि किसी बच्चे की माता को क्षय रोग हो जाय तो बच्चे को उसका दूध नहीं पिलाना चाहिए बल्कि किसी स्वस्थ धाय का दूध पिलाना चाहिये लेकिन यदि बच्चा भी क्षय युक्त हो तो उस से धाय को भी रोग हो जाने का डर है, ऐसी हालत में बच्चे को स्वस्थ बकरी या गाय का दूध पिलाना चाहिये।

२५-क्षयी माता-पिता अथवा क्षयी कुटम्ब मे में पैदा हुए बच्चों के स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखना चाहिये। ऐसे बच्चों को खुली व शुद्ध वायु में रखना चाहिये। हमेशा पौष्टिक भोजन देना चाहिये। ऐसे संकुचित वस्त्र उन्हें नहीं पहिनाने चाहिये जिनसे छाती पर दवाव पड़े और श्वासोच्छ्वास में बाधा उत्पन्न हो। हमेशा सर्दी से बचाना चाहिये। यदि ऐसे बच्चों को जुकाम, खांसी आदि हो जाय तो अत्यन्त सावधानी से उनका उपचार करना चाहिए। इत्यादि।

इन उपरोक्त नियमों का पालन करने से प्रत्येक मनुष्य क्षय जैसे संक्रामक रोग से बच सकता है। किन्तु यदि असावधानी व विपरीताचरण से किसी को यह मूंजी मर्ज हो भी जाय तो उससे निम्न बातों का अनुकरण करना चाहिये।

क्षय रोगियों के लिये कुछ आवश्यक व लाभ-प्रद पालनीय बातें—

१ शुद्ध व साफ वायु—

क्षय रोगी को खुली और शुद्ध हवा में रहना अत्यन्त ही आवश्यक व लाभप्रद है। जितना फायदा इससे होता है, उतना और किसी चिकित्सा या औषधि से नहीं होता। अतः रोगी को चाहिये कि वह दिन रात ऐसे खुले स्थान में रहे, जहां उसे साफ शुद्ध हवा आसानी से मिलती

रहे। इसके लिये सबसे उत्तम तो यह है कि रोगी किसी पहाड़ पर जाकर रहे। यदि यह सम्भव न हो तो किसी अच्छे गाँव में जाकर रहे अथवा शहर के नजदीक किसी बगीचे में रहे या इन सब बातों के न मिलने पर अपने मकान की छत पर सायबान के नीचे रहे। हां, वारिश और धूप की तेजी से बचना चाहिये, सर्दी से भी बचता रहे लेकिन ठण्ड से अधिक घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ठण्ड स्वयं कुछ हानि नहीं पहुंचाती। ज्यादा सर्दी मालूम होने पर गर्म किन्तु हलके वस्त्र पहनना चाहिये। और गर्म बिस्तरे पर सोना चाहिये। फिर भी खुली और शुद्ध वायु का ध्यान रखते हुए कमरे का खिड़कियां आदि खुली हो रखना चाहिये क्योंकि बन्द कमरे में सोना क्षय रोगी के लिये मारक विष के समान होता है।

२ खुराक--

क्षय रोगी के लिये हल्की, सुपाच्य तथा पौष्टिक खुराक अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे रोगी को चाहिए कि जहां तक हो सके अपनी खुराक बढ़ावे, जिससे शारीरिक वजन में आई हुई कमी पूरी हो जाय। यदि प्रथम से ही भूख कम हो तो शनैः २ खुराक की मात्रा बढ़ाना चाहिये। जब शरीर बिल्कुल घुल जाय या अत्यन्त अशक्त हो जाय तो उसे असली हालत पर लाने के लिये या वजन बढ़ाने के लिये स्निग्ध पदार्थ व पौष्टिक पदार्थ जैसे दूध, मलाई, मक्खन घृत आदि अत्यन्त लाभदायक होते हैं। काडलिवर आइल (मछली का तेल) जो कि इस रोग में आम तौर पर लाभकारी माना जाता है, और बहुतायत से दवाई के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह भी वास्तव में पौष्टिक भोजन ही है, जिससे शरीर का वजन बढ़ता और शक्ति आती है। क्षय रोगियों के लिये दूध से बढ़ कर अन्य कोई लाभप्रद खुराक नहीं है किन्तु दूध को हमेशा उबाल कर ही पीना चाहिये। कई प्रकार की ताजी शाक भाजियां अच्छी तरह पकाई हुई भी फायदेमन्द होती हैं। सारांश यह है कि क्षय रोगी सावधानी के साथ सब तरह के भोज्य पदार्थ सेवन कर सकता है। भारी और दुष्पच्य पदार्थों से तथा खटाई आदि से उसे अवश्य ही परहेज करना चाहिये।

३—साफ स्वच्छता—

क्षय रोगी को हमेशा साफ व सुथरा रहना चाहिये। प्रतिदिन शीतल या शीतोष्ण जल से स्नान करना चाहिये। स्नान के बाद अंगोछे से रगड़ कर बदन को पोछना चाहिये। जिससे त्वचा का रक्त प्रवाह कुछ तेज होजाय। पोशाक भी हमेशा साफ सुथरी पहनना चाहिये। कपड़ों के नीचे ऊनी बनियान या बारीक फलालेन का कमीज पहनना चाहिये और उनको हर तीसरे या चौथे रोज बदलते रहना चाहिये। वस्त्र सिर्फ इतने ही पहनने चाहिये जिससे सर्दी मालूम न हो, अधिक और भारी वस्त्र नहीं पहनने चाहिये। रोगी का बिस्तर भी साफ सुथरा होना चाहिये तथा उसके कमरे में किसी तरह का फालतू सामान नहीं होना चाहिये। रोगी के निवास स्थान के आस पास भी पूर्ण सफाई होना चाहिये जिससे मक्खियां आदि का भय न रहे क्योंकि मक्खियां इस रोग को फैलाने का सबसे बड़ा साधन होती हैं।

४—थूकना—यह छूत की बीमारी है, तथा इस का अधिक प्रसार थूक और कफ के द्वारा होता है

अर्थात् कफ के सूख जाने पर उसके कण हवा में उड़ने से उसमे जा क्षय के कृमि होते हैं वे अन्य स्वस्थ मनुष्य के फुफ्फुस में श्वास द्वारा पहुंच कर इस रोग का बीजारोपण कर देते हैं। इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि क्षय रोगियों को फर्श या दीवारों पर कदापि नहीं थूकना चाहिये बल्कि उगालदान आदि में कार्बोलिक लोशन डाल देना चाहिये। यदि यह मुमकिन न हो तो एक मिट्टी के प्याले आदि में राख डालकर उसमें रोगी थूकता रहे। अब उगालदान को साफ करना हो तो कफ को लकड़ी के बुरादे में मिलाकर मिट्टी का तैल डाल कर जलादें और उगालदान को उबलते हुए गर्म पानी से धुलवाकर उसमें कार्बोलिक लोशन आदि डालकर रोगी के पास रख दें। चलते फिरते समय रोगी को थूकने के लिये अपनी जेब में रूमाल वगैरह रखना चाहिये जिसे काम में लाने के बाद जला देना चाहिये।

५-रोगी के भोजन करने के बर्तनों को भी प्रति दिन उबलते हुए पानी में डालकर धोना चाहिए।

६-रोगी को चाहिये कि न तो वह किसी के साथ खाना खाये और न अपना जूठा भोजन या पानी या हुक्का आदि अन्य किसी को खाने पीने दे।

७-खांसते, छींकते व किसी से बातें करते समय भी रोगी को अपने मुंह वा नासिका के सामने रूमाल या कागज रखना चाहिये, जिसे बाद में जलादे या यदि रूमाल कीमती हो तो उसे उबलते हुए पानी मे डालकर धो लेना चाहिये।

८-यदि रोगी अविवाहित हो तो उसे विवाह नहीं करना चाहिए और यदि विवाहित हो तो स्त्री प्रसङ्ग से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

९-पूर्ण विश्राम—क्षय रोगी को किसी भी तरह का शारीरिक या मस्तिष्कीय परिश्रम नहीं करना चाहिये। बल्कि बने जहां तक आराम करना चाहिए और थोड़ा सा भी ज्वर हो तो बिल्कुल आराम से बिस्तरे पर लेटे रहना चाहिए, क्योंकि ज्वर की हालत में चलने फिरने से भी रोग बढ़ता है। भोजन से एक घण्टा पूर्व तथा भोजन के एक घण्टा बाद अवश्य आराम करना चाहिये। भोजन के बाद खुली हवा में या कमरे के दरवाजे या खिड़की के पास सोफा या आराम कुर्सी पर आराम करना अति ही लाभदायक होता है।

१०-व्यायाम—क्षय रोगी को हमेशा इस प्रकार व्यायाम करना या घूमना चाहिए जिससे कि उसे थकावट पैदा न हो। क्योंकि थकावट से शरीर की रोग प्रतिबन्धक शक्ति कम हो जाती है तथा रक्त सञ्चार तीव्र हो जाने से रोगोत्पादक जीवाणुओं का विष शरीर में फैलकर रोग वृद्धि का कारण हो जाता है। पैदल घूमना या हवाखोरी के लिए जाना रोगी के लिये सबसे उत्तम व्यायाम है। किन्तु जब अजीर्ण की शिकायत हो या नाड़ी तीव्र गति से चलने लगे, खांसी अधिक आने लगे या रोगी रक्त अधिक थूकने लगे तो ऐसी दशा में पैदल हवाखोरी नहीं करनी चाहिये, बल्कि शनै २ इस व्यायाम को बढ़ाना चाहिए।

११-सैर व भ्रमण-रोगी को हमेशा ऐसे स्थानों की सैर करते रहना चाहिए, जहां के दृश्य आदि उसके चित्त को प्रफुल्लित तथा आह्लादित करें। साथ ही चिन्ता, शोक, दुख आदि से बिल्कुल मुक्त रहना चाहिए। ऐसे खेल तमाशे भी देखते रहना चाहिए जिनसे रोगी का मनोरंजन हो। लेकिन कोई इस

तरह का खेल आदि नहीं देखना चाहिए जिससे तबियत में अत्यन्त जोश, खुशी या रंज पैदा हो क्योंकि क्षय रोगी के लिए ऐसे कारण रोग वृद्धि करने वाले होते हैं।

१२-धूम्रपान—प्रथम तो हुक्का, सिगरेट या बीड़ी आदि बिल्कुल छोड़ ही देनी चाहिए किन्तु यदि रोगी इसका बहुत ही आदी हो तो उसे सावधानी के साथ खुली हवा में सिर्फ हुक्का पीने की परवानगी दें, लेकिन यदि इससे खांसी अधिक आने लगे तो अवश्य ही बन्द करा देना चाहिए।

१३-धैर्य और दृढ़ विश्वास—रोगी को हमेशा अपने धैर्य को बढ़ाना चाहिए और दिल में यह दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि मैं अच्छा हो रहा हूं। तापमान का घटना और शरीर मान का बढ़ना इस बात को सिद्ध करता है कि रोगी का स्वास्थ्य सुधर रहा है।

१४-जलवायु परिवर्तन—जब रोग न्यूनावस्था में हो तो रोगी को किसी ऐसे सुन्दर पहाड़ी स्थान पर जहां वर्षा कम होता हो और सील भी न हो अथवा किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान पर जलवायु परिवर्तनार्थ ले जाना चाहिए, इससे बहुत लाभ होता। लेकिन इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उस स्थान पर रोगी को हर प्रकार का आराम मिले और दिल बहलाव हो। यदि रोग बढ़ा हुआ हो और दोनों फुफ्फुस रोगाक्रान्त हों तो जलवायु परिवर्तन से विशेष लाभ नहीं होता बल्कि ऐसी हालत में रोगी को वर्तमान निवास स्थान से किसी अन्य स्थान में भेजना एक प्रकार से यहां मिलने वाले आराम से भी उसको वञ्चित करना है। हां, ऐसी हालत में किसी पहाड़ी 'सेनोटोरियम' पर रहना अवश्य लाभकारी होता है।

१५-क्षय रोगी के सम्बन्धी या उसकी सन्तानें जो रोग निदान (रोग के व्यक्त होने) से पहिले साथ रहे हैं उन की परीक्षा भी इस रोग के किसी विशेषज्ञ से करा लेनी चाहिए। क्योंकि सम्भव है कि उन के शरीर में भी क्षय रोग के जीवाणु प्रवेश कर गये हों, किन्तु अभी अपना प्रभाव, परिस्थिति अनुकूल न होने से दिखाया न हो, ऐसी हालत में परीक्षा द्वारा निर्णय हो जाने से और योग्य उपचार से शीघ्र ही उनका बचाव हो सकता है।

उपरोक्त बातों का सारांश यही है कि क्षयरोगी को खुली और शुद्ध हवा में रहना, पौष्टिक तथा सुपाच्य भोजन करना, स्वच्छता का अधिक ध्यान रखना, सदाचार का पालन करना आराम व चैन से रहना तथा उचित औषधोपचार करते रहना चाहिये। मेरा पूर्ण विश्वास है कि ऊपर लिखित नियमोपनियमों का पालन करते रहने से प्रत्येक मनुष्य इस दुष्ट रोग के पंजे से छुटकारा पा सकता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

# क्षयरोग कारण और प्रतिबन्धक उपाय

लेखक—वैद्यराज श्री० पं० हरिप्रसाद जी सी० भट्ट आयुर्वेदाचार्य M. A. M. S. जूना तोपखाना, रावपुरा-बड़ौदा।

## क्षय के विस्तारक कारण—

१—दरिद्रता और स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों की अज्ञानता।

२—किसी कारण से शारीरिक दुर्बलता। जीर्ण प्रतिश्याय, कास, रक्तपित्त, न्युमोनिया, प्लुरसी विषम ज्वर, टायफाइड, मेलेरिया, जीर्ण प्रसूति रोग, मधुमेह आदि क्षय करने वाली पुरानी रोग क्षमता शक्ति का ह्रास करती हैं।

३—गन्दी हवा में, भीड़ में बहुत मनुष्य साथ में रहें, सिनेमा नाटक गृह, सभी गृह में ज्यादा बैठना, गन्दे, सूर्य ताप के अभाव वाले, अपार (सीलन वाले) मकान में रहना।

क्षय जैसे वायु के दोष से फैलने वाले रोग में जबरदस्त साधन सिनेमा नाटक गृह, होटल, रेलवे के बन्द डब्बे में लम्बी मुसाफरी करना जहां लोगों की भीड़ रहती है, जिससे उस स्थान की वायु पूर्णतया दूषित होती है।

४—बारम्बार धूल कणों का श्वास के साथ अन्दर जाना।

५—क्षय रोगी के कफ थूक का स्पर्श, पेय खाद्य वस्तु से मिश्रित होना तथा सूखकर धूल के साथ हवा में उड़ता २ श्वास में जाना।

६—साहस, अधिक परिश्रम और पोषण कारक भोजन की कमी।

७—मैले होटल, विश्रान्तिगृह में हलका प्रकार का भोजन करना।

८—क्षय पीड़िता माता का अपने बच्चों को दूध पिलाना और चूमना।

९—क्षय पीड़ित गाय या भैंस का दूध पीना।

१०—शिक्षा की वर्तमान पद्धति।

११—बाल विवाह, छोटी उम्र में माता-पिता बनना और प्रसव का कुप्रबन्ध।

१२—पोशाक में अत्यधिक वस्त्र पहिन कर त्वचा को कमजोर बना देना जिससे ऋतुओं का परिवर्तित वातावरण, ठण्डी गरमी सहन करने में असमर्थ हो जाती है। त्वचा को सूर्यताप बिलकुल नहीं मिलता।

ग्राम्य जीवन की बरबादी, गांव की आरोग्यप्रद वायु से वंचित रहना, मील तथा कल कारखानों में अत्यधिक काम और बन्द हवा को श्वास में लेना, जीविका उपार्जन के लिये विशेष परिश्रम और चिंता शहरी जीवन की धमाल, विलासिता और अनियमितता, नाटक सिनेमा को देखने के लिये रात्रि का जागरण ये मुख्य कारण हैं।

ये सब कारणों साधारणतः क्षयात्, साहसात्, विषमाशनात्, वेग धारण, शुक्रक्षय, साहस कर्म, विषम भोजन इन चार प्रधान कारणों के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

राजयक्ष्मा की पौराणिक चन्द्र की कथा अति स्त्री सेवा ही विशिष्ट मुख्य कारण का निर्देश करती

है। पाश्चात्य विज्ञानानुसार कीटाणु प्राधान्य होते हैं। परन्तु अपना शरीर क्षेत्र सुदृढ हो और जीवनीशक्ति प्रबल रहती है तब तक कीटाणु शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुचा सकते।

जब अधिक व्यायाम या व्यायाम की कमी से, अधिक भोजन या भोजन की कमी से, अप्राकृतिक क्रियाओं से स्वास्थ्य गिरने लगता है, कीटाणुओं के जमने योग्य बन जाती है, तब ये कीटाणु भयङ्कर रूप से आक्रमण कर अड्डा जमा देते हैं। शरीर की भूमि कमजोर और कीटाणुओं के जमने योग्य न बनने देना चाहिए।

## प्रतिवन्धक उपाय-

स्वास्थ्य के इन नियमो का पालन कर क्षय से रक्षा करो।

१—सम्भव हो तब तक खुली हवा व धूप में रहो। सूर्य नमस्कार सूर्यस्नान करते रहो। मकान के अन्दर रहो तब खिड़की, दरवाजा शुद्ध वायु सचार के लिये खुली रक्खो।

२—रुई, कोयला, धूल आदि के परमाणु का श्वास मे जाने से रोकने के लिए प्रतिमर्श नस्य सेवन करो। नाक मे स्नेह लगाओ।

३—भीड़ भाड़ वाले गन्दे घर में मत रहो।

४—सोते समय मुह मत ढको।

५—धूल व मक्खी से बचो। मक्खी बैठा हुआ खुला खाद्य पदार्थ मत खाओ।

६—यथेष्ट दूध पिओ, बकरी का दूध श्रेष्ठ है। ताजे फल खाओ और पोषक भोजन उतना करो, जो आसानी से पच जाय।

७—छोटे बालकों को अच्छा दूध मिले, पोषण-कारक खाद्य पदार्थ मिले, उसका लक्ष रक्खो और बनावटी कृत्रिम खोराक न दो। खेलने कूदने का मौका दो। छोटेपन में ही अभ्यास का बोझा न डालो।

८—गरम चाय, काफी, सिगरेट, बीड़ी तम्बाकू शराब व्यसन से बचते रहो।

९—यथेष्ट नियत व्यायाम, घूमना, खेलना, दौड़ना।

१०—जहां तक हो सके गहरे, दीर्घ श्वास लो, प्राणायाम की आदत डालो। झुककर बैठने की आदत न रक्खो अन्यथा पूरा श्वास नहीं लिया जाता।

११—जहां तहां मत थूको। यह आदत गन्दी है और बीमारी फैलती है।

१२—मक्खी, मच्छर, खटमल आदि जन्तु मनुष्य के शत्रु रूप हैं। इनकी उत्पत्ति न हो यह ख्याल रखते रहो। मकान में स्वच्छता रक्खो और गुग्गुल आदि का धूम्र करो।

१३—बिछौना कभी २ धूप में रक्खा करो।

१४—व्यभिचार वेश्यागमन या हस्तमैथुन से क्षय की उत्पत्ति और प्रसार जल्दी होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यावश्यक है। नवीन सभ्यता के प्रचार रूप सन्तति नियमन के जाल में मत फसो।

१५—स्त्री को जल्दी २ सन्तान न होवे उसका ख्याल रक्खो।

१६—आमदनी से अधिक खर्च कर कर्ज की चिन्ता न मोल लो।

१७-कुदरती नियम और सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध कार्य न करो।

१८-क्षय के बड़े २ सेनिटोरियम और टी० बी० हास्पीटल के मकान बांधने की अपेक्षा मध्यम स्थिति वाले लोगों को रहने योग्य अच्छे क्वार्टर्स (मकान) बनाने चाहिये।

१९-लोगों को अच्छा और शुद्ध खाद्य पदार्थ मिले, उसका प्रबन्ध करो। मिश्र adulterrated नहीं मिलना चाहिये।

२०-भोजन करने से पहिले अपने हाथ अच्छी तरह धोकर ही भोजन करना चाहिये।

२१-"हिताशीस्यात, मिताशीस्यात, काल भोजी, जितेन्द्रियः", बुद्धिमान् लोग को चाहिये कि हितकर भोजन करे, मर्यादा में भोजन करे, ऋतु के अनुकूल भोजन करे और जितेन्द्रिय बनें। जिह्वा स्वाद के लिये खूब चटपटे मसाले वाला भोजन, हंसकर खाना, असमय खाना, अपवित्र और दूषित अन्न का सेवन, इन सब बातों से बचना चाहिये।

## क्षय रोगी क्या करें ?

१-क्षय रोगी सदा प्रसन्न चित्त और आशावादी रहे। निराश होने का, कोई कारण नहीं।

२-धैर्य से रहे।

३-चिकित्सक का कहना पूरी तरह पालन करे। उसकी आंख में धूल न झोंके, निर्देशकावित गुण अपनावे।

४-भूख और बल बढ़ाने वाली औषधियों का सेवन करे। पाचनशक्ति पर बल निर्भर है "अग्नि मूलं बलं पुंसाम्" सूत्र सदा ध्यान में रक्खें। ताजे फल और शाक तथा दूध आवश्यक प्रमाण में लेते रहें।

५-ब्रह्मचर्य रखने में, शुक्र रक्षण के लिये सदा सावधान रहें। रेतोमूलं च जीवितम्' तथा—

'आहारस्य परं धाम शुक्रं, तद् रक्ष्यं आत्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून रोगान्, मरणं वा नियच्छति ॥

आहार का सार मात्र शुक्र है, शुक्र का क्षय रोगों को या मृत्यु को देता है, सूत्र का नित्य स्मरण प्रयत्न पूर्वक करें।

६-उत्तेजित-लागणी प्रधान मत हो, क्रोध न करो, जरा सा निमित्त पाकर क्षुब्ध न हो। क्रोध, उत्तेजना व क्षोभ क्षय की गति को वेगवान बनाता है।

७-शराब, तम्बाकू, सोडालेमन, बरफ, आइस्क्रीम जैसी चीजों के व्यसन से बचते रहें।

८-फुफ्फुस को अधिक से अधिक विश्राम हो। श्वास धीरे से लो। एक दम जोर से न खींचो जितना हो सके कम खांसो। ज्यादा जोर से खांसने से फेफड़ा में की कोई रक्तवाहिनी फटने का पूरा भय रहता है।

९-खट्टे फल, खट्टी चीजों से परहेज करो।

१०-शुद्ध वायु में रहो परन्तु हवा के झोंके से (Blast) बचते रहो। "सौ दवा और एक हवा" यह सूत्र याद रक्खें। कमरे में नित्य प्रति गुगल, लोबान आदि का धूप करते रहें। हवन करने से वातावरण शुद्ध होता है। ऐसे वातावरण में रहने से कीटाणु का नाश होता है।

११-जहां कहीं न थूको। कफ को न फेंके तथा भूलकर भी न निगले। निगला हुआ कफ आन्त्र क्षय पैदा करेगा।

# क्षयरोग के निदान एवं चिकित्सा में भूल

और

# उनका सुधार।

लेखक—कविराज श्री०महेन्द्रनाथ जी पाण्डेय, महेन्द्र रसायन शाला, इलाहाबाद।

भारतवर्ष में क्षयरोग इतनी तीव्र गति से बढ़ रहा है कि बड़े २ लोगों का ध्यान इस ओर हठात् आकर्षित हो गया है। परन्तु फिर भी अभी इसके प्रतिकार के लिये यथेष्ट उपाय नहीं हो रहे हैं। जितना प्रयत्न इस क्षेत्र में हो रहा है वह पर्याप्त नहीं है, इससे कई सौ गुना प्रयत्न की आवश्यकता है।

प्राचीन काल में यह रोग राजाओं और अमीरों को हुआ करता था। इसी कारण इसे राज रोग कहते थे। राजाओं को यह रोग इस लिये हुआ करता था कि उनका जीवन बहुत विलासी होता था। वे मैथुन में अपने आपको बर्बाद कर देते थे। उदाहरण के लिये हम चन्द्रमा और चित्रांगद के नाम ले सकते है। विलासता या अधिक मैथुन से जीवन शक्ति नष्ट हो जाती है। वीर्य क्षय के कारण शरीर के सभी यन्त्र कमजोर हो जाते हैं। रक्त कमजोर और कम बनता है, इसी कारण क्षय रोग हो जाता है।

आजकल यह रोग केवल विलासियों को नहीं होता। वरन उन लोगों को भी होता है जिनके खाने पीने का कोई नियम नहीं है, जिनको पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और काम अधिक करना पड़ता है, जिनके रहने के लिये उचित स्थान का प्रबन्ध नहीं है। आजकल यह रोग गरीबों का रोग हो रहा है। प्राचीन आचार्यों ने इस रोग के चार कारण बताये हैं। वेगों को रोकना, शरीर का क्षीण होना, अधिक साहस और विषम भोजन। परन्तु आजकल इन कारणों के अतिरिक्त भी बहुत से कारण उपस्थित होगये हैं। और सबके ऊपर कीटाणु होगये है।

कीटाणुओं के सम्बन्ध मे हम यहां कुछ कहना नहीं चाहते क्योंकि प्रस्तुत लेख का यह विषय नहीं है। इस रोग के चिकित्सकों की राय है कि जितनी जल्दी इस रोग का निदान होजाय उतनी ही जल्दी अच्छा है। क्योंकि निदान हो जाने से चिकित्सा मे सुविधा हो जाती है। असली बात यह है कि इस रोग के निदान में चिकित्सक बड़ी गलती करते हैं। जिनको क्षय रोग नहीं भी होता है उनको भी लोग क्षय कह देते हैं कि तुम्हे क्षय रोग होगया है। और क्षयरोग की चिकित्सा प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ लोग सैनिटोरियम तक में भेज दिये जाते हैं। कुछ लोग जलवायु परिवर्तन के लिये समुद्र तट अथवा पहाड़ों पर चले जाते हैं। बाद को पता चलता है कि क्षयरोग नहीं था और इतना जो खर्च किया गया वह व्यर्थ था। हमारे इस कथन की पुष्टि निम्न उदाहरण से होती है कि १९१० के युद्ध

मे फौजी सिपाहियों में क्षय रोग होने की शंका हुई और १००० फ्रांसीसी सिपाही सेनिटोरियम में भेज दिये गये। वहां जब अच्छी तरह परीक्षा हुई तब पता चला कि ८५० से अधिक संख्या में सिपाहियों को क्षयरोग नहीं था। यह भ्रान्ति उस देश की है जहां चिकित्सा और निदान के सभी नवीन तम साधन मौजूद है। अमेरिका के बड़े २ डाक्टरों की रिपोर्ट भी ऐसी ही है, कि वहां रोगों का अथवा क्षयरोग का निदान करने में ५३ प्रतिशत गलतियां होती हैं।

क्षयरोग का एक मुख्य लक्षण खांसी समझी जाती है। जब खांसी हुई और उसके साथ ज्वर हुआ कि लोग क्षयरोग समझने लगते हैं। कुछ चिकित्सकों की राय है कि क्षयरोग में खांसी होना आवश्यक नहीं है। चरक का भी आदेश इसी प्रकार का है।

"असं पार्श्वाभिता पश्च, सन्ताप कर पादयो ज्वरः सर्वाङ्ग गश्चापि लक्षणं राजयक्ष्माणि।" दोनों कन्धो में खिचाव, दर्द, हाथ पांव के तलवों मे जलन और सर्वाङ्ग ज्वर यह राजयक्ष्मा का लक्षण है। इस लक्षण में चरक भगवान् ने खांसी की ओर जोर नहीं दिया है।

रक्त पित्त ( मुंह से रक्त गिरना ) राजयक्ष्मा का एक लक्षण है। रक्त पित्त स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु इस रोग का आतंक इतना छाया हुआ है कि यदि किसी को रक्त पित्त हो जाय तो डाक्टर फौरन ही टी० बी० का सन्देह करते हैं। इस तरह भी बड़ी गड़बड़ी फैलती है। क्षय के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों से भी रक्तपित्त हो सकता है। जर्मनी अमेरिका आदि के डाक्टरों की रिपोर्टों से पता चलता है कि लगभग ५०% रोगियों को बिना क्षय के ही रक्त पित्त हो जाता है।

एक्सरे ( X, ray ) परीक्षा द्वारा आजकल क्षय रोग का निर्णय किया जाता है। यह परीक्षा भी बहुत कुछ गलत होती है। रोगी को प्रगतिशील ( गैलपिंग टायप ) का क्षय रोग रहता है। रोगी प्रति-दिन क्षीण होता जाता है, ज्वर रहता है दुर्बलता बढ़ती जाती है पर एक्सरे में फेफड़े पर कोई दाग या रोग के लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। इसकी तरफ यह भी होता है कि स्वस्थावस्था मे भी फेफड़े के ऊपरी भाग पर किसी पुराने रोग के कारण कुछ दाग या चिह्न दिखाई पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में रोग का निर्णय कठिन होजाता है।

जिस समय फेफड़े में क्षयरोग के लक्षण दिखाई पड़ते हैं वह प्रायः रोग की अन्तिम अवस्था होती है। ऐसे रोगी बहुत कम स्वस्थ हो पाते हैं। फेफड़े में क्षयरोग के लक्षण प्रकट होने के बहुत पहिले से यह रोग शरीर में रहता है, पर फेफड़े में कोई क्षय का लक्षण प्रकट न होने कारण रोग का निर्णय नहीं हो पाता है।

ऊपर हमने जो निदान की गलतियां बताई हैं वह ऐलोपैथी से सम्बन्ध रखती हैं। ऐलोपैथी आज दुनिया के तमाम सभ्य देशों मे फैली हुई है। सभ्य देश के अस्पताल चिकित्सा और निदान सम्बन्धी सम्पूर्ण साधनों से सुसज्जित होते हैं। जब ऐसी जगहो मे ऐसी गलतियां और भ्रान्तियां होती हैं तब भारत जैसे गरीब देश मे क्या कहना है ? हकीम लोग भी इस रोग को पहिचानने में

गलती कर जाते हैं और अक्सर जिगरे वरम (यकृत शोथ) का इलाज करते रह जाते हैं और रोगी रोग का निर्णय हुए बिना ही चल बसता है। आयुर्वेदीय पद्धति से इलाज कराने वाले वैद्य लोग क्या करते हैं ? यह प्रश्न अब विचारणीय रह जाता है। इस सम्बन्ध में हमारी राय है कि वैद्यों का एक बहुत बड़ा समुदाय न तो इस रोग का निदान कर सकता है और न चिकित्सा ही। इस रोग के सम्बन्ध में पूरी जानकारी पाये बिना न तो इस रोग का निदान ही हो सकता है और न इलाज ही। वैद्यों का एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है जो अध्ययन से बहुत दूर रहता है। अनुभूत प्रयोगों और चालू नुसखों के बल पर ही चिकित्सा का काम करता है। उस समुदाय के लिये यह काम कठिन है। दुर्भाग्य से ऐसे ही चिकित्सकों के पास लोग अक्सर जाते हैं और लाभ न होने पर आयुर्वेद को बदनाम करते हैं।

उपरोक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि अध्ययनशील विद्वान वैद्यों का अभाव है बरन् हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि एक नहीं अनेक वैद्य ऐसे हैं जो अध्ययनशील नहीं हैं और नकल पर अपना काम चलाते हैं। इस तरह के वैद्य चरक के समय में भी थे और चरक ने उन्हें फटकारा भी है। हमारे इस कथन से विद्वान वैद्यों में क्षोभ न होना चाहिये। वैद्यों के अन्दर जो कमियां हैं वह सब सामने आ जानी चाहिये। तभी वैद्य समुदाय उन्नति कर सकता।

आयुर्वेद के मत से रोग का लक्षण प्रकट होने के बहुत पहिले ही उस रोग के कारण या बीज शरीर में मौजूद रहते हैं। और पूरे लक्षण प्रकट होने के पहिले ही रोग का हाल समझ लेते हैं। इस पूर्व रूप से रोगों का निदान करने में बड़ी मदद मिलती है। चरक में निर्देश किया गया है।

"पूर्व रूप प्रतिश्यायो दौर्बल्य दोष दर्शनम् ।
अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्स दर्शनम् ॥
घृणित्व मश्नतश्चापि बल मांस परिक्षय ।
स्त्री मद्य मांस प्रियता, प्रियता चव गुण्ठने ॥"

अर्थात्—जुकाम, नजला, अथवा इन्फ्लुएञ्जा का बार २ होना, धीरे २ दुबलता का बढ़ना, प्रत्येक वस्तु में दोष ही दोष ढूंढना (चिड़चिड़ापन) वीभत्स दर्शन, मन में घृणा के भाव होना, अच्छी तरह भोजन करने पर भी बल और मांस का क्षीण होना, स्त्री, मद्य, और मांस की रुचि बढ़ना और एकान्त वास प्रिय लगना। ये राजयक्ष्मा के पूर्व रूप हैं।

इसी को हम राजयक्ष्मा की दूसरी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में ज्वर भी नहीं रहता। यदि इस अवस्था में कोई रोगी डाक्टर के पास जाय और एक्स रे करावे तो उसके फेफड़े में क्षय-रोग का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ेगा। डाक्टर कह देगा कि तुम्हें कुछ नहीं हुआ है, वहम है। परन्तु क्या इस कथन से रोगी को सन्तोष होगा ? इस अवस्था में क्षयरोग का निर्णय कोई चतुर वैद्य ही कर सकता है। निर्जीव वैज्ञानिक साधन इस निर्णय के लिये अपर्याप्त हैं।

यदि रोगी इसी अवस्था में भाग्यवश किसी अच्छे वैद्य के पास पहुंच जाय और निदान ठीक २ मिल जाय तो शतप्रतिशत रोगी अच्छे हो सकते हैं। निदान के जो साधन आयुर्वेद में उपलब्ध हैं वैसे संसार की किसी भी चिकित्सा प्रणाली में मौजूद नहीं है।

चाहे ज्वर हो या न हो, खांसी हो या न हो, यदि बल क्षीण हो रहा है तो क्षय रोग का सन्देह हो जाना चाहिये। क्षय शब्द का अर्थ क्षीणता है। क्षय किस कारण से हुआ यह जानना दूसरी बात है। आयुर्वेद के मत से क्षय रोग का पूर्व रूप प्रगट होने के पहिले ही से क्षय रोग के कारण शरीर में संचित रहते हैं। शरीर की रोग निवारक शक्ति घट चुकी रहती है। दोष मिथ्या आहार विहार के कारण बिगड़ चुके रहते हैं, रोग की जड़ जम चुकी रहती है, हां पूरे २ लक्षण प्रकट नहीं होते। इसी अवस्था को हम क्षय रोग की पहिली अवस्था कहते हैं। इस अवस्था का ज्ञान कर लेना हंसी खेल नहीं है, विरले चिकित्सक ही इस अवस्था में रोग निर्णय कर सकते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि क्षयरोग की प्रथमावस्था का पता नहीं चलता है।

जिस समय रोग के तीन रूप अथवा छः रूप अथवा ग्यारह रूप ( पूरे २ लक्षण ) प्रकट हो जाते हैं तो वह रोग की अन्तिमावस्था है। इस रोग में रोग असाध्य हो चुका रहता है, रोगी जीर्ण और नितान्त दुर्बल होचुका रहता है। चिकित्सा से ऊब कर उस पर अविश्वास कर चुकता है। इस अवस्था में अच्छा इलाज होने पर कुछ रोगी अच्छे हो जाते हैं और कुछ अच्छे भी नहीं होते।

ऊपर निदान सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियों का जिक्र किया गया है। चिकित्सा सम्बन्धी गलतियां भी बहुत होती हैं। डाक्टर लोग कीटाणुओं के मारने का प्रयत्न करते हैं और वजन बढ़ाने के लिये 'काड लिवर आयल'। इसे देने से वजन कुछ बढ़ता जरूर है। परन्तु कीटाणुओं को भी उससे भोजन मिलता है। इस तरह के इलाज से रोग निवारक शक्ति नहीं बढ़ती है। इसीलिये रोग का जब दुबारा आक्रमण होता है तब रोगी प्रायः संभाल नहीं पाते और कूच कर जाते हैं। वस्तुतः किसी भी चिकित्सा पद्धति में कोई भी ऐसी दवा नहीं है जिस पर पूर्ण विश्वास किया जा सके। हमारे आयुर्वेद में भी इस के लिये कोई अव्यर्थ औषधि नहीं है फिर भी वैद्य लोग इस रोग का चिकित्सा बड़ी उत्तमता से करते हैं और जितने रोगी आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति से अच्छे होते हैं उतने अन्य पद्धतियों से अच्छे नहीं हो पाते हैं।

इस रोग के इलाज में लोग यह करते हैं कि रोगी की जीवनी-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करते। रोगी की जीवनी शक्ति यदि बढ़ जाय तो रोग और रोगाणु स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इस रोग में कफ के कारण फेफड़ा और सभी स्रोत बन्द रहते हैं, यहां तक कि पतली २ केशिकायें तक भी कफ से जकड़ी रहती हैं। इस कफ को अलग करना और जलाना न तो एक दिन का काम है और न सबसे लिये सम्भव है। इसीलिये लोगों को इलाज में कठिनाई होती है। क्षय रोग के इलाज के लिये चरक की चिकित्सा प्रणाली ही सर्वोत्तम है, पर यह स्वीकार करते भी लज्जा का अनुभव हो रहा है कि हमारी जानकारी में सारे भारतवर्ष में शायद एक भी वैद्य चरक की प्रणाली से चिकित्सा करने वाला नहीं है। सभी लोग रसों का प्रयोग करते हैं, अनुभूत प्रयोगों का सहारा लेते हैं। हमारी राय में रस वैद्य इस रोग की चिकित्सा के लिये वैसी ही साबित होते हैं जैसे डाक्टर। डाक्टर भी रोग को दबाने और लक्षणों को मिटाने का इलाज करते हैं और यही काम प्रायः रस चिकित्सक भी करते हैं।

आयुर्वेद मे जितने रस हैं प्राय सभी स्वर्ण घटित हैं। एलोपैथिक डाक्टर भी इस रोग में सोने का प्रयोग अच्छा समझते हैं। परन्तु भारत में सभी रोगी स्वर्ण घटित औषधियों का प्रयोग नहीं कर सकते इस कारण भी रस प्रयोग प्रधानता देने योग्य नहीं हैं। चिकित्सा के कई उपकरण होते हैं, उसी को क्रिया कम भी कहते हैं। रस चिकित्सक इस क्रियाक्रम की परवाह नहीं करते और औषधि के प्रभाव पर अधिक विश्वास करते हैं। इसी बात का हम जीवित उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राय रस चिकित्सक ज्वर रोगी को अपनी औषधि के बल पर दही भात खिलाते हैं। चरक के मत से दही भात देना अपथ्य देना है। पथ्य के सम्बन्ध में आयुर्वेद की राय स्पष्ट है।

> विना पि भेषजै व्याधि पथ्या देव निवर्तते ।
> न तु पथ्य विहीनस्य भेषजानां शतै रपि ॥

अर्थात् प थ्य सेवन करने पर रोग विना औषधि के भी चला जाता है। परन्तु पथ्य न सेवन करने पर सैंकड़ों औषधियों स भी नहीं जाता। रस चिकित्सक पथ्य अपथ्य की परवाह नहीं करत और यहीं से गलत चिकित्सा का सूत्रपात होता है।

साम रोगों में शामक औषधियों से काम चल जाता है परन्तु राजयक्ष्मा जैसे जीर्ण रोग म तीव्र प्रभाव वाले रस प्राय निष्फल जाते हैं। हम यह जानते हैं कि इस रस चिकित्सक हमारी राय से सहमत नहीं होंगे और विरोध करेंगे पर तु हम सत्य को छिपा नहीं सकते। आयुर्वेद का मत चिकित्सा के सम्बन्ध में स्पष्ट है—

> दोषा कदाचित् कुप्य ते जेता लघन पाचनै ।
> शोधनै निहृतेत येषा न तेषां पुनरुद्भवे ॥

अर्थात् जो दोष (वात, पित्त, कफ) लघन और पाचन अर्थात् शामक औषधियों से जीते जाते हैं या दबाये जाते हैं वे फिर कुपित हो जाते हैं और रोग पैदा कर देते हैं। परन्तु शोधन द्वारा जब दोष निकाल दिये जाते हैं तब वे बिल्कुल ही नष्ट होजाते हैं। दोषों को निकालने के लिये स्वेदन, वमन, विरेचन आदि का प्रयोग किया जाता है। राजयक्ष्मा में सशोधन कराना सामान्य चिकित्सक का काम नहीं है। जरा सी गलती होने से रोगी क्षीण हो जाता है और उसकी जान पर आ बनती है। इसी कलङ्क से बचने के लिये आजकल कोई वैद्य सशोधन नहीं कराते। रोगी के क्षीण होने के डर से उसे उपवास भी नहीं कराते। केवल शामक औषधियों का ही सहारा लेकर जैसे तैसे इलाज करते रहते हैं। यदि रोगी अच्छा हो गया तो वैद्य जी का श्रेय है और यदि मर गया तो भाग्य का दोष है। हमारी राय में चिकित्सा की यह प्रणाली ही गलत है।

क्षय रोग में लम्बा उपवास और जुलाब देना अवश्य हानिकर होता है। परन्तु चिकित्सक का यह कर्तव्य कि धीरे २ रोगी की शक्ति बढ़ाकर दूध पिलाकर हलका सशोधन करे। फिर धीरे २ एकाध वक्त का उपवास भी करावे कोष्ठी म अवगाहन कराकर स्रोतों को खोलने का प्रयत्न करे। ज्वर भी इसी विधि से कम होता है। शुद्ध वायु और गुग्गुल की धूनी तो क्षय रोग के लिये अमोघ अस्त्र है। एनिमा अथवा वस्ति के प्रयोग से कभी २ मल निकाले। आप स्वय सोचिये यदि मल नहीं निकलेगा तो दोष कैसे निकलेंगे? राजयक्ष्मा में जो अतिसार का उपद्रव हुआ करता है वह मल निकालने के लिये प्रकृति का नियम है। परन्तु उस साम

प्राकृतिक क्रिया को रोगी सहन नहीं कर पाता और चल बसता है।

अवगाहन के विषय में चरक का स्पष्ट मत यह है—

स्नेह क्षीराम्बु कोष्ठे तं स्वभ्यक्त मवगाहयेत्।
स्रोतो विविध मोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थं मेव च॥

अर्थात् राजयक्ष्मा के रोगी के शरीर में तैल की मालिश करके तैल, दूध और पानी से भरी कोठी में बिठावें। इससे स्रोतों के मुख खुल जाते हैं और शरीर में बल और पुष्टि की वृद्धि होती है।

इसी आज्ञा के आधार पर जल चिकित्सा भी आयुर्वेद सम्मत है। हमारा विश्वास तो यह है कि प्राचीन काल में बाकायदे जल चिकित्सा की जाती थी। यदि ऐसा न होता तो चरक में उपरोक्त निर्देश न मिलता।

ऊपर जो चिकित्सा की कमियां बताई गई हैं वे आयुर्वेद सम्मत हैं और प्रचीन काल के चिकित्सक उनका अवलम्बन करते थे। और इसके ऊपर औषधियों का प्रयोग भी करते थे। आजकल केवल औषधियों का प्रयोग मात्र करते हैं। शेष चिकित्सा भूल से गये हैं।

आजकल एलोपैथी सिद्धान्त से चलने वाले सैनिटोरियम से लोगों का उपकार होता है। इन जगहों में औषधियों पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना स्वास्थ्य के बढ़ाने वाले नियमों का पालन करने पर। कुछ दिन यहां रहकर रोगी सब विधियों को सीख जाता है और घर पर रहकर भी उनका पालन कर सकता है। चरक की चिकित्सा प्रणाली में हवन चिकित्सा, दुग्ध कल्प, स्नान, भोजन आदि का विस्तृत वर्णन है। इन सबका उपयोग वैद्य को व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर करना चाहिये। हवन चिकित्सा से घर में ही पहाड़ों की सी वायु पैदा की जा सकती है। बाकी कौन सी विधि ऐसी है जिसका वर्णन चरक में नहीं है। कमी केवल इस बात की है कि इस विषय का नवीनतम साहित्य का अध्ययन करके चरक से उस का मिलान किया जाय और चरक की प्रणाली फिर से जीवित की जाय। चरक की चिकित्सा-प्रणाली, प्राकृतिक चिकित्सा है। उस पुस्तक में चिकित्सा का निर्देश मात्र मिलता है। उसका विस्तार हमें अन्य साहित्य से लेना पड़ेगा, और उसका अनुभव करना पड़ेगा। चरक में वस्ति क्रिया का जैसा सुन्दर वर्णन है वैसा प्राचीन साहित्य में कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। चरक ने स्वयं कहा है कि संसार की सारी चिकित्सा एक तरफ और वस्ति चिकित्सा एक तरफ। फिर भी वैद्यों में यह गलत धारणा फैली हुई है कि 'मल में बल है' और उसी धारणा के कारण वैद्य लोग एनीमा का उपयोग करने में डरते हैं। अब तो एनीमा के बारे में इतने प्रयोग हो चुके हैं कि उसकी सफलता में सन्देह रह ही नहीं गया है।

क्षय रोग की चिकित्सा में सूर्य किरणों का प्रभाव अद्भुत है। यह आयुर्वेद सम्मत है। चरक ने भी सूत्र स्थान में स्वेद प्रकरण में इसका जिक्र किया है। इसका भी प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए और जिस प्रकार सैनीटोरियम में क्षय रोग की चिकित्सा होती है उसी प्रकार आयुर्वेदीय पद्धति से सैनीटोरियम स्थापित करके चलाने चाहियें। तभी वैद्य लोग क्षय रोगियों की सेवा उचित रूप में कर सकेंगे।

# क्षय चिकित्सा वैशिष्ट्य

लेखक-श्री० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य, महापटघाट, महावन ( मथुरा )

चिकित्सा की दृष्टि से क्षय रोग की तीन अवस्थायें विशेष विचारणीय हैं।

१—प्रथम अर्थात् प्रारम्भिक या कारण स्वरूप की अवस्था, जिसमें ज्वर, अशक्ति आदि सारे दैहिक लक्षण होते हैं। किन्तु कास श्वासादि विशेष उपद्रवोत्पत्ति नहीं होती अथवा ये बिल्कुल सौम्य स्वरूप में रहते हैं। इस अवस्था के रोगी चिकित्सार्थ विशेष लालायित नहीं होते, वे उपेक्षा करते हैं।

२-द्वितीयावस्था अर्थात् रोग का व्यक्त स्वरूप या मध्यमावस्था, इसमें कास श्वासादि उपद्रव स्पष्ट रूप से होते हैं। तथा प्रथमावस्था की अपेक्षा ज्वर में कुछ तीव्रता हो जाती है। पाश्चात् को-

३—तृतीयावस्था अर्थात् उपद्रव युक्त पूर्णावस्था में कण्ठश्वास, खासत समय रक्त का गिरना शरीर में विशेषत हाथ पैर या मुख पर शोथ होना तथा ज्वर का तीव्रता कायम रहती है।

क्षयरोग की चिकित्सा में उक्त अवस्थाओं की ओर ( जिन्हें बहुत सक्षेप से हमने ऊपर दर्शाया है ) विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उसमें भी यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि यदि धातु क्षय के कारण यक्ष्मा का उत्पत्ति हुई हो तो चिकित्सा में पौष्टिक रसायन गुण युक्त औषधि की प्रधानता रक्खे। यदि कफ विशिष्टता या अजीर्ण इस रोग का कारण हो तो दीपन पाचनयुक्त एवं कफ नाशक गुण युक्त पौष्टिक रसायन की योजना करें। यदि सन्निपातिक स्वरूप का क्षय हो ( इसमें जन्तुजन्य क्षय का समावेश होता ) तो सन्निपात नाशक, विष नाशक ( जन्तु नाशक ) गुणयुक्त चिकित्सा को प्रधानता देनी चाहिये।

क्षय रोग चिकित्सा का आयुर्वेदिक वैशिष्ट्य प्रदर्शन के पूर्व हम प्रथम पाश्चात्य चिकित्सा वैशिष्ट्य की संक्षिप्त आलोचना करेंगे। आजकल क्षयरोग पर पाश्चात्यों की खोज की हुई न्युमोथोरेक्स चिकित्सा आदि का बहुत बोल बाला हो रहा है। किन्तु इनसे भी कोई विशेष लाभ नहीं होता है तथा रोगियों को आयुर्वेद पद्धति की ही शरण ग्रहण करनी पड़ती है, ऐसा हमारे अनुभव में कई बार आया है।

कफक्षय ग्रस्त अथवा सन्निपातिक या जन्तुजन्य क्षय ग्रस्त रोगियों पर पाश्चात्य शैली से मुख्यतः दो प्रकार के उपचार किये जाते हैं।

१—एक तो खुली हवा के स्थान पर (जिसे-सेनिटोरियम कहा जाता है ) रोगी को रखकर उसके शरीर में प्राणवायु का अधिक से अधिक प्रवेश कराना, साथ ही जन्तु नाशक इञ्जेक्शन तथा काडलिव्हर तैल आदि पौष्टिक द्रव्यों का सेवन कराना।

२—दूसरा उपचार रोगी की छाती में फुफ्फुसों के चारों ओर जो पोला स्थान ( प्ल्युरा Pleura ) होता है उसमें कृत्रिम उपाय से निर्मित प्राण वायु ( आक्सीजन ) आदि कुछ गैसों को भरकर उस फुफ्फुस को पिचका कर विश्रान्ति देना होता है।

इस उपचार को न्यूमोथोरक्स (Pneumothorax) कहते हैं। इसका उद्देश्य यही है कि फुस्फुसों में क्षय के जन्तुओं की बाढ़ न होने पावे। इसमें भी यह बात देखी जाती है कि जब दोनों ओर की फुस्फुसों में से एक ही ओर की फुस्फुस विशेष क्षय ग्रस्त होता है तब ही इस उपचार का आश्रय लिया जाता है। इसमें भी एक मत नहीं, कोई दोनों ओर के फुस्फुसों पर इस उपचार को करने की सलाह देते हैं। उनका कथन है कि क्षय रोगी को मृत्यु मुख से बचाने के लिये यही एक मात्र उपाय है। किन्तु यह उनका दुराग्रह पूर्ण कथन है। आयुर्वेदिक, यूनानी आदि उपचारों की ओर दुर्लक्ष्य या उपेक्षा बुद्धि होने से ही 'मेरी मुर्गी की एक ही टांग' वाली कहावत को वे चरितार्थ करते हैं। उनके इस कथन की निस्सारता को, हम यहां इस उपचार की विशेष छान बीन कर पाठकों को दर्शाये देते हैं।

जिस ओर के फेफड़े क्षय ग्रस्त होते हैं उसे स्टेथेस्कोप द्वारा जांच कर उसी ओर की दो पसुलियों के मध्यस्थ मांसलभाग में एक पोली सूचिका, जिसका सम्बन्ध रबर नलिका द्वारा एक कुप्पी (शीशी) में भरे हुये परिष्कृत वायु या गैस से होता है, खींची जाती है। फिर उसी सूचिका की सहायता से वह कुपिस्थ वायु अन्दर प्रविष्ट की जाती है, जो अन्दर के पोले स्थान में (प्लुरा में) वेग के साथ प्रविष्ट होकर उस स्थान में भर जाती है। इस अन्दर प्रविष्ट की गई वायु का दबाव जैसा एवं जिस प्रमाण में होता है, तैसा तथा तिसी प्रमाण में फुस्फुस पिचकता जाता है, और उसके अन्दर की दूषित वायु तथा क्षय जन्तुओं के निवास भूत स्थान में संचित दूषित कफ जोर से बाहर फेंका जाता है। फलतः उस फुस्फुस का आकार संकुचित एवं बहुत छोटा होता जाता है। तथा क्षयजंतुजन्य जो क्षत उसमें होते हैं वे भी जंतुओं के सहित पिच जाते हैं। बाह्य वायु के दबाव के कारण वह पिचा हुआ फुस्फुस पुनः (अर्थात् जब तक दबाव है तब तक) विस्तृत नहीं हो पाता, तथा वे क्षत भी पुनः बढ़ने नहीं पाते और धीरे २ उनकी रोपण क्रिया सुलभता से हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि नित्य नियमित ज्वर के आने में रुकावट होजाती है। रोगी कुछ सुधार के मार्ग पर अग्रसर होता हुआ नजर आता है, मन में उत्साह की वृद्धि, चहरे पर प्रफुल्लता आदि बाह्य लक्षणों से यही निश्चय किया जाता है कि उक्त उपचार से क्षय जंतुओं का विनाश हो गया एवं आशातीत लाभ होगया है। तथा रक्तविषमयता (टौक्सिमिया Toxaemia) की उत्पत्ति न होने से ऐसा अनुमान किया जाता है कि क्षय रोग का बीज अब नष्ट प्राय हो गया है।

ध्यान रहे यह न्यूमोथोरक्स का उपचार केवल एक ही बार करने से काम नहीं चलता। इस उपचार को प्रारम्भ करने के पश्चात् एक या दो दिन के अन्तर से पुनः २ इसे करना ही पड़ता है। बार २ उपर्युक्त क्रियानुसार फुस्फुसों में हवा भरी जाती है। फिर भी पूर्ण सफलता की प्राप्ति भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होती है। कारण उस पिचकाये हुये फुस्फुस की शक्ति हमेशा के लिये नष्ट नहीं होती तथा उस पर जो वायु का दबाव पड़ता है वह कायम नहीं रहता। धीरे २ वह कम होता जाता है, अतः उसमें पुनः वायु को भरना आवश्यक

हो जाता है। अन्त में डाक्टरी जाच पड़ताल से जब यह निश्चित किया जाता है कि क्षय का लेश भी नहीं रहा, तब उस अन्तिम बार भरी हुई हवा का दबाव धीरे २ स्वय ही कम हो जाने पर फिर उसमें वायु नहीं भरी जाता, और कहा जाता है कि कुछ दिनों मे फुफ्फुम स्वय कार्य क्षय होजावेंगे, अब कोई भय नहीं। रोगी को छुट्टी दी जाती है। अस्तु, इस प्रकार उपचारित रोगी किसी भग्न पात्र के जैसा हमेशा के लिये दागिल हो जाता है। पूर्ववत निरोगी काया उसकी नहीं हो पाती।

इस 'न्युमोथोरक्स' नामक योजना का परिणाम फुफ्फुसों का कार्य एवं तदन्तर्गत रक्त पर तो विशेषतः होता ही है, तथा साथ ही साथ उससे सलग्न उरोदर पटल ( Diaphragm ), मध्य विभाजक ( mediastinum ), हृदय एवं तद्द्वारा होने वाले रुधिराभिसरण पर भी होता है। उदाहरणार्थ उक्त उपचार का जैसा दबाव फुफ्फुस पर पड़ता है वैसा ही वह उरोदरपटल पर भी होता है। जिसके कारण वह नीचे आमाशय की ओर जोर से धकेला जाने से, एक उथले तमले जैसा हो जाता है, तथा श्वासोच्छ्वास के साथ नीचे ऊपर उठने की उसका स्वाभाविक शक्ति जाता रहता है। इसी प्रकार उसका असर माध्यम विभाजक पर होता है। वह एक ओर को अर्थात् दूसरे फुफ्फुस की ओर झुक जाने से उसे अपना कार्य करने के लिये जितना अवकाश चाहिये उतना नहीं मिलता। फलत उसके श्वास कार्य में कुछ बाधा उपस्थित हो जाने से रोगी की श्वसन क्रिया कुछ तीव्र गति से होने लग जाती है। तथा दोनों फुफ्फुसों मे जाने वाले रक्त के प्रमाण में विशेष अन्तर होजाता है, जिससे रुधिराभिसरण में बाधा उपस्थित होती है।

जिस फुफ्फुस के प्लूरा में वायु भर कर पिचकाया जाता है उसके अन्दर क्षय जन्तुजन्य व्रणों के तथा श्वसनक ( Bronchus ) के अतराफ श्वेततन्तुकला ( Fibrous tissue ) उत्पन्न होजाती है। जिसके कारण वह उपचारित फुफ्फुस एक घना मास जैसा गोला दिखलाई पड़ता है।

हृदय एवं तद्द्वारा होने वाले रुधिराभिसरण पर इसका परिणाम स्पष्ट दृग्गोचर होता है। हृदय पर दबाव के कारण नाड़ी की गति में विशेष अन्तर दिखलाई देता है। प्रायः उसकी गति एक दम मन्द हो जाती है। डाक्टर वीज का प्रमाण युक्त कथन है कि उपचार के पहिले रोगी की नाड़ी की गति १ मिनट में ७० से ७७ बार होती थी, उपचार के बाद वह ५० से ६० बार होने लगी। उपचार के पूर्व हृदय को दोनों ओर के फुफ्फुसों में जितनी जोरों से रक्त फेंकना पड़ता था, अब वह केवल एक ही फुफ्फुस की ओर न्यून वेग से रक्त फेंकता है। इसीसे हृदय के आकार प्रकार में भी विशेष अन्तर हो जाता है। पूर्वापेक्षा उसका आकार कुछ बड़ा सा हो जाता है तथा तदन्तर्गत रक्त ग्रहण करने का स्थान भी कुछ विस्तृत हो जाता है।

हमने इस उपचार के विषय में उपर्युक्त वृतांत बहुत ही सक्षेप में डा० लार्डर्ड गीर्डहोल्ले कृत पुस्तक के आधार पर दिया है। डा० फोर्लानीनी का मत है कि जब रोगी क्षय से पूर्णतया ग्रस्त हो जाता है तथा उसके फुफ्फुसों का आकार एक श्वेत तन्तुकलाओं का गट्ठा ( Fibrous mass ) जैसा हो जाता है तब इस उपचार को एक समान कई वर्षों

तक जारी रखना पड़ता है। तथा सुसाध्य या मामूली क्षय से पीड़ित रोगी पर भी यह उपचार कम से कम दो वर्षों तक जारी रखना आवश्यक होता है।❀

३ या ३॥ वर्षों तक लगातार इस उपचार के करने के बाद जब रोगी को कुछ दिनों के लिये छोड़ दिया गया तब फुस्फुस कुछ शक्ति सम्पन्न होने पर पुनः क्षय ने सिर उठाया था। ऐसा दो रोगियों पर इस उपचार के परिणाम के विषय में डा० सागमन ने उल्लेख किया है।

डा० डी० मुराल्ट का मत है कि कम से कम २ से ५॥ वर्षों तक इस उपचार के द्वारा फुस्फुस को दबाए रखने पर भी पुनः इस रोग के प्रादुर्भाव का सम्भव रहता ही है। फिर निस्सन्देह थोड़े ही दिनों के उपचार से तो इसका कुछ भी बाल बांका नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उक्त उपचार से रोगी पूर्णतया दुरुस्त नहीं होता। प्रत्युत उस के शरीर की ऊष्मा कम हो जाने से वह एक शीत रुधिरी प्राणी ( Cold blooded ) जैसा हो जाता है। उसमें ज्वरांश की प्रतीति नहीं होने का यही एक मात्र कारण जान पड़ता है।

इस उपचार के विषय में एक विशेष बात विचारणीय यह है कि ३ या ३॥ वर्षों तक लगातार एक फुस्फुस को दबाकर रखने पर भी उसमें वही क्षय पुनः सिर उठावे तथा दूसरे फुस्फुस को उसका कुछ स्पर्श न हो! इससे सिद्ध होता है कि उस रोग ग्रस्त फुस्फुस में पहिले ही से ऐसा कुछ विकृति या कमजोरी थी जिससे क्षय जन्तुओं को अपने निवास स्थान बनाने की विशेष सुविधा प्राप्त हुई। प्रायः देखने में आता है कि एक ही घर में हमेशा रहने वाले कई व्यक्तियों में से किसी एक ही व्यक्ति को यह रोग दबोच लेता है। अन्यों को नहीं। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते है। जिससे सिद्ध होता है कि क्षय रोग का मुख्य कारण जन्तु विशेष नहीं, प्रत्युत शारीरिक दोष जन्य विकृति ही होना चाहिए। वास्तव में देखा जाय तो इन जन्तुओं का प्रचार तो सर्वत्र ही न्यूनाधिक्य प्रमाण में है तथा उनका हमला वहां सफलीभूत होता है जहां उनके योग्य सुविधाजनक स्थान उन्हें मिलता है। अतः इस मूंजी रोग का मूलोच्छेद करना यदि अभीष्ट हो तो प्रथम शरीरान्तर्गत दोष जनित विकृति को ही हमें दूर करना उचित है। जिससे उन जन्तुओं का प्रवेश ही न होने पावे और यदि प्रवेश हो गया हो तो चुपचाप दुम दबाकर भाग जावें!

देवास स्टेट ( सीनियर ) के डाक्टर रावर्टस ने भी एक ऐसा उपचार शोध कर निकाला है। उनकी चिकित्सा पद्धति के अनुसार फुस्फुसों के दूषित भाग के चारों ओर तथा कुछ अन्दर के भाग में भी कारबोलिक एसिड और ग्लिसरीन के इंजेक्शन्स दिये जाते हैं। वेदना शमनार्थ इसमें ...

---

❀ Dr. Forlani recommends an indefinate prolongation of treatment when disease has been extensive and the lung is reduced to fibroid mass .........In slighter cases he recommends treatment for ene or two years according to the severity of the disease, but never shorter. Dr. Clive Revelle.

नोव्होकेन या सनोकेन इस प्रमाण में मिलाया जाता है।

कारबोलिक एसिड ½ ड्राम, ग्लिसरीन १ ड्राम, नोव्होकेन ३२ ग्रेन अथवा सनोकेन १६ ग्रेन और शुद्धोदक ४ औंस तक मिलाया जाता है। इस मिश्रण के ½ से २ c c तक इन्जेक्शन्स दिये जाते हैं। बतलाया जाता है कि इस उपचार से क्षयरोग ग्रस्त भागान्तगत जन्तुओं का नाश हो जाता है तथा उस भाग में जो काठिण्यता Calcification की आवश्यकता होती है वह भी कार्य इससे शीघ्र सम्पन्न हो जाता है। यह सूचिवेधन कार्य बड़ी दक्षता के साथ इस प्रकार किया जाता है कि उस का प्रवेश रक्तवाहिनियों में नहीं होने पाता। फुफ्फुस के चारों ओर के आवरण (प्ल्युरा) में छिद्र कर उक्त मिश्रण को केवल क्षय जन्तु ग्रस्त भाग पर ही पहुँचाया जाता है। यदि रक्त प्रवाह में यह प्रविष्ट हो जाय तो अनिष्ट होने की सम्भावना है। अतः यह चिकित्सा खतरे से खाली नहीं। तथापि सुना जाता है कि इस उपचार से कई प्रथम और द्वितीयावस्था के क्षय ग्रस्त रोगी चंगे हो गये। किन्तु यह चिकित्सा भी अभी परीक्षणात्मक प्रयोगावस्था में ही है। अस्तु ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमने इस रोग की पाश्चात्य चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विशिष्ट पद्धति का ही यहां उल्लेख किया है, जिन का हमारे हिन्दुस्थान में आंखें मूंदकर प्रचार किया जा रहा है।

पाश्चात्य स्वतन्त्र राष्ट्रों में कोई भी नवीन शोध जब कोई दूसरा देशवासी लगाता है तब उसकी बड़ी दक्षता के साथ भाशक दृष्टि से कई बार छान बीन की जाती है। किन्तु खेद है कि यह मार्मिक दृष्टि हमारे उदार भारत वासियों में नहीं पाई जाती। कोई भी नवीन शोध विशेषत पाश्चात्यों की ओर से भारत में प्रविष्ट होते ही माननीय होता है। उसका आंखें मींच कर स्वागत किया जाता है। इस अन्ध श्रद्धात्मक उदार बुद्धि के कारण ही हमारी राजकीय बौद्धिक, नैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण हो गया तथा बची खुची हमारी वैद्यक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता का भी अपहरण हुआ जा रहा है।

हमारे हिन्दुस्तानी डाक्टर महोदय अपनी देशी आर्य वैद्यक के सत्वों को ग्रहण करने में तो हिच-किचाते हैं। किन्तु आश्चर्य है कि पाश्चात्य देशों से आये हुए किसी भी नामधारी शोध या आविष्कार को आंखें मींचकर वे झट कैसे ग्रहण कर लेते हैं? वे उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर क्यों नहीं परखते?

ध्यान रहे जिस शास्त्र का मूलभूत तत्व अधकचरा या कमजोर होता है उसी में नाना प्रकार के संशोधनादि हुआ करते हैं, किन्तु जिसका मूल तत्व सुदृढ़ नींव पर स्थित होता है, उसमें संशोधनादि की कोई गुंजाइश ही नहीं होती और यदि कोई संशोधन हुआ भी तो वह मूल तत्व का अनुसरण करते हुये ही होता है। अतः परिस्थितिवश जिसमें कोई संशोधन न हुआ हो, उसे हीन दृष्टि से देखना अपनी बुद्धि का दिवाला निकालना है।

पाश्चात्य वैद्यक और आर्य वैद्यक की रोग निदान पद्धति में महदन्तर है। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार कुछ समय पूर्व केवल रोग के बाह्य लक्षणों पर से ही निदान किया जाता रहा, पश्चात् जब से डाक्टर पाश्चर ने संशोधन कर जन्तुओं का पता लगाया

तब से निदान का स्वरूप कुछ बदल कर रोग जनक जन्तुओं पर स्थिर हुआ है। प्रायः सर्व रोगों का कारण कोई न कोई जन्तु विशेष मान लिया गया है। किंतु आयुर्वेद इन जन्तुओं के भी परे अपनी दृष्टि को पहुंचाता है। मिथ्याहार विहार जन्य आभ्यंतरिक अवयवों की, धातुओं की असाम्यता, न्यूनता या कमजोरी (शास्त्रीय शब्दों में दोष प्रकोप) ही रोगों का मूल कारण निश्चित किया गया है। निदान सम्बन्धी जैसे ही चिकित्सा पद्धति के विषय में आयुर्वेदीय विचार सरणी कितनी शास्त्र शुद्ध एवं उच्च दर्जे की है, इसका अनुमोदन बड़े २ तज्ञ एवं उदार चेता पाश्चात्य महानुभावों ने मुक्त कण्ठ से से किया है।

अब हम पुनः पाठकों का ध्यान अपनी आयुर्वेदिक क्षय चिकित्सा वैशिष्ट्य की ओर आकर्षित करते हैं—

देखा जाता है कि डाक्टर लोग क्षय (थायसिस Phthisis), कफ क्षय धातु क्षीणता आदि विकारों पर काडलिव्हर आइल की विशेष योजना करते हैं, किन्तु उससे रोग बीज समूल नष्ट नहीं होते। हम इसके प्रतियोग में आयुर्वेदोक्त 'नारायण तैल' तथा 'सुवर्ण योगों' को पाठकों के सामने रखते हैं।

हमारे कतिपय भाई 'नारायण तैल' को केवल बाह्य प्रयोग, मालिश आदि की ही वस्तु समझते हैं, किन्तु ध्यान रहे यह आभ्यन्तरिक प्रयोग की परीक्षा में भी विशेष लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इसके प्रयोग से फुफ्फुस स्वयं सशक्त होकर, क्षयजन्तुओं का विनाश हो जाता है। धीरे २ बल मांस की तथा वजन की वृद्धि होती है।

नारायण तैल में काडलिव्हर तैल के समस्त गुण वर्तमान होकर दूसरे भी आश्चर्यकारक एवं अलौकिक गुणों से वह युक्त है। इस तैल के तैयार या सिद्ध करने में जिन द्रव्यों = का संस्कार होता है, वे सब प्रायः वातहर, दीपक, पाचकादि गुण विशिष्ट होने से, इन द्रव्यों द्वारा संस्कारित तिल तैल अपने योगवाही, व्यवायी प्रभाव से शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट हो रोग बीज को दूर करने में पूर्ण समर्थ होता है।

## नारायण तैल की खास विधि—

१—असगन्ध खरैंटी बेलछाल
पाढ़ल छोटी कटेली बड़ी कटेली
पहाड़ी गोखरू कंघी नीम की छाल
अरलूमूल पुनर्नवा प्रसारिणी
अरनीमूल शतावर कचूर
रेंडी मूल करंज की जड़
कट सरैया की जड़
—प्रत्येक १०-१० तोला

—लेकर २५ सेर जल में (सब द्रव्यों को यवकूट कर मिलाना चाहिये) १२ घण्टे तक भिगो रखने के बाद, स्वच्छ कढ़ाई में मन्दाग्नि पर पकावें। चतुर्थांश शेष रहने पर क्वाथ को छान लेवें। पश्चात् उसमें गौ दुग्ध और बकरी का दुग्ध ४-४ सेर, शतावर का रस २ सेर, मूर्छित

= अश्वगन्धा बला बिल्वं पाटला बृहती द्वयम्।
श्वदंष्ट्रातिबला निम्बः श्योनाकं च पुनर्नवा॥
प्रसारिणीमग्निमन्थः कुर्याद्दशपलं पृथक्।

[इसी के साथ हम इन द्रव्यों को भी लेते हैं। शतावरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कचूर, बच, एरण्डमूल, करंज की जड़ और सहचर अर्थात कटसरैया की जड़]

—लेखक

किया हुआ श्वेत तिल तैल ४ सेर तथा निम्नाङ्कित द्रव्यों का कल्क मिला मन्दाग्नि से तैल सिद्ध कर लिया जावे।

कल्क द्रव्य—

| | | |
|---|---|---|
| इलायची | कूठ | श्वेत चन्दन |
| मूर्वा | वच | जटामासी |
| सैंधा नमक | असगन्ध | खरेटी |
| रास्ना | सोया | देवदारु |
| तगर | शालपर्णी | पृश्निपर्णी |
| छबीला | दालचीनी | धमासा |
| मजीठ | | तुलसी बीज |

—प्रत्येक ~।।-२।। तोला

—लेकर चूर्ण कर, कल्क कर।

सेवनीय मात्रा—६ माशे से १ तोला तक, बकरी के दूध या गो दूध के साथ। कफ का यदि विशेष प्रकोप हो तो उष्ण जल के साथ, प्रातः साय, रोगी को पिलाना चाहिये। गुड़, दही लाल मिर्च, और खटाई से परहेज करावें। शीघ्र लाभ होता है।

यदि उपर्युक्त नारायण तैल की योजना न हो सके तो निम्न लिखित निर्गुण्डी तैल की योजना करें—

४—निर्गुण्डी अर्थात् सम्भालु का स्वरस ४ सेर

| | |
|---|---|
| तिल तैल | १ सेर |
| काले भागरे का कल्क | ९ तोला |

—एकत्र मिला, मन्दाग्नि पर पकावें, तैल मात्र शेष रहने पर, छान कर रख लेवें। इसे भी उक्त सेवनीय मात्रा के अनुसार सेवन कराने से कास, श्वासयुक्त राजयक्ष्मा लगभग १ मास में दूर हो जाता है। इसके विषय में कहा भी है—

निर्गुण्डी स्वरसे शृत तिलभव भृङ्गादिचूर्णान्विते।
पात्रे नि श्लमसंवह हिमसुखे तम्माग्रशाय पिवेत ॥
कासश्वासमशेषमाग्नितनुतां शीघ्रं जयेन्मासतो।
यक्ष्माणञ्च समस्त रोगनिलय रामो यथा रावणम् ॥
भा० भै० रत्नाकर।

आयुर्वेदिक सिद्धान्तानुसार शरीर में वात दोष की ही विशेष प्रबलता मानी गई है। यद्यपि औषधीय तैलों (Medicated oils) के अतिरिक्त चूर्ण क्वाथ, रसादि अन्य भी कई गुणकारी सिद्धौषधियाँ हैं। जो वात को शमन कर रोग निवारण में समर्थ हैं। तथापि हमारा अनुभव है कि कुछ रसों को छोड़कर उनकी क्रिया रोगी के शरीर पर उतनी शीघ्रता से नहीं होती, जितनी तैलों के प्रयोग से होती है। 'वात स्नेहेन जयेत्' वात को स्नेह से जीतना चाहिये। ऐसा आयुर्वेद का एक सूत्र वाक्य है। घृत, तैल, वसा, मज्जा इन चार प्रकार के स्नेहों में यद्यपि घृत श्रेष्ठ है, कारण वह विशेष सत्वगुण प्रधान है, तथा तैल ये जैसे ही अपने स्वत के गुणों को कायम रख अन्य संस्कारों के गुणों को भी ग्रहण कर लेता है। किन्तु यह तैल जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट नहीं हो सकता, और हमें इस रोग में कृमियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश कर उसे परिशुद्ध करने वाली औषधि की अपेक्षा होने से हमने उक्त नारायण तैल की योजना कर कई बार परीक्षा किया है। प्रथम और द्वितीयावस्था के रोगियों के लिये बहुत ही मुफीद होता है। तथा बल एवं कफ क्षीण रोगियों इससे विशेष लाभ हुआ है।

तृतीयावस्था के रोगियों का मामला बहुत ही

टेढ़ा होता है। इस अवस्था में हम रोगी को प्रातः उक्त नारायण तैल का सेवन कराते हैं, दोपहर में बृहन्मूलासव (देखिये बृहदासवारिष्ट संग्रह प्रयोग नं० २९२) मात्रा १ से २॥ तोले तक, सम भाग उष्णोदक मिला पिलाते हैं।

ध्यान रहे, क्षय रोग की किसी भी अवस्था में दशमूल विशेष कार्यकारी है। बृहन्मूलासव में सेंहुड़, बड़, आक आदि उपयुक्त द्रव्यों के साथ, दशमूल की उचित मात्रा होने से, क्षय की तृतीयावस्था में वह उत्तम लाभ करता है। दशमूल में एक अत्यन्त महत्व का गुण यह है कि शरीर के किसी एक भाग में या सर्व शरीर में रक्त मांसादि किसी भी धातु में सदोषता, सड़ान आदि स्वरूप की जन्तुमय जहरीली अवस्था उत्पन्न होगई हो तो उसे शीघ्र दूर कर देता है। वैद्य भूषण हिर्लेकर जी का भी प्रमाणयुक्त कथन इसी प्रकार है। इस सर्व सामान्य जहरीली अवस्था के प्रतिवन्धक गुण को ही आयुर्वेदीय भाषा में त्रिदोष नाशक अथवा सन्निपात नाशक कहा जाता है। क्षय की चाहे जो अवस्था हो, उसमें न्यूनाधिक प्रमाण में त्रिदोष प्रकोप (अर्थात विषयुक्तावस्था) रहती ही है। इसीसे त्रिदोष नाशक, एवं विषयुक्त विकृति का प्रतिबन्धक ऐसा दशमूल का उपयोग क्षय रोग में करना हितकारी होता है। सिवा इसके दशमूल में और भी एक महत्व का गुण यह है कि वह कुछ मर्यादित प्रमाण में उत्तेजक है। शरीरान्तर्गत धातुओं में विकृति होने से, अथवा उनका उत्पादन कम होकर क्षीणता आने से, रक्ताभिसरण में भी न्यूनता आजाती है, या रसरक्तान्तर्गत स्वाभाविक द्रवत्व में भी न्यूनता आती है अर्थात उनमें कुछ घनत्व पैदा हो जाते है, जिसके कारण अभिसरण में न्यूनता आती हैं। अतः इस अवस्था में कुछ प्रमाण में उत्तेजक गुण विशिष्ट योग्य औषधि की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार का उत्तेजन दशमूल से प्राप्त होता है, तथा अन्यान्य उत्तेजक औषधियों जैसा यह दाहक नहीं होता। इसी उत्तेजना शक्ति से विशेष कार्य लेने के लिये हम उसका 'बृहन्मूलासव' रूप में व्यवहार करते हैं। रसरक्तान्तर्गत द्रवत्व में न्यूनता आने से अथवा शरीर के सूक्ष्म स्रोतसों की विकृति से या इसी प्रकार के अन्य कारणों से अभिसरण की न्यूनता होने से ही शोथ शूलादि उपद्रवों की उत्पत्ति होती है। तथा यथायोग्य प्रमाण में उत्तेजना निर्माण कर, रक्ताभिसरण में पूर्ववत् योग्य स्थिति प्रदायक औषधियों द्वारा ये उपद्रव नष्ट किये जाते हैं। यह गुण उपर्युक्त दशमूल विशिष्ट बृहन्मूलासव में प्रचुर प्रमाण में पाया गया है। संक्षेप में कह सकते है कि जन्तुजन्य क्षय अवस्था का यह उत्तमतया प्रतिकार करने वाला, एवं अविदाही उत्तेजक कार्य करने वाला दीपन पाचन है। इसे हम रोगी को दोपहर में तथा रात्रि के समय, शयन करने के पूर्व सेवन कराते हैं।

धातु क्षय जन्य राजयक्ष्मा में कृशत्वाधिक्य एवं शुष्क कास की अवस्था में दशमूल से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा शास्त्रोक्त दशमूलादि घृत का सेवन विशेष लाभकारी है। किन्तु ध्यान रहे कास में अधिक प्रमाण से कफ निस्सरण होता हो तो घृत कल्पों का प्रयोग यशस्वी नहीं होता। इस अवस्था में भी बृहन्मूलासव अच्छा काम करता है। फुफ्फुसों की विकृतावस्थाजन्य वेदना शमनार्थ

हम रोगी के वक्षस्थल पर निम्नाङ्कित बलादि लेप की योजना करते हैं—

५—खिरेंटी वासा तिल
मुलैठी देवदार लालचन्दन
सहजने की छाल पुनर्नवा मूल
गूगल

—सबका महीन चूर्ण कर, उसमें चूर्ण का चौथाई भाग केशर मिला, नारायण तैल के साथ घोंट कर लेप प्रात सायं करने से शीघ्र लाभ होता है।

यदि रोगी की खकार में, खासी के साथ रक्त आता हो, उर क्षत होगया हो तो निम्न क्वाथ के साथ नारायण तैल की योजना करे—

६—रोहिष तृण ( अभाव में दूर्वा )
धमासा वासा ( अडूसा)
पित्तपापड़ा फूल प्रियङ्गु
शुद्ध लाक्षा चूर्ण

—सम भाग ६-६ माशे लेकर, एक पाव (२० तोल जल में, चतुर्थांश क्वाथ सिद्ध होने पर छान कर ठण्डा होने पर, उसमें नारायण तल ६ माशा मिला पिलावें।

इस अवस्था में शास्त्रोक्त एलादिमय की भी योजना सफलता पूर्वक की जाती है। इसमें नारायण तैल की आवश्यकता नहीं पड़ती।

धनी मानी रोगियों के लिये, तथा अत्यन्त सुकुमार रोगियों के लिये सुवर्ण या सुवर्ण मिश्रित औषधि कल्प उत्तम लाभकारी होता है। सुवर्ण भस्म या सुवर्ण मिश्रण के भिन्न २ कल्प शास्त्रों में वर्णित हैं। उनमें से पारद और सुवर्ण मिश्रण का कल्प विशेष हितकारी होता है। पारद शरीरान्तर्गत धातुओं में निर्मलता उत्पन्न करते हुये उनकी शक्ति को बढाने वाला है, अत' रक्त की विदग्धता नाशक सुवर्ण के साथ उसका योग 'सुवर्ण में सुगन्ध' का काम देता है। पारद और सुवर्ण मिश्रित कल्पों में प्रायः सर्वत्र गन्धक का सम्बन्ध रहता ही है। अत दीपन, पाचन, विष नाशन आदि गन्धक के गुण भी इस कार्य में सहायक ही होते हैं।

इन कल्पों में ४ कल्प क्षय रोगोपचार्य मुख्यतया लाभकारी हैं।

१—पारद स्वर्ण युक्त मिश्रण के कल्प जैसे चन्द्रोदय, मकरध्वज, स्वर्ण पर्पटी, हेमगर्भ आदि। जो रोगी पित्त विशिष्ट प्रकृति के होते हैं, उनके लिये यह कल्प विशेष लाभकारी होता है। यह क्षय की विकृति को दूर करते हुए धातुओं को पुष्ट करता है।

२—पारद सुवर्ण युक्त मौक्तकादि ( मौक्तिक भस्म, शौक्तिक भस्म प्रवाल भस्म शङ्ख भस्म, कपर्दिका भस्म ) मिश्रण के कल्प। यह कल्प उस अवस्था में उपयोगी होता है, जब शरीर में विदग्धता या अस्वाभाविक दूषित अम्लता विशेष बढ़ गई हो। साराश दाह या कफ, पित्त प्रधान विकृति में यह उपयोगी है।

३—पारद स्वर्ण युक्त अभ्रक, माक्षिक, लोहा आदि मिश्रण के कल्प। यह उस दशा में उपर्युक्त होता है जब कि शरीर में रक्त का विशेष घनत्व कम होकर द्रवांश बढ़ गया हो, जिसका यथा योग्य शोषण न होने से शोथ, जड़ता आदि लक्षण प्रकट हो गये हों। साराश रक्ताल्पता (अनेमिक Anae

mic ) की स्थिति में यह विशेष उपयोगी है।

४—पारद स्वर्ण युक्त रसक ( खर्पर ) मिश्रित कल्प। यह क्षय की उस अवस्था में विशेष उपयुक्त होता है, जब कि शरीर में धातुओं की क्षीणता होने से शुष्कता या रूक्षता की वृद्धि हुई हो। इस कल्प की योजना से शारीरिक रूक्षता दूर हो जाती है तथा आर्द्रता या घनता की वृद्धि नहीं होने पाती अर्थात् यह कल्प श्लक्ष्ण गुण विशिष्ट है। वसन्त-मालती जैसे रसक युक्त कल्पों के श्लक्ष्णता गुण को विशेष बढ़ाने की दृष्टि से ही उनका मक्खन के साथ खरल करने की योजना की गई है। रसक मिश्रत कल्पों के इस विशिष्ट गुण के कारण ही उनका क्षय की प्रारम्भिक अवस्था तथा द्वितीयावस्था में भी उत्तम उपयोग होता है।

यदि अन्त्र की या पाचनेन्द्रिय की विकृति से क्षयोत्पत्ति हो अथवा क्षय की दशा में पचनेन्द्रियों की विकृति हुई हो तो पारद स्वर्ण मिश्रत कल्पों में से स्वर्ण पर्पटी विशेष गुणकारी होती है।

ध्यान रहे पारा और गन्धक के मिश्रणों में से जितने भी प्रयोग निर्माण किये जाते हैं, उनमें से पर्पटी का उपयोग विशेषतः आन्त्र एवं ग्रहणी पर उत्तम होता है। तथा इसी मिश्रण से बना हुआ रस सिंदूर कल्प का विशेष उत्तम परिणाम रसरक्त पर होता है। अतः पारा गन्धक एवं स्वर्ण युक्त स्वर्ण पर्पटी के उपर्युक्त गुणों के तत्व को ध्यान में रखते हुए सार्व दैहिक अर्थात् रक्त की विकृति से उत्पन्न क्षय रोग में रस रक्त पर विशेष परिणाम-कारी की दृष्टि से पारद के स्थान में रस सिंदूर का मिश्रण कर स्वर्ण पर्पटी निर्माण करने की एक प्रथा प्रचलित है। इस प्रकार तैयार किए हुए स्वर्ण पर्पटी का उपयोग क्षय की तृतीयावस्था पर भी बहुत अच्छा होता है। पारा गन्धक की कज्जली युक्त स्वर्ण प० कृष्ण वर्ण की होती है, जो कि ग्रहणी विकार से उत्पन्न क्षय रोग में उत्तम लाभ करती है। तथा रस सिंदूर युक्त स्व० प० लाल वर्ण की होती है जो कि कास श्वास युक्त सार्व दैहिक क्षय रोग में विशेष हितकारी है।

रस सिंदूर युक्त स्वर्ण पर्पटी निर्माण विधि—

रस सिंदूर को प्रथम आमले के रस में मर्दन कर शुष्क करे, फिर क्रमशः अदरख के रस में अरण्डी के पत्र रस में खरल (पत्थर के खरल में) कर शुष्क करे। पश्चात् ४ तोले इस रस सिन्दूर में एक तोला असली स्वर्ण के वर्क मिला, खूब खरल करें, एक दिल हो जाने पर थोड़ा ( लगभग २ तोले तक ) मक्खन या गौ दुग्ध की मलाई के साथ खरल कर, गोला सा बना, किसी कलईदार कटोरी (चांदी की कटोरी हो तो उत्तम ) में रख, अग्नि पर रक्खें। अच्छी तरह पिघल जाने पर, गाय के गोबर पर बिछे हुए केले के पत्ते पर फैला कर उसके ऊपर दूसरा कदली पत्र ढक दें और गोबर से दबा देवें। ठण्डा हो जाने पर, पर्पटी को पीसकर रख लेवें।

मात्रा—दिन रात में २ से ४ रत्ती तक, प्रकृति मानानुसार सेवन करावें। प्रथम १ रत्ती से शुरू कर प्रति दो दिन के बाद १-१ रत्ती बढ़ाते हुए ४ रत्ती तक बढ़ावें। यदि रोगी बलवान हो तो ६ रत्ती तक भी सेवन सफलता पूर्वक करा सकते हैं। पश्चात् उसी क्रम से १-१ रत्ती घटावें और पुनः बढ़ावें। लगभग ३ माह तक इसी क्रम से देते रहें। प्रकृति एवं रोगावस्था के अनुसार अनुपान में केवल

[ शेषांश पृष्ठ १४१ पर देखें ]

# क्षय रोग असाध्य नहीं है।

लेखक-श्री० पं० सोमदेव जी शर्मा शास्त्री, साहित्य आयुर्वेदाचार्य, ए० एम० एस०, वाइस प्रिंसिपल-
ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत।

वर्तमान समय में मानव जीवन का भयङ्कर शत्रु 'क्षयरोग' (राजयक्ष्मा) एक असाध्य रोग समझा जाता है। उसके आतङ्क से प्रत्येक प्राणी तथा उनका समुदाय कांप उठता है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह क्षय रोग असाध्य नहीं है किन्तु इसका आतङ्क ही इस रोग के रोगी को असाध्य बना देता है। क्योंकि इस रोग के आतङ्क से रोगी स्वयं अपने आपको तथा उसके कुटम्बी, पड़ौसी, पड़ोसी जनता और चिकित्सक भी उसको निश्चित रूप से मृत्यु का ग्रास समझने लगता है। जिसके परिणाम स्वरूप में वह रोगी अपने जीवन से निराश होने के कारण उत्साह हीन होकर अपना जीवन व्यतीत करने लगता है। प्रतिक्षण उसके मस्तिष्क में अवश्यम्भावी मृत्यु का चित्र नाचता रहता है। जिससे उसका हृदय दुर्बल और ओज क्षय भी होने लगता है। तथा क्रमश उसकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का क्षय होते रहने से बल तथा मांस का क्षय होने से वह असाध्य बन जाता है। आजकल जो क्षयरोग ग्रस्त की भयङ्कर मृत्यु संख्या बढ़ रही रही है उसमें से ७५ प्रतिशत रोगी क्षयरोग के आतङ्क से असाध्य होकर मरते हैं। यदि क्षय रोगियों के चित्त में से इस क्षय रोग की असाध्यता का आतङ्क तथा विश्वास हटाया जासके तो इस राग से होने वाली मृत्यु संख्या, प्राचीन समय की भांति अंगुलियों पर गिनी जाने योग्य ही रह सकेगी। परन्तु यह तभी हो सकता है कि जब चिकित्सक तथा जनता के चित्त से भी क्षय रोग की असाध्यता का झूठा विश्वास और आतङ्क हट जाय।

## रोग परिचय-

क्षय रोग का इतिहास बहुत प्राचीन है। महर्षि पुनर्वसु, आत्रेय, अग्निवेश, कश्यप एवं चरक के मत में सृष्टि में + सबसे पहिले सत्ययुग के अन्त और त्रेता युग के प्रारम्भ में 'अधर्म से ही ज्वर आदि आठ रोगों की उत्पत्ति मानी गई है। उस समय दक्ष प्रजापति का शासन काल था, और स्वयं उनके ही अधर्माचरण से सर्व प्रथम १-ज्वर, २-रक्तपित्त, ३-प्रमेह, ४-गुल्म, ५-कुष्ठ, ६-उन्माद ७-अपस्मार, इन सात रोगों की उत्पत्ति हुई थी। और इनके जामाता 'चन्द्र' के अधर्माचरण से इस क्षयरोग (राजयक्ष्मा) की उत्पत्ति स्वयं उनके ही शरीर में हुई थी। क्षय रोग का प्रथम रोगी राजा 'चन्द्र' हुआ था। और उसी के नाम से यह 'राजयक्ष्मा' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ था। यथा—

*अ यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मत।

(चरक चि० अ० ८-११)

---

+ (१) प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्ति-रन्यतोऽभूत॥ (चरक वि० अ० ३)

(२) तत्र प्रथमत एव तावदाशलोभाभिद्रोहकोप-प्रभावानष्टौ व्याधीन्निदानपूर्वेण क्रमेणानुव्याख्यास्याम। (चरक नि० अ० १)

प्रागुत्पत्ति स्तथाऽन्येषां रोगाणां परिकीर्तिता।
कृतत्रेतान्तरस्येव प्रादुर्भूता यथा नृणाम॥
(कारयप संहिता)

(आ) यस्माद्वा पूर्वमासीद्भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद्राजयक्ष्मेति । ( चरक नि० अ० ६ )

(इ) राज्ञश्चन्द्रमसो यस्माद भूदेश किलामयः ।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्महर्षयः ॥
( सुश्रुत अ० ४१-३ )

जिस प्रकार राजा बहुत मनुष्यों से घिरा रहता है, उसी प्रकार यह यक्ष्मा रोग भी बहुत रोगों से घिरा रहता है। इसीलिये भी यह राजयक्ष्मा कहलाता है। ऐसा आचार्य वाग्भट का मत है। यथा—

यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः।
( अष्टांग सं० नि० अ० ५ )

यह रोग बहुत समय तक शरीर में रहता है। इस लये शीघ्र रोग मुक्त करने की आशा से रोगी द्वारा वैद्य ( धन, दान आदि ) से यत्न पूर्वक पूजा जाता है। इसलिये यह 'यक्ष्मा' नाम से पुकारा जाता है, ऐसा आचार्य भाव मिश्र का कथन है। यथा-

वैद्यो व्याधिमता यस्माद् व्याधिर्यत्नेन यक्ष्यते ।
स यक्ष्मा प्रोच्यते लोके शब्दशास्त्र विशारदैः ॥
( भावप्रकाश )

यह रोग शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का क्षय करता है तथा चिरकाल तक रहने से शरीर का क्षय करता हुआ चिकित्सा मे प्रयुक्त औषधियों का भी क्षय करता है। अतएव क्षय नाम से भी यह पुकारा जाता है। यथा—

१—क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः ।
( सुश्रुत उत्तर अ० ४१-२ )

२—देहौसध क्षय कृतेः क्षयस्तत्सम्भवाच्च सः ।
( वाग्भट नि० अ० ५ )

रस आदि धातुओं का शोषण करने से यह 'शोष' नाम से प्रसिद्ध है और रोगों के मध्य में राजा के समान प्रतीत होने से 'रोग राट्' भी कहलाता है। यथा—

१—संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते ।
( सुश्रुत उत्तर ४१-२० )

२—रसादि शोषणाच्छोषो रोगराट् तेषु राजनात ।
( वाग्भट नि० ५ )

राजा चन्द्र के पश्चात् अयोध्या के राजा अग्निवर्ण, पुरुवंशी राजा व्युसिताश्व, शांतनुपुत्र विचित्रवीर्य तथा राजा शशभृत् के राजयक्ष्मा से पीड़ित होने का वर्णन इतिहास मे मिलता है।

---

[ पृष्ठ १३९ का शेषांश ]

शहद अथवा पीपल चूर्ण युक्त शहद या केवल मिश्री के साथ देवें। अनुलोम क्षय (स्प्रू Sprue) में यदि दस्तों की अधिकता हो तो इसे बेल के मुरब्बे के साथ देवें, यदि विशेष दाह हो, मुख पाक हो तो अनार रस के साथ या दाड़िमावलेह के साथ देवें। श्वास-कास का उपद्रव भयङ्कर प्रमाण में हो तथा कफ चेपदार, दुर्गन्धित निकलता हो तो इसे अडूसा रस और शहद के साथ अथवा वांसावलेह के साथ देना शीघ्र लाभकारी होता है।

रोगी को अजा दुग्ध पर रक्खें, यदि अनुकूल न पड़े तो गो दुग्ध पर रखना चाहिये। यदि कोई भी दूध अनुकूल न हो तो जौ और गेहूं के मोटे आटे को गौ दुग्ध में पकाकर ( २ से ५ तोले आटे को १ पाव दूध में १ माशा सोंठ का चूर्ण मिला पकावें। आधा शेष रहने पर) उसमें १ तोला शहद और १ तोला मिश्री मिला सेवन करावें। यदि कफ की विशेषता न हो तो इसमें थोड़ा गौ घृत भी मिलाते हैं। जैसा कि कहा है—

यव गोधूम चूर्णं च क्षीर सिद्धं घृतप्लुतम् ।
तत्कृत्वा सर्पिषा क्षौद्र सिताढ्यं क्षय शांतये ॥ वृ० नि०र०

---

यह क्षय रोग स्वतन्त्र रूप से तथा रक्तपित्त, ज्वर ( जीर्ण ज्वर तथा प्रमूति ज्वर आदि ), काम कफज गुल्म, व्रण, उरःक्षत आदि रोगों की उपेक्षा करने पर उपद्रव रूप में भी उत्पन्न होता है। यथा—

१–रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।
२–प्रतिश्यायादथो कास कासात्संजायते क्षयः ॥
( चरक नि० अ० ८ )

३–(कफजगुल्मे) श्लेष्मा ... तथा कास श्वास प्रतिश्याय राजयक्ष्माणः चतिवृद्धि। च नि० ३

४–व्रणितस्य भवेच्छोष स चासाध्यतमोमत।
सुश्रुत उत्तर अ० ४१ )

५–उपेक्षिते हि भवेत्तस्मिन ( उरःक्षते ) धातुक्षयोद्दिः यक्ष्मण ( चरक चि० अ० ११-१२ )

## क्षय के कारण–*

क्षय के १–साहस २–विषमासन ३–वेग धारण ४–शुक्र तथा ओज का क्षय, यह चार मूल कारण हैं उनमें से चतुर्थ कारण शुक्र क्षय) प्रधान माना गया है। यथा—

(अ) क्षीयते प्रसङ्गः शोषद्वाराणां ( श्रेष्ठतम )
( चरक सू० अ० २५ )

(आ) क्षीयतेप्रसङ्ग शोषकरणाम।
( अष्टांग संग्रह सू० अ० १३ )

(इ) पुरानिर्दिष्ट चन्द्र आदि क्षय ग्रस्त राजाओंको भी क्षय रोग शुक्र क्षय से उत्पन्न हुआ था।

कुछ आचार्य इन चार कारणों के अतिरिक्त अधिक मैथुन, शोक वृद्धावस्था व्यायाम, मार्ग चलना, व्रण तथा उरःक्षत इन सात कारणों को पृथक मानते हैं, परन्तु वास्तव में इन सात कारणों से उत्पन्न हुये क्षय भी उपर्युक्त चार मूल कारणों से उत्पन्न हुये राजयक्ष्मा में ही अन्तर्भावित हो जाते हैं। यथा—

१–व्यवायज शोष—का क्षयज ( शुक्र क्षयज ) राजयक्ष्मा में अन्तर्भावित हो जाता है।

२—शोकज, ३–वार्द्धक्य शोष, ४–व्रण शोष—का क्षयज (ओज क्षयज) यक्ष्मा में अन्तर्भाव हो जाता है

५–व्यायाम शोष, ६–अध्व शोष, ७–उर. क्षतज शोष—का साहसज यक्ष्मा में अन्तर्भाव हो जाता है।

पाश्चात्य चिकित्सक क्षय रोग का कारण बैसिलसट्युबरक्लासिस नाम का दण्डाकार जीवाणु मानते हैं, जो श्वास मार्ग द्वारा प्रविष्ट होता है।

## क्षय रोग असाध्य नहीं है

इसके ये निम्न लिखित कारण हैं—

१-चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट आदि प्रसिद्ध आयुर्वेदिक संहिताओं में कहीं पर भी क्षय रोग को असाध्य नहीं लिखा है। हां इसको त्रिदोषज तथा अनेक रोगों से युक्त होने के कारण कष्टसाध्य ( कष्ट साध्य) अवश्य माना है। यथा—

(अ) न सर्व रोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्मणामाप सर्वे भिषज।

(आ) राजयक्ष्मा रोग समूहानाम् (च सू० अ० २५)

चरक तथा वाग्भट्ट ने क्षय को असाध्य लिखना तो दूर रहा आम विष की भांति अचिकित्स्य तथा विषम चिकित्स्य और सन्निपात की भांति दुश्चिकित्स्य भी नहीं माना है। यथा—

(अ) आमो विषम चिकित्सितानाम्।
( चरक सू० अ० २५ )

(आ) आमविषमचिकित्स्यानाम्।
( अष्टाङ्ग सं० सू० अ० १३ )

(इ) सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्।
( चरक सू० अ० २५ )

सुश्रुत द्वारा दुश्चिकित्स्य बताये गये १-वातव्याधि, २-प्रमेह, ३-कुष्ठ, ४-अर्श, ५-भगन्दर, ६-अश्मरी ७-मूढ़गर्भ, ८-उदररोग (जलोदर आदि) इन आठ रोगों में भी क्षय का उल्लेख नहीं है। यथा—

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरः।
अश्मरी मूढ़गर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्॥
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्यामहागदाः॥'
( सुश्रुत सू० अ० ३३ )

:—मुनिवर चरक ने चरक संहिता में साध्य रोगों की ही चिकित्सा लिखी है, असाध्यों की चिकित्सा नहीं हो सकती है। इसलिये उनका वर्णन उन्होंने नहीं किया है, जैसा कि उनके निम्नलिखित श्लोक से स्पष्टतया प्रकट होता है—

भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः।
साधनंनत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते॥
( चरक सू० अ० १-६२ )

चरक के इस सिद्धान्त से विदित होता है कि यदि वे 'क्षय रोग' को असाध्य मानते तो उसकी भैषज साध्य चिकित्सा न लिखते। चरक ने दो चार श्लोकों में नहीं किन्तु १९१ श्लोकों का एक पूर्ण महाकाय अध्याय ( चरक चिकित्सा अध्याय ८ ) क्षय की चिकित्सा में लिखा है। उनमें उन्होंने क्षय के प्रत्येक लक्षण तथा उपद्रव की चिकित्सा विस्तार पूर्वक लिखी है। चरक तथा वाग्भट्ट ने क्षय ग्रस्त 'चन्द्र' का वैद्यवर अश्वनीकुमारों की चिकित्सा से नीरोग होने का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। यथा-

१-........सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः।
स विमुक्तो ग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः॥
ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां.. ...........।
(चरक चि० अ० ८-९-१०)

राजयक्ष्मर्दितश्चन्द्रस्ताभ्यामेवचिकित्सितः।
(अष्टाङ्ग संग्रह उत्तर अ० ५०)

चरक तथा सुश्रुत ने अन्य सामान्य रोगों के साध्य तथा असाध्य चिन्हों की भांति क्षय के भी साध्य तथा असाध्य चिन्ह लिखे हैं। यदि यह क्षयरोग असाध्य रोग ही होता तो इसके साध्य चिन्ह न लिखे जाते यथा--

(१) तत्रापरि क्षीणबलमांस शोणितो बलवानजातारिष्टःसर्वैरपिशोषलिङ्गैरुपद्रुतः स साध्योज्ञेयः।
( च० नि० अ० ६ )

(२) ज्वरानुबन्ध रहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥
(सुश्रुत उत्तर अ० ४१-३०)

जिस प्रकार प्रत्येक साध्य व्याधि चिकित्सा न करने से अथवा कुपथ्य आदि करने से असाध्य हो जाती है, उसी प्रकार 'क्षय, भी साध्यावस्था में चिकित्सा न करने से अथवा उपेक्षा से असाध्य हो जाता है। परन्तु असाध्यावस्था उत्पन्न होने से पूर्व वह साध्य ही रहता है। यह उपर्युक्त साध्यताबोधक वचनों से ज्ञात ही होजाता है।

क्षय की असाध्यता के विशेष चिन्ह—

क्षयकी साध्यावस्था में चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध न होने से अथवा चिकित्सा की उपेक्षा करने से क्षय कि जो असाध्य चिन्ह उत्पन्न होते हैं उनमें से 'बल और मांस का क्षय होना विशेष चिन्ह हैं जो कि क्षय रोग की निश्चित रूप से असाध्यता प्रकट करते हैं। क्योंकि ऐसी अवस्था में रोगी, रोग तथा

औषधि के बल को नहीं सह सकता है। यथा—

दुर्बलस्त्व अतिक्षीणबलमांस शोणितमल्पलिङ्ग मक्षातारिष्टमपि बहुलिङ्गम जातारिष्टं च विद्यात्अनुमह्-त्वाद्व्याध्यौषध बलस्य त परिवर्जयेत्।

( चरक नि० अ० ६ )

यहां पर 'बलक्षयं' यह चिन्ह ओज के क्षय का बोधक है जिससे वायु कुपित होकर रोगी के ज्ञान, शरीर तथा इन्द्रियों की क्रिया तथा शक्ति को नष्ट कर देती है और परिणाम स्वरूप में वह रोगी असाध्य हो जाता है। यथा—

यस्य धातुःक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत्।
प्रक्षीणंचबलंयस्यनासौशक्यश्चिकित्सितम्॥

( सुश्रुत सूत्र अ० १५)

मांस क्षय होने पर नितम्ब (चूतड़), कपोल, ओष्ठ ( ओज ), लिङ्ग, ऊरु, वक्षस्थल, कक्षा, पिण्ड-लिया, उदर तथा ग्रीवा ( गर्दन ) का मांस सूखने लगता है और वायु की वृद्धि से शरीर में रूक्षता तथा सुई चुभने की भांति पीड़ा होने लगती है। और शरीर तथा धमनियों में शिथिलता आने लगती है।

## बल तथा मांस के क्षय का कारण-

बल तथा मांस के क्षय होने का मुख्य कारण रस रक्तादि धातुओं का क्षय होना है। जब रसवाहक स्रोत रुक जाने से रक्त मांस आदि धातुओं का पोषण नहीं होता है तो मांस धातु का क्षय होने लगता है और परिणाम स्वरूप में इन धातुओं के सार भाग ओज का क्षय होने से उस (ओज) के कार्य स्वरूप बल का भी क्षय होने लगता है।

## क्षय के असाध्यता दर्शक अन्य चिह्न

बल और मांस क्षय के अतिरिक्त अतिसार* तथा शुनमुष्कोदर (अण्डकोष तथा उदर का शोथ) और अधिक भोजन लक्षण भी क्षय के घातक चिन्ह होते हैं। कारण यह है कि क्षय के रोगी का जीवन मल के अधीन ( मलायत्तं च जीवितम् ) माना गया है, इसलिये क्षय में अतिसार होने पर जीवन की समाप्ति ही समझी जाती है। इसी भांति 'शुनमुष्कोदर' लक्षण भी विरेचन साध्य है और विरेचन की औषधि से अतिसार हो जाने से जीवन की आशा नहीं रहती है। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम होने से यह चिन्ह भी असाध्य माना गया है। अधिक भोजन करना यह प्रकट करता है कि भोजन पचने पर सार भाग पोषक रस अत्यल्प — बनने से भूख अधिक लगती है।

बल मांस क्षय होने पर अन्य रोग भी असाध्य हो जाते हैं। यथा—

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी रक्ती तथोदरी।
गुल्मीचमधुमेहीच 'राजयक्ष्मी' च यो नरः॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति।
अल्पेष्वपि विकारेषुतान्भिषक्परिवर्जयेत्॥

( चरक इन्द्रिय अ० ९ )

* महाशन क्षीयमाण मतिसार निपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत्॥

( सुश्रुत उत्तर अ० ४१-२६ )

— तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम्।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥

( चरक चि० अ० ८-४१ )

## क्षय में दोषों का सम्बन्ध-

यह क्षय रोग त्रिदोषज है और बढ़े हुये प्रत्येक दोष के चिन्ह भी इस रोग में मिलते हैं। यथा—

(अ) एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मकोद्यतः।
उद्रेकात्तत्रलिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि ॥
(सुश्रुत उत्तर अ० ४१-५)

(आ) सर्वस्त्रिदोषजोयक्ष्मा...दोषाणांतुबलाबलम् ।
(चरक चि० अ० ८-६३)

आयुर्वेद में क्षय के जो चार कारण माने गये हैं उनमें से साहस, वेग धारण तथा शुक्र क्षय एवं रस (ओज) क्षय से उत्पन्न होने वाले यक्ष्मा में प्रधानतया प्रथम वायु कुपित होता है। फिर वह कफ तथा पित्त को कुपित कर शरीर में ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् घूम कर क्षय के ग्यारह छः अथवा तीन चिह्न प्रकट करता है, परन्तु विषमाशन से उत्पन्न हुये यक्ष्मा में तीनों दोष एक साथ कुपित होकर क्षय रोग के चिन्ह उत्पन्न करते हैं। पूर्ण बल क्षय रोग में ग्यारह, मध्यम बल में छः तथा अल्प बल में तीन चिन्ह उत्पन्न होते हैं। यथा क्षय के ११ चिन्ह—

कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्व शिरोरुजा।
छर्दनं रक्त कफयोः श्वासो वर्चोऽगदोऽरुचिः ॥
रूपाण्येकादशैतानि ............ ........ ..

६ चिन्ह—

...... .... ...... यक्ष्मिणः षड्मिमानि तु।
कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोऽगदोऽरुचिः ॥

३ चिन्ह—

अंसः पार्श्वाभि तापश्च संतापः करपादयोः।
चरक चि० अ० ८

यदि रोगी का बल तथा मांस क्षीण न हुआ हो तो उपर्युक्त ११ चिन्हों वाला पूर्ण बल राजयक्ष्मा भी साध्य होता है और इसके विपरीत बल, मांस क्षीण होने पर ३ चिन्हों वाला अल्प बल राजयक्ष्मा का रोगी भी असाध्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्षय रोग स्वयं प्रकृति से असाध्य नहीं है किन्तु बल तथा मांस क्षीण होने पर उस में असाध्यता आ जाती है। तभी वह वर्जनीय माना जाता है अन्यथा वह साध्य (कष्ट साध्य) ही होता है। जैसा कि मुनिवर चरक के निम्न लिखित श्लोक से विदित होता है।

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांस बल क्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥
( चरक चि० अ० ८-४७ )

## क्षय रोग की असाध्यता का प्रचार·

हम उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध कर चुके हैं कि क्षय रोग असाध्य नहीं है परन्तु आजकल यह असाध्य समझा जाता है। इस परस्पर विरोधमयी स्थिति का क्या कारण है ? हमारे मत में आजकल क्षय रोग की असाध्यता के प्रचार के निम्न लिखित कारण है—

१-प्रायः क्षय रोगी साध्यावस्था में विशेष ध्यान नहीं देते, किसी साधारण वैद्य से उपेक्षा पूर्वक चिकित्सा कराते हैं अथवा जीर्ण ज्वर कास आदि लक्षणों की चिकित्सा किसी से सुनकर स्वयं अपनी चिकित्सा करते रहते हैं। वे असाध्यावस्था (बल, मांस, क्षीण) होने पर ही योग्य चिकित्सकों के पास आते हैं, उस समय योग्य वैद्य की चिकित्सा से भी उसको लाभ नहीं हो पाता है और ऐसे क्षय ग्रस्त प्रायः सभी व्यक्ति काल के ग्रास बन जाते हैं। इस के फल स्वरूप जनता तथा वैद्यों को भी यह क्षय रोग असाध्य प्रतीत होने लगता है।

२-अधिकतर शुक्र क्षयज तथा जीर्ण ज्वर ग्रस्त पुरुष और सूतिका ज्वर ग्रस्त स्त्री होगा स्त्रियां ही क्षय का शिकार बनती हैं जो कि प्रायः बल तथा मांस क्षीण होने से असाध्य ही होती है।

३-आजकल दुग्ध आदि पौष्टिक भोजन का अभाव, कोटोजम आदि घासलेटी घृत का प्रचार, दरिद्रता तथा मानसिक चिन्ताओं से शारीरिक एवं मानसिक बल की क्षीणता भी क्षय के प्रसार और असाध्यता के प्रचार का कारण है।

४-पाश्चात्य चिकित्सकों के पास कोई उत्तम यक्ष्मा नाशक औषधि न होने से उनके द्वारा की गई यक्ष्मा की असाध्यता की घोषणा भी इसको असाध्य बनाती है।

५-क्षय नाशक हिमालय की पूर्ण वीर्य शालिनी नवीन औषधियों की अप्राप्ति तथा उनके स्थान में पंसारियों के यहां की सड़ी गली पुरानी तथा अल्प-वीर्य वाली औषधियों का प्रचार भी क्षय रोग को असाध्य बना रहा है।

६-आयुर्वेदीय रसायन तन्त्र के प्रचार का अभाव भी क्षय की असाध्यता के प्रचार का कारण है।

७-स्वर्ण, मुक्ता घटित पारद के प्रयोगों का ठीक २ न बनना और बने हुओं का क्षय की प्रथमावस्था में न देना, तथा चिरकाल तक प्रयोग न करना भी क्षय की असाध्यता के प्रचार का एक कारण है।

## क्षय की चिकित्सा–

आयुर्वेद शास्त्र के मत में क्षय एक चिकित्सा साध्य रोग है। इसकी चिकित्सा आभ्यन्तरिक और बाह्य भेद से दो प्रकार की होती है जिसका कि मुख्य उद्देश्य स्रोत संशोधन होता है।

### १–आभ्यन्तरिक चिकित्सा—

स्रोतः संशोधक पुराने आसव, अरिष्ट मद्य तथा औषधि संस्कृत घृतों का क्षय रोग में प्रयोग करते हैं। पुराने मद्य आदि औषधियां उष्ण, विशद तथा सूक्ष्म गुण युक्त होने के कारण स्रोतों को खोल देती है जिससे कि फिर भली भांति धातु पोषण होने लगता है और क्षय रोग शांत होने लगता है। उनके आभ्यन्तरिक प्रयोग के साथ आगे लिखा हुआ औषधों का बाह्य प्रयोग भी करते रहना चाहिये तभी क्षय रोग नष्ट होता है। यथा—

(१) स्फुट स्रोतस्करं जीर्णं लघु ...... ..मद्यम्।
[ सुश्रुत सूत्र अ० ४५--५ ]

वारुणीमण्ड नित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभते बलम्॥
प्रसन्नां वारुणीं सीधु मरिष्टानासवान् मधु।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयेत्॥
मद्यं तैक्ष्ण्योष्ण्यवैशद्य सूक्ष्मत्वात् स्रोतसांमुखम्।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्तधातवः।
पुष्यन्ति धातुपोषाश्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति॥
चरक चि० अ० ८-१६४-१६७।

प्रयोगों में पिप्पल्याद्यरिष्ट, खर्जूरासव, द्राक्षारिष्ट, वदमूलारिष्ट तथा पिप्पल्यादिघृत आदि उत्तम हैं। रस शास्त्र के प्रयोगों में कुमुदेश्वर, कांचनाभ्र रस, यक्ष्मारि लौह, शिवागुटिका, बसन्त मालती, राजमृगाङ्क रस, महा मृगाङ्क आदि स्वर्ण मुक्ता घटित अनेकों प्रयोग प्रसिद्ध हैं। बहिर्धूम पाक विधि से पंच गुण गंधक जारित पारद तथा

अन्तर्धूम पाक विधि से द्विगुण गन्धक जारित पारद विशेष रूप से क्षय नाशक मानागया है। यथा—

गन्धे पञ्च गुणे जीर्णे क्षय क्षयकरोरसः।
[ आयु० प्रकाश अ० १-१२० ]

समे गन्धे तु रोगघ्नो द्विगुणे राजयक्ष्मजित्।
[ आयु० प्रकाश अ० १-१२१ ]

लाक्षणिक चिकित्सा के अनुसार बांसावलेह, च्यवनप्राश, अमतप्राश, सितोपलादि चूर्ण आदि का प्रयोग भी क्षय में लाभप्रद है। डाक्टर लोग सोडियम मारुएट, टयूबर कुलीन, साइनो क्राइसीन तथा क्राइसालगान का इंजैक्शन लगाते हैं, किन्तु यह आयुर्वेदिक स्वर्ण के योगों से कम लाभदायक हैं

## २--बाह्य चिकित्सा—

चन्दनादि तैल आदि का अभ्यङ्ग ( मालिश ) उद्वर्तन, दूध तथा जल आदि से भरे हुए वर्तन आदि में स्नान कराना क्षय रोग में लाभदायक है, क्योंकि यह सब क्रियायें स्रोतः संशोधक, तथा रक्त गति वर्धक हैं। यथा—

बहिः स्पर्शन माश्रित्य प्रवक्ष्यामिपरं विधिम्।
क्षीरस्नेहाम्बुकोष्ठे तं स्वभ्यक्तमावगाहयेत्॥
स्रोतो विबन्धमोक्षाय बलपुष्ट्यर्थ मेव च।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः।
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखञ्चोत्सादयेन्नरम्॥
[ चरक चि० अ० ८-१७३-१७५ ]

बाह्य चिकित्सा में चन्दनादि तैलं, लाक्षादि-तैल, अश्वगन्धादि तैल चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता का अश्वगन्धादि उद्वर्तन प्रयोग हितकारी है।

२—चिकित्सक का द्वितीय उद्देश्य क्षय के रोगी का बल मांस रक्षण है, क्योंकि बल तथा मांस का क्षय होने पर ही क्षय रोग में असाध्यता आजाती है।

क्षय रोगी के बल तथा मांस रक्षण का उपाय—

चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह क्षय ग्रस्त रोगी के लिये प्रारम्भ से ही बलदायक तथा मांस धातु पोषक अहार विहार तथा औषधि की व्यावस्था करे।

बल मांस वर्धक आहार प्राणियों के बल आदि का मूल कारण होता है। अतः क्षयी के आहर पर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

यथा—

(१) प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसांच।
(सुश्रुत सूत्र अ० १-२६)

(२)बलायुषी ह्याहारनिमित्ते।
( चरक चि० अ० ८-२० )

मधुर आदि छः रस युक्त भोजन, एक वर्षपुराना, पचने में लघु, वीर्यवर्धक गेहूं आदि अन्न, बकरी का दूध आदि बल मांस वर्द्धक हैं। यथा—

(१) सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम् (श्रेष्ठतमः)
( चरक सूत्र अ० २५)

(२) गव्य तुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम्।
( सुश्रुत सूत्र अ० ४५-५ क्षीर वर्ग )

(३) समातीतानिधान्यानिकल्पनीयानि शुष्यताम्।
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च॥
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि।
यदिमणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये॥
( चरक चि० अ० ८-१८१-१८३ )

मांस खाने वाले पुरुष मांस भक्षक जानवरों का तथा बकरी का मांस खा सकते हैं। विहारक्षय के

रोगी के लिये मैथुन निषिद्ध है, तथा स्वच्छ पर्वतीय प्रदेश की देवदारु तथा चीड़ के जङ्गल की वायु हितकर है।

## बल मांस वर्द्धक औषधि—

आयुर्वेद में रसायन औषधियां ही बल मांस वर्द्धक मानी गई हैं। क्योंकि इनका मुख्य कार्य नवीन रस, रक्तादि धातुओं का निर्माण, धातु पोषण, दीर्घायु प्रदान करना, स्मरणशक्ति, प्रभा, वर्ण, स्वर, आरोग्य वृद्धि, देह तथा इन्द्रियों को बल देने का बताया गया है। यथा—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम ॥

वाक्सिद्धिंप्रणतिंकान्तिंलभतेनारसायनात।
लाभोपायोहिशस्तानांरसादीनांरसायनम् ॥
( चरक चि० अ० १-७-८ )

रसायन औषधियों में नागबला, मण्डूकपर्णी, ब्राह्मी, मुलहठी, असगन्ध, गोखरू, लहसुन, पिप्पली तथा शिलाजीत आदि उत्तम मानी जाती हैं। इन रसायनों का वर्णन काश्यप, सुश्रुत, चरक, वाग्भट, भीमट आदि सब आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है। यथा—

१—मासात्सोपद्रवं शोषं हन्ति नागबला नृणाम्।
(काश्यप संहिता)

२—घृतकुसुमरसलीढं यं क्षयं नयति गजबलामूलम्।
(हरमेखला, संस्कृतानुवाद)

३—मण्डूकपर्ण्याःशुण्ठ्याश्चा ब्राह्म्याश्च मधुकस्य च।
चत्वारः सर्वरोगघ्नो विधिर्नागबला सम.॥
( काश्यप संहिता )

४—रसोनयोगं विधिवत्क्षयार्त्तः क्षीरेण वा नागबला प्रयोगम्।
सेवेत वा मागधिकाविधानं यथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य ॥
( सुश्रुत उत्तर अ० ४१-५५ )

५—शिलाजतुस्यात्क्षयिपु प्रशस्तम्।
( चिकित्सा कलिका )

६—पाण्डौविद्रमथ क्षये गिरिजतु।
( योगरत्नाकर )

उपर्युक्त रसायन औषधियों का सेवन चरक तथा सुश्रुत संहिता में वर्णित नियमों के अनुसार करने पर अवश्य लाभ होता है। रसायन सेवन करने के नियमों का पालन करना क्षय रोगी तथा स्वस्थ पुरुषों को आवश्यक है। मनमाने रूप में साधारण औषधियों की भांति खाई गईं रसायन औषधियां पूर्ण लाभ नहीं पहुंचाती हैं।

## उपसंहार—

ऊपर के विवेचन से पाठक निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि क्षयरोग औषधि साध्य है। यदि रोगी के बल तथा मांस की वृद्धि कराते हुये स्रोतः संशोधक औषधियों का आभ्यान्तर तथा बाह्य प्रयोग शास्त्रीय पद्धति से नियम पूर्वक कराया जाय तो क्षय रोग अवश्य नष्ट होजाता है।

---

# क्या ट्युबरकुलोसिस ही राजयक्ष्मा है ?

लेखक-श्री पं० मदनमोहन जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, साहित्य शास्त्री, श्री० ला० माधोमल धर्मार्थ औषधालय, अमृतसर।

कई आयुर्वेदोन्नति चाहने वाले अग्रगामी वैद्य महानुभावों एवं एलोपैथी तथा आयुर्वेद के समन्वय प्रिय अंग्रेजी तथा हिन्दी के विद्वान डाक्टर महोदयों के अनेकों लेख पढ़े हैं। सब में उन्होंने T.B का आयुर्वेदीय रोगों में यदि किसी में समावेश किया है तो वह एक मात्र राजयक्ष्मा ( शोष ) ही है। मैं उनकी इस नाम करण विधि से कभी भी प्रभावित नहीं हुआ। मेरी अन्तरात्मा सदैव उनके इस युक्ति जाल के विरुद्ध विद्रोह करती थी। किन्तु साधन समाधान की न्यूनता होने के हेतु इससे पूर्व कुछ लिखना उचित न प्राप्त होता था। न लिखने को एक कारण यह भी था कि टी० बी० का वास्तविक परिचायक समस्त आयुर्वेद निधि में कोई रोग नहीं कहने की अपेक्षा यदि तद् परिचायक क्षय रोग ही प्रसिद्ध रहे तो कोई विशेष क्षति नहीं समझता था। क्योंकि आयुर्वेद तथा एलोपैथी के कई सुलझे मस्तिष्कों ने इस व्याख्या को सहन कर लिया था। शनैः २ इसी धुन से शास्त्र पर्यवलोकन ने मुझे अब स्वर्णावसर प्रदान किया है, जब मैं अपने आत्मिक विद्रोह को वैद्य समुदाय की स्वालोचना के लिये प्रस्तुत करता हूं। आशा है इससे T. B. और राजयक्ष्मा के लेखक एवं इस समन्वय कला से परितुष्ट व्यक्ति मुझे क्षमा कर दोनों के तात्विक भेद को समझ 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' नीत्यानुसार गुण ग्राहकता को केवल आग्रह से अधिक महत्व देने का कष्ट सहन करेंगे।

Tuberculosis का संक्षिप्त विवेचन—

यह रोग एलोपैथी परिभाषा के अनुसार Tuberculosis Bacillus नामक क्रमि से उत्पन्न होता है। इसका कार्य दुर्बल व्यक्ति के, अपने प्रभाव प्रसार के उपयोगी, किसी अशक्त स्थान पर ग्रन्थि ( Gland ) बनाता है। ततः उस ग्रन्थि का धीरे२ पाक होता है उसमें से पूय निकलती है तथा वही पस (पूय) अन्य स्थानों में उन क्रमियों को ले जाकर संक्रामक प्रसार का कारण बनती है। यह क्रिमि रोग के दौर्बल्यानुसार शीघ्र परिवृद्ध होते हैं। जिस स्थान पर वह ग्रन्थि होती है वहां शनः शनैः अनेकों ग्रन्थियां बन जाती हैं। एवं पुनः वहां भी वही पाकादि क्रिया धीरे २ प्रारम्भ हो जाती है। T. B. अब तक जिन स्थानों पर पाया गया वे यह हैं।

Lungs ( फुफ्फुस ) Head (शिर) Spine ( रीढ़ की हड्डी ) Intestines ( अन्त्र ) Joints ( जोड़ ) और कभी २ Cold Apsis से भी Tuberculosis हो जाता है।

सभी स्थानों पर इस क्रिमि ने प्रथम ग्रन्थि बनाई है। दूसरे शब्दों में संक्षेपतः यह क्रिमि जन्य ग्रन्थि रोग है। इसमें लक्षण, स्वरूप, दौर्बल्य, ज्वर, कास, रक्त मिश्रित पूय निस्सरण शूलादि होते हैं। स्थान भेदानुसार अन्य लक्षण भी होते हैं। इस रोग की व्याख्या अपने २ ढङ्ग से कई विद्वान कर चुके हैं। अतः मैं इसके विषय में व्यर्थ समय नष्ट न कर अभिप्रेतार्थ रोग समन्वय करना ही अपना कर्तव्य समझता हूं। यक्ष्मा ( राजयक्ष्मा) के कार-

णादि जानने के लिये हमें आयुर्वेद शास्त्र को ही सर्वोच्च अधिकारी मानना पड़ेगा, जैसे कि T B. के लिये एलोपैथी को।

यक्ष्मा में प्रथम ग्रन्थि उत्पन्न हो पीछे रोग प्रसार हो यह कहीं नहीं है। वह तो—

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥

से उत्पन्न होता है।

महर्षि चरकानुसार इसकी सम्प्राप्ति इस प्रकार है।

इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि। तद्यथा-साहसं, संधारणं, क्षयो, विषमाशनमिति।

तत्र यदुक्तं साहसं तद्यथा—यदा पुरुषो दुर्बलोहि सन बलवता सह विगृह्णाति, अति महता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्र, अतिमात्र वा भार मुद्वहति, अप्सु वा प्लवते इत्यादि विषमं कर्मारभते तस्याति मात्रेण कर्मणाउरः क्षीयते। तस्य उरःक्षतमुपप्लवते वायुः स तत्रावस्थितः श्लेष्माण मुरःस्थमुप नसृत्य शोषयन् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक च। योऽशास्तस्य शरीर संधीनाविशति तेनास्य जृम्भाङ्ग मर्दोज्वरश्चोपजायते। यस्त्वामाशय मुपैति तेन रोगा भवन्त्युरस्या अरोचकश्च, य. प्राण वहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्चोपजायते। यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते। तत क्षणनाच्चैवोरसो विषम गतित्वाच्च वायो कंठस्योद्ध्वंसनात्कासः सततमस्य जायते। स कास प्रसङ्गादुरसिक्षते शोणितंष्ठीवति। शोणितागमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते। एवमेतेसाहस प्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति। ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवै रुपद्र तः शनैः शनैः रुप शुष्यति। संधारणक्षयापत्तनमिति यदा पुरुषो राज सीमीपे इत्यादि।

इसी भांति शुक्र क्षयज एवं विषमाशनज से भी राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। विस्तार भय से वह पाठ उद्धृत नहीं किया। कृपया च० नि० स्था० अ० ६ देखें। अग्निवेश महात्मा निर्मित चरक के इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि चारों कारणोंद्भूत किसी भी क्षय (शोष) में पहिले ग्रन्थि नहीं बनती। हां साहसज एवं विषमाशनज यक्ष्मा में मुंह से रक्त निस्सरण अवश्य होता है। किन्तु अवशिष्ट क्षयज एवं वेगसंधारणज में मुंह से रक्त नहीं आता। क्षयज में शुक्र की समाप्ति पर मेढ्र द्वार से निकलता है।

अब देखना यह है कि क्या जैसा कि टी० बी० को राजयक्ष्मा बताने वाले विद्वानों ने समझा है वह रक्त ग्रन्थि का पाक होकर पूय मिश्रित निकला है या अन्य किसी भांति ग्रन्थि बनकर पाक होना तथा शिरा फटकर (Burst) रक्त निकलना दो भिन्न २ बातें हैं।

साहसोत्पन्न में तो स्पष्ट ही रक्त छवि Burst का चिन्ह है। उसी भांति विषमाशनज में भी काम के वेग से शिरा फटना स्पष्ट लिखा है। ठीक उसी भांति क्षयज में रक्त ग्रन्थिज नहीं अपितु शुक्र की समाप्ति पर रक्त निकलता है। अतः यह स्पष्ट है कि यक्ष्मा में ग्रन्थि बनकर पाकादि क्रिया का सर्वथा अभाव है। इसके कारण एवं सम्प्राप्ति टी० बी० से नितान्त भिन्न है। हां लक्षण कुछ २ अवश्य मिलते हैं किन्तु लक्षण साम्य केवल फुफ्फुसीय (T B of Lungs) में ही मिलता है।

साथ ही यह साम्य किसी अन्य रोग से टी० बी० वाचक रोग से जैसा कि आगे बताया जायगा उपद्रव भूत क्षय में भी हो सकता है। मेरा विचार है कि Intestine T. B. तथा T. B. of Head, T. B. of Spine & T B. of Joints में कास स्वर भेदादि कदापि नहीं होते हां T.B. of Lung में कासादि अवश्य होते हैं। किन्तु राजयक्ष्मा चाहे किसी कारण से उत्पन्न हो। कासादि ११ लक्षण या ७लक्षण या कमसे कम तीन अवश्य पाये जावेंगे। यथा—

> कास पार्श्वाभितापश्च संतापःकर पादयोः।
> ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥

आन्त्रगत टी० बी० में ज्वर के अतिरिक्त अवशिष्ट २ अंश पार्श्वाभितापादि कदापि नहीं पाये जायेंगे।

इतना ही नहीं अपितु कई इस भांति के भी रोगी देखे गये हैं जो अतिसार आदि के पीछे या मार्ग चलने आदि अधिक श्रम करने से सूखते ही चले जाते हैं। जबकि Lungs आदि टी० बी० के स्थान बिल्कुल प्रभावित नहीं होते। अर्थात् वहां कोई ग्रन्थि विकार नहीं होता। साथ ही नहीं कोई Organicdefect होता है। हमारे अनुसार वे क्षयज या संधारणज और कभी २ विषमाशनज शोष के रोगी होते हैं, टी० बी० के नहीं। ऐसे रोगियों को देखकर डाक्टर महोदय कई भांति के Chemical Examination ( Blood test ) आदि के पीछे रोग समझ में नहीं आया कह देते हैं किन्तु वहां यदि एलोपैथी प्रभाव से रिक्त मस्तिष्क वैद्य चिकित्सा करता है तो निःसन्देह सफल होता है।

## वस्तुतः यह क्या है ?

आयुर्वेद शास्त्रानुसार सिद्धान्त रूप में रोगों का मूल त्रिदोष ( वात पित्त और कफ ) दूषित हैं कृमि नहीं। ये कृमियों का जनक भी त्रिदोष ही को मानते हैं। यह कोरा बकवास या केवल निराधार कल्पना ही नहीं अपितु कुछ सीमा तक इनकी दूरदर्शिता का द्योतक है। मैं तो यहां तक कह देने को समुद्यत हूं कि आयुर्वेदज्ञ तत्वतः एलोपैथी वालों से एक कदम आगे रोग कारणों को जानने में गम्भीर थे। अतः मैं यही लिखना उचित समझता हूं कि आयुर्वेदीय दोष सिद्धान्तानुगामी नीति के अनुसार यह विसर्प ग्रन्थि रोग है। निःसन्देह यह रोग भी देर से शोष में परिणित होजाता है। किन्तु इस रोग का वास्तविक नाम "विसर्पग्रन्थि' ही रहेगा। तज्जन्य क्षय इसका उपद्रव होता है। यह सब विसर्प ग्रन्थि रोग है ये चरकीय विवेचन से स्पष्ट समझ में आ सकता है।

## विसर्प ग्रन्थि—

महात्मा अग्निवेश के पूंछने पर मुनीश्वर आत्रेय जी कहते हैं।

> त्रिविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन सस्मृतः।
> परिसर्पोऽथ वानाम्नासर्वतःपरिसर्पणात॥

इस श्लोक से विसर्प रोग की भयङ्करता और संक्रामकता का निदर्शन हो जाता है।

## ग्रन्थि विसर्प—

"ग्रन्थ्याख्यः कफ वातजः" बताया है।

स्थिर गुरु कठिन मधुर शीत स्निग्धान्न पानाभिष्यन्दि सेविनामव्ययामादि सेविनामप्रति कर्म शीलानांश्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते। तावुभौ-

दुष्ट प्रवृद्धो भतिबली प्रदूष्य दूष्यं विसर्पाय कल्पते । तत्र वायुः श्लेष्मणा निरुद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमाला कृच्छ्र पाक साध्या कफाशये संजनयति । उत्सन्न रक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं शिरास्नायु मांसत्वगाश्रितं ग्रन्थि विसर्पं कुरुते। तीव्र-रुजा ग्रन्थीनां स्थूलानामणूना दीर्घवृत्तरक्तानां । तदुपतापाज्ज्वरातीसार कास हिक्का श्वास शोष प्रमेह वैवर्ण्यारोचकाविपाकच्छर्दि मूर्च्छाङ्गभङ्ग निद्राग्लानि संमदनाद्याः प्रादुर्भवन्ति । उपद्रवास्तैरुपद्रुतः सर्व कर्मणां विषयमति पतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थि विसर्पः ।

कफाशय चरकानुसार उरः ही माना गया है यथा—

उरः पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्म स्थानम्।

चरक सू० अ० २० ।

चक्रपाणि जी ने उरः आदि को ही विसर्प ग्रन्थि मानी है। अतः उर में होने वाली यह विसर्प ग्रन्थि ही एलोपैथी में T B कहलाती है। गले में मन्याश्रित यह कण्ठमालादि है और फुफ्फुस में जब यह ग्रन्थि होता है तब T. B & Lungs बन जाती है। मेरी सम्मति में जब यह विसर्प को उत्पन्न करने वाला विष रसग्रन्थि में पहुंचता है तब वह फुफ्फुस में पहुंचता है। तब फुफ्फुसीय T. B. का प्रादुर्भाव होता है। विसर्पग्रन्थि बाल अंगों में बनती है, यह चरक से स्पष्ट है। प्रथम लिखा है कि T. B. कहीं भी हो उसका जनक Tuberculer Bacillus कृमि ही होता है, उसी भांति आयुर्वेदीय रोगमार्गी पद्धति के अनुसार वह ग्रन्थि कहीं भी हो उसका प्रादुर्भावक वातश्लेष्मा दोष ही होते है। Intestines, Spine, Joints and Head आदि में भी यह शिरा गत विसर्प ग्रन्थि है, जैसा कि चरक में लिखा है—

उत्सन्न रक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं शिरा स्नायु मांस त्वगाश्रित ग्रन्थि विसर्पं कुरुते ।

वैसे तो शिरायें सर्वत्र हैं किन्तु नाभि तो विशेष तया उनका स्थान है क्योंकि नाभि शिराओं का मूल है । यथा—

यावत्यस्तु शिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिताः।
शिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥

सु० शा० अ० ७ ।

अतः यह विसर्प ग्रन्थि ही शिरागत होती है। विसर्प की संक्रमणता इसके नाम से ही प्रतीत हो जाती है। Tuberculosis भी अपनी संक्रामकता के लिये सुप्रसिद्ध है। जब संक्रामकता के दृष्टिकोण से हम दोनों का सन्तुलन करते है तब भी निःसन्देह दोनों की भयङ्करता समान ही पाते हैं।

कण्ठमाला एलोपैथी के अनुसार Tuberculer Bacillus कृमि से उत्पन्न होती है और शेष स्थानों का T B उसी से। तब यह भी सर्वथा सत्य है कि वह कंठमाला विसर्प ग्रन्थि ही है। जैसा कि ऊपर बताया है। वैज्ञानिक परीक्षण से उस कण्ठ-माला का और अन्य स्थानों की विसर्प ग्रन्थि में भी वही कीटाणु पाया जायेगा, जो एक स्थान में पाया जाता है। इस युक्ति से भी यह विसर्प ग्रन्थि ही टी० बी० सिद्ध होती है। कई महानुभाव कहते कि यदि चिकित्सा विचारकोण से राजयक्ष्मा शोष या क्षय को टी० बी० या Phthisis मान ही

लें तो हानि क्या है ? इसका छोटा सा यह उत्तर है कि आयुर्वेद ने रोगो मे जहां तनिक सा भी भेद देखा है वहां तुरन्त स्पष्टता की नीति को अपना, द्वितीय नाम रख दिया है। वात रोगों की चिकित्सा तो प्रायः एक ही है किन्तु नाम भेद से वह ८० प्रकार का है। कारण भी प्रायः सर्वत्र दूषित वात ही होता है किन्तु स्थान भेद से यह ८० प्रकार का होता है। यहां तो कारण सम्प्राप्ति एवं रूप सभी कुछ भिन्न२ हैं। साथ ही चिकित्सा में भी महान भेद है।

जैसे-एलोपैथी में टी०बी० के लिये आज तक की खोज या आविष्कार भूत सर्वोत्तम औषधि यदि कोई है तो वह एक मात्र Calcium है। वह अनेकों वस्तुओं से तैयार होता है किन्तु जिस वस्तु में Calcium जितना ही भाग कम है वह T. B. के लिये उतना ही व्यर्थ का एवं हेय है। किन्तु शोष में ऐसा नहीं है क्षय के लिये तो सर्वोत्तम औषधि स्वर्ण भस्म है। इसीलिये क्षय की महौषधियों में मुक्तादि के साथ यदि सब से अधिक महत्व किसी को दिया गया है तो वह स्वर्ण है। खटिक पदार्थ की बाहुल्यता को क्षय की चिकित्सा में आयुर्वेद में कहीं भी आप विशेष महत्व नहीं पायेंगे। आयुर्वेद में क्षय में लौह भस्म, अभ्रक भस्म आदि भी मुक्ता भस्म के बराबर महत्व रखती हैं। विसर्प ग्रंथि रोग में मुक्तादि खटिक बाहुल्य पदार्थ परमोपयोगी सिद्ध होते हैं। यह मेरा अपना निजी अनुभव भी है। अतः चिकित्साकोण से भी क्षय एवं टी० बी० भिन्न २ ही सिद्ध होते हैं। विसर्प ग्रंथि के लिये तो मुक्ता, प्रवाल, शङ्ख-शुक्ति, शङ्ख वराटिका आदि का रोग तथा रोगी बल, ऋतु, देश एवं प्रकृति के अनुसार आनुपातिक मिश्रण ही सर्वोपयोगी सिद्ध होता है। एलोपैथी मे भी Calcium को ही इस रोग का एक मात्र निवारक माना गया है। अतः अन्त में मैं यह स्पष्ट कर देता हूं कि वस्तुतः T. B विसर्प ग्रंथि है। तात्विक यक्ष्मा का परिचायक समस्त एलोपैथी में कोई रोग नहीं है। सम्भव है कुछ दिन पीछे ये यक्ष्मा की खोज करने में समर्थ हो जांय।

---

# क्षय रोग की चिकित्सा

लेखक-श्री० डा० बी० एम० भाटा एच० बी० पी० एम० एम० वैद्यवाचस्पति, हालरोड, लाहौर।

क्षय रोग में सब इन्द्रियों की क्रिया शक्ति का क्षय हो जाता है इसीलिये इसका नाम क्षय' है। इसको 'शोष' भी कहते हैं। क्योंकि इस रोग में रस रक्तादि सब धातुओं का शोषण होता है।

## निदान—

शास्त्र में क्षय रोग के चार प्रधान कारण इस प्रकार आये हैं—

१—साहस करना—अपनी ताकत से अधिक कार्य करना।

२—वेग संधारण करना—अपान वायु, मल, मूत्र आदि के वेग को रोकना तथा सूर्य की किरणों और शुद्ध वायु आदि को रोकना।

३—ओज का क्षय—शोक, चिन्ता, भय, क्रोध आदि से तथा अत्यन्त स्त्री समागम से वीर्य तथा ओज का क्षय हो जाना अथवा मधुमेह, वृक्क प्रदाह मोतीझरा, कुकुर खांसी आदि रोगों से धातुओं का क्षय हो जाना।

४—विषमाशन—अधिक या थोड़ा खाना, भोजन के समय से पहिले खाना या भोजन का समय टल जाने पर खाना, विरुद्ध भोजन खाना, अथवा नि सत्व भोजन खाना।

यदि उपरोक्त कारणों पर विचार पूर्वक ध्यान दिया जाय तो प्राचीन महर्षियों की अलौकिक बुद्धि का सहज अनुमान किया जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन कारणों को सराहा है और कहा है—

"Any conditions leading to over work, or to under feeding increase the liability of Tuberculosis"

अर्थात् अपनी ताकत से अधिक कार्य करना अथवा कम खाना आदि से क्षय रोग होने की अधिक सम्भावना है।

उन्होंने क्षय कीटाणुओं ( Tubercle bacillus ) को रोग के कारण के लिये इतना विशेषता नहीं दी जितनी रोग विनिश्चय के लिये दी है और कहा है—

There is no increased incidence in Hospital or Sanatoria for consumptives'

अर्थात् क्षय रोग के हस्पतालों अथवा सेनेटोरियम ( स्वास्थ्य गृह ) के सेवकों को क्षय रोग होने की अधिक सम्भावना नहीं देखी गई। यदि केवल क्षय कीटाणु ही रोग का कारण होते तो क्षय रोगियों की सेवा करने वालों को भी क्षय रोग अवश्य होना चाहिये था। परन्तु क्षय रोग के ठीक ठीक कारण तो उपरोक्त चार ही हैं और इन्हीं कारणों से ही शारीरिक रोग निरोधक शक्ति और जीवनीय शक्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार से क्षमता शक्ति का ह्रास हो जाने पर क्षय कीटाणुओं की

उत्पत्ति निवास और वृद्धि के लिये उपयुक्त क्षेत्र तैयार हो सकता है और यदि इन कारणों का अभाव हो तो क्षय कीटाणुओं की उत्पत्ति या वृद्धि कदापि नहीं हो सकेगी।

आजकल निर्धनता, पराधीनता, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, प्रसव का प्रबन्ध, शरीर पोषक, भोजन में न्यूनता, शहरों की संकीर्ण गन्दी गलियों के प्रकाश और शुद्ध वायु से रहित मकानों में निवास, मानसिक चिन्ता की अधिकता तथा अज्ञानता आदि भी क्षय रोग की अति वृद्धि में सहायक अवश्य हैं।

## सम्प्राप्ति—

शास्त्र में क्षय रोग की सम्प्राप्ति लिखते हुए यह शब्द आये हैं—

"कफ प्रधानै र्दोषैस्तु रुद्धेपु रस वर्त्मसु' इत्यादि 'कफ प्रधानै र्दोषैस्तु' के अनुसार वात, पित्त, कफ तीनों दोषों के होते हुए भी कफ दोष की प्रधानता है और आज हम स्पष्टतया देख भी रहे हैं कि क्षय रोग कफ स्थानों में ही प्रधानतया होता है। शास्त्र में कफ का स्थान उर (वक्षस्थल), रसधातु (ग्रंथियें), आमाशय, मेद, कण्ठ, क्लोम, संधि स्थान, नाक, जिह्वा, मस्तक आदि कहे हैं और पाश्चात्य विद्वानों ने भी Tuberculosis of the Lungs ( फुफ्फुस का क्षय ), of Lymphatic glands ( रसधातु अथवा ग्रंथियों का क्षय ), of Intestine ( आंत्र का क्षय ), of Larynx ( कंठ का क्षय ), of Pharynx ( क्लोम का क्षय ), of Joints ( संधि स्थान का क्षय ), of Nose ( नाक का क्षय ), of Tongue ( जिह्वा का क्षय ), of Meninges ( मस्तिष्कावरण का क्षय ) आदि ही बताये हैं।

पुनः 'रुद्धेपु रस वर्त्मसु' इत्यादि, अर्थात् कफ प्रधान तीनों दोषों से रस के बहने वाली नाड़ियों के मार्ग रुक जाते हैं जिससे मनुष्य क्षीण हो जाता है। इसको पाश्चात्य ग्रन्थकार ने इस प्रकार लिखा है—

"That the infection spread by lymphatics ( रस के बहने वाली नाड़ियों द्वारा ) to the nearest group of lymph glands and thence to other parts of the lymphatic system through which it gradually becomes generalised."

अर्थात् कफ प्रधान तीनों दोष रस के बहने वाली नाड़ियों द्वारा समीप की रस धातुओं ( ग्रंथियों ) में पहुंचते हैं फिर वहां से रस के बहने वाली नाड़ियों द्वारा दूर की ग्रंथियों को जाते हैं। इस प्रकार सारे शरीर में पहुंचते हैं। जिससे मनुष्य अवश्य क्षीण हो जाता है

शरीर के लिये अविकृत कफ (दोष रहित कफ) की कितनी आवश्यकता है, शरीर की स्थिरता, स्निग्धता, आर्द्रता, संधि बंधन, मानसिक प्रसन्नता, शांति तथा सहन करने की शक्ति आदि सब अविकृत कफ के आधार पर है, इसलिये शारीरिक कफ के ( कफ स्थान के ) विशेष दूषित होने पर कफ के दूष्य मांस, मेद, मज्जा, शुक्र और मल मूत्रादि सब का नाश स्वाभाविक है जिसके फलस्वरूप रोगी का शरीर अस्थिपञ्जरवत् बन जाता है।

इस प्रकार के अति विकृत कफ स्थान के चित्र का यदि अपने मन में मनन किया जाय तो वह पाश्चात्य ग्रन्थ में आये हुए Caseation (केजिएशन) आदि से पूर्ण मिलेगा। इसी प्रकार अति विकृत

कफ स्थान के इस रूप की यदि अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाय तो असंख्य क्षय कीटाणुओं ( tubercle bacillus ) के दर्शन भी अवश्य हो सकेंगे।

इसी को पाश्चात्य विद्वानों ने अपने शब्दों में इस प्रकार से कहा है—

"उपरोक्त कफ स्थान के दूषित होनेसे वह छोटी ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेता है, इन ग्रन्थियोंके भीतर जीव केन्द्र युक्त एक या अधिक वृहत् कोष ( Cell ) होते हैं। इन कोषों में असंख्य क्षय कीटाणु निवास करते हैं। इनके बाहर लसिकाणु के सदृश कोषों की तह होती है और इसके आगे सौत्रिक तन्तुओं की तहें लगी रहती हैं। इन ग्रन्थियों का अपक्रान्ति होकर पनीर या मलाई के सदृश पदार्थ केसियस ( Caseous ) बन जाता है फिर राजयक्ष्मा रोगी के श्लेष्म के साथ आन्त्रिक क्षय वालों के मल और वस्ति क्षय पीड़ित के मूत्र के साथ कीटाणु और विष बाहिर निकलते रहते हैं"

## पूर्व रूप—

पाश्चात्य विद्वानों ने क्षयही रोग क्या, किसी भी रोग के पूर्वरूप का वर्णन नहीं किया है। इस आवश्यक विषय को महर्षियों ने बड़ी महत्ता दी है और प्रत्येक रोग के साथ पूर्व रूप का वर्णन किया गया है। क्षय रोग जैसे गुप्त रूप से उत्पन्न होने वाले रोगों के पूर्व रूप का जानना तो अत्यन्त ही आवश्यक है।

चतुर वैद्य को जिस समय भी यह अनुभव होगा कि रोगी को उत्तम भोजन लेने पर भी बल का क्षय होता रहता है। स्त्री, मद्य और मांस सेवन की अति इच्छा हो रही है, रोगी मस्तिष्क को वस्त्र आदि से ढकने का प्रयत्न करता रहता है, नख और केश की अति वृद्धि हो रही है, स्वप्न में तारा नक्षत्र आदि का पतन, पहाड़ों का गिरना और वन में आग लग जाना आदि के दर्शन रोगी बारम्बार कर रहा है अथवा प्रतिश्याय, श्लेष्म की वृद्धि आदि अन्य पूर्व रूप के लक्षणों में से कुछ लक्षण प्रारम्भ हो रहे हैं तो सावधानता की जा सकती है और तत्काल सम्यक् प्रकार से क्षय रोग की चिकित्सा कराने का प्रबन्ध किया जा सकता है और रोगी को भविष्य में आने वाली महान विपत्ति से बचाया जा सकता है।

## लक्षण—

महर्षियों ने चिकित्सा क्रम के आधार को सन्मुख रखते हुए प्रत्येक रोग के लक्षणों का वर्णन वात, पित्त तथा कफ आदि दोषों द्वारा स्थानानुसार उनके दुष्यों के विनाश से होने वाले उपद्रवों के अनुसार किया है और चिकित्सा लिखते समय भी यह स्पष्ट कर दिया है कि अमुक २ योग उनमें लिखे हुए भिन्न २ उपद्रवों से युक्त प्रधान रोग की चिकित्सार्थ हैं जिससे चतुर वैद्य को नए लक्षण सन्मुख आने पर भी चिकित्साक्रम समझने की कठिनता नहीं पड़ती। दूसरी बात और पाश्चात्य विद्वानों ने रोगों के लक्षण लिखते समय चिकित्सा क्रम का ध्यान नहीं रखा और केवल सम्प्राप्ति Pathology को ही विशेष महत्ता दी है और उसी के आधार पर भिन्न २ कई भेदों का वर्णन भी किया है। परन्तु इनको यदि विचार पूर्वक मनन किया जाय तो उन भेदों के लक्षण तथा चिकित्सा क्रम प्रायः एक ही प्रकार के दृष्टि गोचर होते हैं।
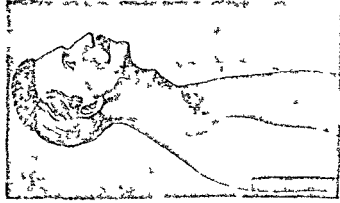
क्षय रोगी–शकल दुबली, सिर आगे की ओर झुका हुआ, आँखें तेज़ हीन, नाक भीतर से सूखी हुई, मुंह खुला चेहरा बहुत बैठा हुआ खाली रग रेखायें मौजूद गरदन बहुत ऊँची, कड़ी और गुटकें पड़ी हुई, सीना बैठा हुआ, शप ठीक

राजयक्ष्मा के—

कीटाणु

शास्त्र में क्षय रोगों में से विशेष रूप से राजयक्ष्मा ( फुफ्फुस क्षय ) का वर्णन किया गया है क्योंकि प्रधानतया वक्ष ही कफ का स्थान माना गया है, इसी कारण यहां ही क्षय रोग अधिकतर होता है और यही अधिकतम घातक भी है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी क्षय रोगों में से राजयक्ष्मा की प्रधानता को ही पुष्ट किया है।

शास्त्र में आये हुए महा घातक राजयक्ष्मा के लक्षण विशेष रूप से होने वाले पाश्चात्य ग्रन्थों में आये हुए Chronic broncho Pneumonic Phthisis ( क्रोनिक ब्रांको न्युमोनिक थाइसिज ) से अधिकतर मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—

कास, श्वास, ज्वर, रक्तष्ठीवन, पार्श्व पीड़ा, स्वरभेद, अतिसार, श्लेष्म की वमन, कन्धों का टूटना, अरुचि, रात्रि को पसीना आना, भार कम हो जाना इत्यादि।

शास्त्र मे आये हुए क्षत कास के लक्षण पाश्चात्य ग्रन्थ के Hoemorrhagic Phthisis (हेमोर्हेजिक् थाईसिज) से मिलते हैं, इसमे कास प्रबल होती है तथा रक्त और पूयमय श्लेष्मा बराबर बाहर निकलता रहता है।

शास्त्र मे आये अपची ( गल ग्रंथि क्षय ) के लक्षण पाश्चात्य ग्रन्थ क Scrofulous Phthisis ( स्क्रोफुलस थाइसिज ) से मिलते हैं। इसमें कण्ठमाला की उत्पत्ति होती है। पहिले तो ग्रंथियें बढ़ जाती हैं फिर उनमे पूय की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार उदर ग्रन्थि क्षय होने पर उदर मे अफरा, अपचन, उदर में गांठें प्रतीत होना और उदर में दर्द होना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं।

आंत्रिक क्षय—में आन्तों में व्रण, मल के साथ रक्त और पूय जाना ( पेचिश ) आदि होते हैं।

स्वर यन्त्र क्षय—होने पर स्वर बैठ जाता है।

मस्तिष्क और मस्तिष्कावरण के क्षय में—शिर में दाह, शिर दर्द, कण्ठ में वेदना, गर्दन को मोड़ने में वेदना, प्रलाप आदि उपस्थित होते हैं।

अस्थि क्षय में—अस्थियों के भीतर वेदना होना, वहां पर शोथ आजाना, जोड़ों का फूलना, फिर पूय की उत्पत्ति होना आदि लक्षण होते हैं।

इसी प्रकार अन्य स्थानों के क्षय में स्थानानुसार लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

उपरोक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि शास्त्रानुकूल तीनों दोषों युक्त कफ दोष की प्रधानता होने पर स्थानानुसार कफ स्थान के अति विकृत होजाने के कारण कफ के दुष्यों का विनाश हो जाता है। उससे रोगी के शरीर में क्या २ लक्षण होंगे, यदि उनको भली प्रकार विचार पूर्वक मनन किया जाय तो वे उपरोक्त सब लक्षणों से अवश्य मिलेंगे।

## रोग विनिर्णय—

१—ज्वर प्रातःकाल में कम फिर धीरे २ बढ़ना, रात्रि को प्रस्वेद आना ( प्रस्वेद से सब कपड़े भीग जाना ) तथा पूर्व रूप के लक्षण, स्वप्न मे अग्नि देखना आदि देखते ही क्षय रोग का ध्यान आ सकता है।

२—कफ स्थान के अति विकृत होजाने के कारण थूक मे, मल, मूत्र तथा व्रणादि के स्राव मे क्षय कीटाणु मिलने पर अथवा एक्सरे द्वारा परीक्षा करने पर क्षय रोग का पूर्ण निश्चय भी हो सकता है, परन्तु दुःख है कि प्रायः प्रारम्भिक छद्

स्था में इन परीक्षाओं से कुछ लाभ नहीं होता।

## चिकित्सा–

शास्त्र में जिस प्रकार लक्षणों को चिकित्सा क्रम के अनुसार लिखा है। चिकित्सा भी उसी प्रकार से लक्षणानुसार ही कही है, अतः कफ प्रधान तीनों दोषों द्वारा कफ स्थान के अति विकृत हो जाने से कफ के दुष्यों के विनाश के कारण जो लक्षण अथवा उपद्रव उपस्थित होंगे उनके अनुसार ही चिकित्सा हो सकेगा।

क्षय रोगी के शरीर के कफ स्थान का तथा कफ के दुष्यों का ही अधिक नाश होता है। इस लिये जितना अधिक दूषित कफ बाहर निकल सके उतना निकालने का प्रयत्न करना चाहिए (विशेष कर राजयक्ष्मा रोगी के फुफ्फुस से) क्योंकि अति विकृत कफ अधिकांश में रह जाने से वह नूतन अंश को रोगाक्रान्त करता जाता है।

क्षयरोगी को उपरोक्त कफ के विनाश की पूर्ति के लिये बृंहणीय तथा जीवनीय गण से सिद्ध किया हुआ दूध, चरक चिकित्सा का जीवन्त्यादि घृत तथा शीतल स्निग्ध और कफ वर्धक भोजन ही प्रायः सब अवस्थाओं में उत्तम है।

क्षय रोगी के लिये बकरी का दूध, बकरी का घी, बकरी का मक्खन तथा बकरी का ही मांस विशेष रूप से उत्तम है

बकरी कबूतर, हिरन, तितर, बटेर इनमें से किसी एक के मांस को भून चूर्ण कर बकरी के दूध के साथ सेवन करना क्षय रोग में सहायक है।

भोजन के साथ लहसुन (रसोन) क्षयरोगी के लिए अति उत्तम है और प्रत्येक स्थान के क्षयरोग में इसका प्रयोग निर्भयता पूर्वक किया जाता है। परन्तु लहसुन का दुर्गन्धता, उष्णता तथा उसके तामसिक गुण के निवारणार्थ उसका शोधन करना अत्यन्तावश्यक है।

## लहसुन शोधन विधि–

पहिले लहसुन के छिलकों को निकाल लेवें। फिर उसे कुचल कर तीन दिन छाछ में भिगोवे। नित्य छाछ बदलते रहें। पश्चात् साफ जल से धोकर छाया में सुखा लेवें। इस प्रकार लहसुन दुर्गन्ध-रहित, उष्णता रहित तथा तामसिक गुण रहित पूर्ण शुद्ध होजाता है। अब इसका नाम यदि शक्ति सिन्धु रख दिया जाय तो अति उत्तम होगा।

शुद्ध लहसुन और सेंधा नमक को घी के साथ मिला खरल कर कल्क बना १ से २ तोले तक प्रातः सायं भोजन के साथ खिलाते रहना। प्रत्येक प्रकार के क्षयरोग की निवृत्ति के लिए विशेष लाभकारी है।

मुसलमान स्त्रियों में पर्दे का रिवाज होते हुए भी यदि क्षय रोग की इतनी विशेष अधिकता नहीं है तो उसका कारण अवश्य भोजन के साथ नित्य प्रति लहसुन का प्रयोग ही है।

क्षय रोगी की पाचन शक्ति अच्छी होने और ज्वर होने पर अन्न देना हितकर है। अधिक ज्वर होने पर दूध या फल फूल ही देवें और अन्न न देवें।

यदि रोगी को दूध सहन न हो सके तो उसके लिए दूध के साथ सम भाग जल मिलाकर उबालें और दूध शेष रहने पर पिलाने से अवश्य पचन हो जायगा।

) पत्नोरेगी के अनुसार दूध में फोर्स, मेनेशियम

अथवा ओवेल्टिन आदि मिलाकर देते हैं।

नित्य का समय विभाग इस प्रकार बनाया जा सकता है—

| | |
|---|---|
| प्रातः ८ या ९ बजे | थोड़ा दूध |
| १२ या १ बजे दोपहर में | थोड़ा भोजन |
| ३ या ४ बजे दोपहर में ताजा फल या फल का रस | |
| ६ या ७ बजे सायंकाल | थोड़ा भोजन |
| ८ या ९ बजे रात्रि में | थोड़ा दूध |

क्षय रोगी के लिए बैंगन, करेला, तैल, पक्का बेलफल, राई, सरसों, व्यायाम, दिन में निद्रा लेना तथा क्रोध करना अत्यन्त हानिकारक है।

क्षय रोगी के मल का विशेष रूप से संरक्षण करना अत्यावश्यक है। क्योंकि सब धातुओं के क्षय होजाने पर रोगी के देह का आधार मल के बल पर ही है। अतः मल के दुर्गन्ध युक्त तथा पतले होने पर सर्व प्रथम उसकी चिकित्सा करनी अत्यन्त आवश्यक है।

क्षयरोगी के लिए विश्राम की अति आवश्यकता है। रोगी के कपड़े ढीले, हल्के और स्वच्छ होने चाहिये। नित्य स्पञ्ज बाथ (Sponge Bath) देवें अर्थात् गरम जल में कपड़ा भिगोकर उससे देह को पोंछ कर साफ कर लें।

क्षयरोगी के लिए समुद्र के किनारे की वायु अति हितकर मानी गई है। क्षयरोगी के लिए शुद्ध वायु की अति आवश्यकता है। अतः यदि हो सके तो रोगी को स्वास्थ्य गृह (सेनेटोरियम) में रखा जाय तो अति उत्तम होगा। परन्तु यदि तीव्र ज्वर फुफ्फुस पीड़ा का अति विस्तार, अतिशय कृशता, वायुकोप विस्तार और पूय मय फुफ्फुसावरण आदि साथ में उपस्थित हों तो रोगी को स्वस्थान हिलाना विशेष हानिकारक भी हो सकता है।

यदि क्षयरोगी का ज्वर ९९ डिग्री से कम है तो उसके लिए प्रातः काल के सूर्य के ताप का सेवन (सूर्य स्नान) कराना उत्तम माना गया है। ५ मिनट से लेकर १ घण्टे तक धीरे २ बढ़ाया जासकता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सूर्य स्नान तब तक ही कराया जाय जब तक वायु में कुछ शीतलता होवे।

यदि प्रकाश और शुद्ध वायु वाले स्थानों में निवास रखा जाय, दूध, घी, मक्खन का अधिकतर प्रयोग किया जाय तथा हवन संध्या प्रार्थना आदि नित्य कर्म किए जांय तो क्षय रोग होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती है।

## स्थान भेदानुसार विशेष चिकित्सा—

राजयक्ष्मा (जिसमें कफस्थान विशेष उरः (वक्षस्थल) की विकृति होती है) की प्रारम्भिक अवस्था में—

७—वसन्त मालती (भैषज्य रत्नावली) जिसमें खर्पर के स्थान में यशद भस्म पड़ी हो

| | |
|---|---|
| | ⅓ रत्ती |
| अभ्रक भस्म | ⅓ रत्ती |
| शृङ्ग भस्म | ⅓ रत्ती |
| प्रवाल पिष्टी | १ रत्ती |
| ६४ प्रहरी पीपल | १ रत्ती |
| गिलोय सत्व | २ रत्ती |

—इन सबको मिला कर ऐसी एक मात्रा प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल को शर्बत अनार के साथ देते रहें। अवश्य लाभ होगा।

ऐलोपैथी के अनुसार कैलशियम ग्लुकोनेट (...ium Gluconate) २ माशा तीन

के साथ देवें। तथा सोडियम मोरुएट (Sodium Morrhuate) का इन्जेक्शन ½ सी० सी० की मात्रा से सप्ताह में दो बार देवें।

एलोपैथी के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में कृत्रिम वात चिकित्सा की जाती है, जिससे फुफ्फुस धरा कला (Pleura) में वायु भर दी जाती है। जिसे आर्टिफिशियल न्युमोथोरेक्स (Artificial Pneumothorax) कहते हैं। इससे क्षयरोगी के फुफ्फुसों का संकोच हो जाता है। जिससे क्षय विवर निष्क्रिय हो जाते हैं। इसलिए विष रक्त में नहीं जा सकता। अत: ज्वर वृद्धि तथा अन्य लक्षण शमन हो जाते हैं।

राजयक्ष्मा की तीव्रावस्था में—

लक्षणों अथवा उपद्रवों के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिए और उनमें से जो उपद्रव प्रधान होवे उसका विशेष ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

रक्त निष्ठीवन प्रधान लक्षण होने पर—

बोल पर्पटी (योगरत्नाकरोक्त) २ रत्ती मक्खन मिश्री के साथ दिन में तीन बार देवें। अथवा—

८—मन्ताशहन भस्म तृण कान्तिमणि पिष्टी
गिलोय सत्व वंशलोचन
छोटा इलायची के दाने सोना गेरू
हीराबोल (खून खराबा)
हीरा दोखी गोंद

—इन आठ औषधियों को सम भाग मिलाकर १ से २ माशे दिन में तीन समय शहद या शर्बत अनार के साथ सेवन कराना चाहिए।

एलोपैथी अनुसार कैल्शियम ग्लुकोनेट (Calcium Gluconate) १० सी० सी० शिरा में इन्जेक्शन सप्ताह में दो या तीन बार देते हैं।

तीव्र ज्वर प्रधान लक्षण होने पर—

पंचामृत (रसरत्नाकर) १ रत्ती बकरी के दूध के साथ दिन में दो या तीन बार देवें। अथवा—

९—जयमङ्गल रस (भैषज्य रत्नावली) १ रत्ती
श्वेत जीरे का चूर्ण १ माशा

—बकरी के दूध के साथ दिन में दो बार देवें।

एलोपैथी के अनुसार—

१०—कायोजेनिन अथवा पायरामिडोन १½ रत्ती
अभ्रक भस्म १ रत्ती
गायकोल कार्ब २ रत्ती

—तीनों को मिलाकर एक कैप्शूल में भर दें। ऐसी तीन मात्रा दिन में दूध के साथ देते हैं।

कफज काम प्रधान लक्षण होने पर—

शृङ्ग भस्म तीन रत्ती ३-३ माशे मिश्री के साथ दिन में दो या तीन बार देवें तथा—

मरिचादि गुटिका (चक्रदत्त) चूसने के लिये साथ में देते रहें।

एलोपैथी के अनुसार—

११—सिरप प्रनी वर्जिनी १ चम्मच
सिरप कोडायन फास्फेटस १ चम्मच

—दिन में ऐसी तीन मात्रा देते हैं।

शुष्क कास प्रधान लक्षण होने पर—

१२—प्रवाल पिष्टी १ रत्ती
सितोपलादि चूर्ण १ माशा
अभ्रक भस्म १ रत्ती

—ऐसी तीन मात्रा दिन में शर्बत अनार के साथ देवें। तथा साथ में कर्पूरादि वटी (रसतन्त्रसार) चूसने के लिये देते हैं।

एलोपैथी के अनुसार—

सिरोलिन (Serolin) एक चम्मच तीन बार दिन में देते हैं। तथा ग्यूमिलेट लोजेन्जिज चूसने के लिए देते हैं।

अतिसार प्रधान लक्षण होने पर—

सूतशेखर (योगरत्नाकर) १ रत्ती दो दो घण्टे बाद बकरी के दूध के साथ अथवा अनार के रस के साथ देवें। अथवा—

| | |
|---|---|
| १३-अभ्रक भस्म | ½ रत्ती |
| मौक्तिक पिष्टी | ½ रत्ती |
| शंख भस्म | २ रत्ती |
| वराटिका भस्म | २ रत्ती |

—ऐसी दिन में तीन मात्रा बकरी के दूध के साथ देवें।

ऐलोपैथी के अनुसार—

केओलिन (Kaolin) थोड़े जल में मिलाकर चार बार दिन में देते हैं।

प्रस्वेद प्रधान लक्षण होने पर—

| | |
|---|---|
| १४-प्रवाल पिष्टी | १ रत्ती |
| सत्व गिलोय | ४ रत्ती |

—ऐसी दिन में तीन मात्रा शहद के साथ देवें। अथवा—

| | |
|---|---|
| १५-यशद भस्म | १ रत्ती |
| शिलाजीत | २ रत्ती |

—ऐसी दिन में दो मात्रा बकरी के दूध के साथ देवें। साथ में रात्रि को बलदायक भोजन दूध और मुर्गे का अण्डा (Eggflip) देने से रात्रि को प्रस्वेद आना अति कम होजाता है।

ऐलोपैथी के अनुसार—

१ सी० सी० जल में उबाल कर नित्य अधः त्वक् में इन्जेक्शन दिया जाता है।

वमन प्रधान लक्षण होने पर—

शुभ्रा भस्म (स्फटिका भस्म) २ से ५ रत्ती २ माशा मिश्री में मिलाकर दिन में तीन या चार बार देवें। तथा आमाशय पर (मस्टर्ड प्लास्टर) राई का प्लास्टर लगा कर स्फोट उठाना चाहिये। बर्फ चूसने को देनी चाहिये।

ऐलोपैथी के अनुसार—

वाइनम इपीकाक (Vinum Ipecac) एक बून्द ½ छटांक पानी में १०-१५ मिनट के बाद देते रहते हैं।

अनिद्रा में—

सूतशेखर रस (योगरत्नाकर) १ रत्ती शाम को दूध मिश्री के साथ देवें। अथवा—

चन्द्रोदय रस (रस योगसार) १ माशा सायंकाल को दूध के साथ देवें। अथवा—

द्राक्षासव (योग रत्नाकर) १॥ तोला समभाग जल मिलाकर भोजन के बाद दोनों समय देवें।

ऐलोपैथी के अनुसार—

एडेलिन (adaline) की एक गोली या सोनेरिल (Soneryl) की दो गोलीयां रात को सोने के समय जल के साथ देते हैं।

रक्त काम में—

| | |
|---|---|
| १६-भागोत्तरगुटिका (भैषज्यरत्नावली) | ४ रत्ती |
| शुभ्राभस्म | ४ रत्ती |

--दोनों मिलाकर शहद में चटावें ऊपर से बकरी का दूध पिलावें। इस प्रकार दिन में तीन या

ऐलोपैथी के अनुसार—

कैल्शियम ग्लुकोनेट १० सी० सी० इन्जेक्शन सप्ताह में दो या तीन वार शिरा में देते हैं।

अपची ( ग्रन्थि क्षय ) में—

१७—बसन्त मालती (यशद भस्म युक्त) १ रत्ती
पीपल का चूर्ण ४ रत्ती

—शहद में मिलाकर दिन में तीन बार देवें। और लगाने के लिये भल्लातकादि लेप (वैद्य जीवन) को गो मूत्र में पीस कर लेप करें। ऊपर पट्टी बाध देवें।

ऐलोपैथी के अनुसार—

ग्लूको आयोडीन ( Gluco Iodine ) २ सी० सी० का इन्जक्शन मास पेशी में सप्ताह में दो या तीन बार देते हैं। अथवा—

कैल्शियम ओस्टेलिन १ सी० सी० का इन्जैक्शन नित्य त्वचा में देते हैं।

उदर ग्रन्थि क्षय में—

१८—बसन्त मालती (यशद्भस्म युक्त) १ रत्ती
सत्त गिलोय ४ रत्ती

—शहद में मिलाकर दिन में दो मात्रा देवें। अथवा

१९—जयमङ्गल रस (भैषज्य रत्नावली) १ रत्ती
श्वेत जीरा १ माशा

—बकरी के दूध साथ दिन में दो बार देवें।

पेट में दर्द होने पर साथ में शूल वज्रिणी वटी ( रण चण्डिका) दो गोली दिन में तीन बार बकरी के दूध के साथ देवें। एलोपैथी अनुसार उदर ग्रन्थि क्षय में ग्लूको आयोडान २ शी० शी० का इंजक्शन मास पेशी में सप्ताह में दो या तीन बार देते हैं। पेट में दर्द होने पर मार्फिया ¼ ग्रेन का अधःत्वक इन्जेक्शन किया जाता है।

आन्त्र क्षय में—

२०—सूत शेखर ( योग रत्नाकर ) १ रत्ती दिन में चार बार बकरी के दूध के साथ अथवा अनार के साथ देवें। अथवा—

२१—पञ्चामृत पर्पटी (योग रत्नाकर) १½ रत्ती
कुड़ा की छाल १ माशा
पीपल का चूर्ण २ रत्ती

—शहद के साथ दिन में चार बार देवें।

एलोपैथी अनुसार कैल्शियम ग्लुकोनेट १० c c शिरा में सप्ताह में दो या तीन बार देते हैं।

स्वर यन्त्र क्षय होने पर—

२२—यशद भस्म १ रत्ती मक्खन, मिश्री के साथ दिन में तीन बार देवें।

एलोपैथी अनुसार—

| | |
|---|---|
| क्रियोजोट ( Creosote ) | ४ माशा |
| आयल युक्लिप्टस | २ माशा |
| लिक्विड पैराफिन | २॥ तोल |

—इनको मिलाकर आटोमिझर यन्त्र द्वारा इसे स्वर यन्त्र पर छिड़कते हैं।

मस्तिष्क और मस्तिष्कावरण के क्षय में—

२३—बसन्त मालती (यशद्भस्म युक्त) ½ रत्ती
प्रवालपिष्टी १ रत्ती
अभ्रक भस्म ½ रत्ती
गिलोय सत्व ४ रत्ती

—च्यवन प्राश अवलेह के साथ दिन में दो बार देवें। अथवा—

सूतशेखर ( योगरत्नाकर ) १ रत्ती दूध मिश्री के साथ दिन में दो या तीन बार देवें।

एलोपैथी अनुसार कैल्शियम ब्रोमाइट (सैंडोज) का इन्जेक्शन ५ सी० सी० मास पेशी में एक दिन

छोड़ कर देते हैं अथवा १० सी० सी० शिरा में सप्ताह में दो बार देते हैं।

अस्थि क्षय में—

अस्थि पोषक प्रवालपिष्टी २ रत्ती तीन बार दिन में देवें साथ में अनुपान रूप दशमूलारिष्ट (भैषज्य रत्नावली) १ तोला थोड़े जल के साथ देवें।

एलोपैथी अनुसार कैल्शियम ओस्टेलिन (ग्लैक्सो) २ सी० सी० त्वचा में एक दिन छोड़कर इन्जेक्शन देते रहते हैं।

क्षय रोगी को मालिश के लिये लाक्षादि तैल (शारङ्गधर संहिता) देवें। एलोपैथी अनुसार काड लिवर आयल की मालिश की जाती है।

क्षय रोगी के कुछ स्वस्थ हो जाने पर ताकत के लिये च्यवन प्राशावलेह (शारङ्गधर संहिता) ६ माशे प्रातः सायं देवें। च्यवन प्राशावलेह के एक घण्टे बाद ½ सेर दूध पिलावें तथा साथ में भोजन के पश्चात् द्राक्षासव (योग रत्नाकर) एक तोला भर थोड़ा पानी मिलाकर दोनों समय देते रहें।

एलोपैथी अनुसार ताकत के लिये क्षय रोगी को प्रातः सायं केलसिनोल २ गोली दूध के साथ देते हैं और साथ में भोजन के बाद काड लिवर आयल विद् माल्ट एकस्ट्रैट का एक बड़ा चम्मच दोनों समय दिया जाता है।

# क्षय और उसकी अनुभूत चिकित्सा

लेखक—आयुर्विज्ञानाचार्य प० श्रीगयाप्रसाद जी शास्त्री, राजवैद्य, भिषग्र्त्न, हैदराबाद ( दक्षिण )

क्षय, शोष, राजयक्ष्मा और रोगराट् इन्हीं नामों से आयुर्वेद विज्ञान में इस रोग का बोध होता है। ये सब नाम अन्वर्थक हैं। क्षीयते अनेनेति 'क्षय' अथवा 'क्षीयन्ते सप्तधातवोऽनेति क्षय' यही इस रोग का उत्कृष्ट लक्षण है। यों तो भगवान धन्वन्तरि के कथनानुसार—

अनेकरोगानुगतो बहुरोग पुरोगम।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवार शोषो व्याधिर्महाबक॥

क्षय रोग अपने आगे-पीछे कितने ही रोगों को लेकर आता है, इसलिए उसे समझना तथा दूर करना अत्यन्त कठिन है। इस रोग का रोगराट यह नाम भी इसी अर्थ की ओर संकेत करता है। जैसे राजा अपने अनेकानेक अनुचर, सहचर, परिचर, अङ्ग रक्षक तथा सैनिकों आदि से घिरा रहता है उसी प्रकार यह रोग राट क्षय भी कास, श्वास, प्रतिश्याय तथा रक्त पित्त प्रभृति कितने ही छोटे मोटे रोगों से परिव्याप्त रहता है। यही कारण है कि कई बार क्रिया कुशल विद्वान् चिकित्सकों को भी उस समय तक इस रोग का ठीक २ पता नहीं चलता है, जब तक इसके सम्पूर्ण लक्षण पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो जाते हैं। जब चिकित्सकों को इस रोग को ठीक जानने और समझने में इतनी कठिनाई होती है तो साधारण सद् गृहस्थों की बात ही क्या है। भगवान् धन्वन्तरि के मत में इस रोग के दुर्विज्ञेय और दुर्निवार का यही अभिप्राय है। सुश्रुत संहिताकार ने भी बड़े प्रभावशाली और सुन्दर रूप में इस रोग के नामों की निरुक्ति की है।

'संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते॥"

"शुष्यन्ते रसादिसप्तधातवोऽत्र इति शोष" शोष की इसी व्युत्पत्ति की स्पष्टीकरण पूर्वोक्त पद्यार्थ में किया गया है। अर्थात् रसादि सातों धातुओं का संशोषण करने के कारण इसे 'शोष' कहते हैं।

'क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते अनै॥"

शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग की कार्य क्षमता का क्षय करने के कारण इसे 'क्षय' कहते हैं।

"रोगेषु राजते यस्मात्तोऽय रोगराडिति'

अन्य समस्त रोगों में यह रोग सर्वाधिक प्रबल, कष्टप्रद तथा प्राण घातक होकर विराजमान है अत इस 'रोग राट्' भी कहते हैं। सुश्रुत के मत में शोष, क्षय, राजयक्ष्मा तथा रोगराट इन सब नामों की यही निरुक्ति तथा अन्वर्थक परिभाषा है। अन्य आचार्य भी सुश्रुत के इन नामों की निरुक्ति से पूर्ण रूप से सहमत हैं, इसलिये आयुर्वेद में इस रोग के पूर्वोक्त चार नाम ही अधिक प्रसिद्ध हैं और इन्हीं नामों से इस रोग का ज्ञान होता है। अंग्रेजी में इस रोग को टयुबर कुलोसिस (Tuberculosis) या थाइसिस ( Pqthisis ) कहते हैं। इसी प्रकार यूनानी चिकित्सकों में यह रोग सिल हुम्मा, दिक या तपेदिक के नाम से प्रसिद्ध है।

## क्षय का पूर्व रूप—

पूर्वाचार्यों ने क्षय रोग के पूर्व रूप के सम्बन्ध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। किसी भी रोग के पूर्व

रूप का ज्ञान होने से स्वास्थ्य की कामना रखने वाला कोई भी व्यक्ति और चिकित्सक दोनों ही भावी अनिष्ट का अनायास निराकरण कर सकते हैं। अतः यहां संक्षेप में क्षय के पूर्व रूप का दिग्दर्शन कराया जाता है।

जब किसी व्यक्ति को क्षय रोग होने वाला होता है तो उसकी आंखों में काली पुतली के चारों ओर अधिक सफेदी आजाती है, यदि वह व्यक्ति मांस भाजी है तो मांस भोजन में अधिक प्रवृत्ति हो जाती है, स्त्री सहवास की भी इच्छा बढ़ जाती है, प्रतिश्याय (जुकाम), खांसी, श्वास, बेहोशी, चक्कर का आना, शरीर में पीड़ा, अङ्गों का टूटना, कफ का निकलना, तालु का शुष्क होना, कभी २ वमन होना, जठराग्नि की मन्दता, नींद की अधिकता, मुख मण्डल तथा नेत्रों का निस्तेज होना, नाखूनों का सफेद हो जाना, मुखका मीठापन, थकावट, आलस्य, किसी भी कार्य को करने में अरुचि, पौष्टिक भोजन करने पर भी उत्तरोत्तर दुर्बलता का अनुभव करना, नख और बालों की अवांछित वृद्धि, स्वप्न में कौआ, तोता, शल्लकी (सेई) नीलकण्ठ (कटनास या मोर) गीध, बन्दर एवं गिरगिट आदि पर सवारी करना, आंधी से टूटे धुंए से काले और दावानल से जले हुए रूखे-सूखे वृक्षों को देखना तथा इसी प्रकार से अन्य वीभत्स, भयानक, रोमाञ्चकारी एवं अप्रिय दृश्यों को देखना आदि क्षय का पूर्व रूप समझना चाहिये।

यों तो क्षय रोग किसी न किसी महा पाप का परिणाम है और उनका फल भोग प्रायः अनिवार्य सा होता है। किन्तु आयुर्वेद विज्ञान के तत्वदर्शी आचार्यों ने अपने जिस अपूर्व अनुभव के आधार पर क्षय का पूर्व रूप लिखा है, यदि उस पर जनता और चिकित्सक पूर्ण रूप से ध्यान दें तो ९० प्रतिशत मानव-प्राणियों की प्राण रक्षा अनायास ही की जा सकती है।

## क्षय का रूप—

क्षय को भोज त्रिरूप, सुश्रुत षडरूप और माधवकर एकादश रूप मानते हैं। भोज का मत है कि क्षय रोग होने पर खांसी, ज्वर और रक्त वमन ये ३ लक्षण मुख्यतया प्रकाशित होते हैं। सुश्रुत के विचार में क्षय होने पर भोजन में अरुचि, ज्वर, खांसी, श्वास, गले से कफ के साथ रक्त का दिखलाई पड़ना या रक्त वमन तथा स्वरभेद ये ६ लक्षण प्रकट होते हैं।

क्षय रोग त्रिदोषज होने के कारण माधवनिदानकार माधवकर ने तीनों दोषों के अनुसार लक्षणों का वर्गीकरण करके इसे एकादश रूप माना है। माधव के मत में वात से स्वरभङ्ग, शूल तथा अंश (कन्धों) एवं पसलियों में संकोच (खिंचाव) ये तीन लक्षण प्रकट होते हैं। पित्त से ज्वर, अतिसार, रक्त वमन तथा आंख, हथेली, पैरों के तलवे अथवा सर्वाङ्ग में दाह ये ४ लक्षण प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार कफ से शिर का भारीपन, भोजन में अरुचि, खांसी और स्वरभङ्ग ये ४ लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। फलतः क्षय रोग में वात से ३, पित्त से ४ और कफ से ४ सब मिलाकर ११ लक्षण प्रकाशित होते हैं। यह माधव का मत है।

चरक और वाग्भट भी क्षय को एकादश रूप वाला ही मानते हैं किन्तु परस्पर लक्षणों में स्वल्प परिवर्तन के साथ। तीनों आचार्यों के लक्षण प्रायः

श्वास, स्वरभेद, पसलियों में अत्यधिक पीड़ा, वाणी की क्षीणता, हाथ पैर, पेट, अण्डकोष तथा सर्वाङ्ग में शोथ, अन्न पर अतिशय अरुचि अथवा अत्यधिक भोजन करने पर भी निरन्तर क्षीण होते रहना, कष्ट के साथ बहुत बड़ी मात्रा में मल-मूत्र का उत्सर्ग करना, मूत्र का रङ्ग श्वेत होना, आंखों का श्वेत और निस्तेज हो जाना, ऊर्ध्व श्वास एवं समस्त कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का शनैः २ अपने कर्मों से उपरत होना आदि। जब किसी क्षय रोगी में उपर्युक्त लक्षण लक्षित होने लगें तो समझना चाहिए कि रोग असाध्य कोटि में पहुंच गया है और अब रोगी की प्राण रक्षा सम्भव नहीं है।

## अरिष्ट या मृत्यु सूचक चिह्न—

मृत्यु से २-४ दिन पहले रोगी की भूख कुछ बढ़ जाती है, शिर में खुजलाहट के साथ प्रायः काली, पीली या लाल रंग की फुंसियां हो जाती हैं ध्यान से देखने पर नासिका के अग्र भाग में कुछ वक्रता आ जाती है, रोगी की ज्ञान शक्ति में असाधारण वृद्धि हो जाती है और कई वार उसे अपनी मृत्यु के समय तथा दिन तक का ज्ञान हो जाता है।

## क्षय रोग का वर्गीकरण—

पूर्वाचार्यों ने चिकित्सा आदि की सुविधा के लिए क्षय या शोष रोग को व्यवाय शोष, शोक-शोष, जरा शोष, व्यायाम शोष, अध्व शोष, व्रण-शोष, तथा उरःक्षत शोष आदि सात विभागों में वर्गीकरण किया है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में विस्तार के साथ इन पर प्रकाश डाला गया है।

इन शास्त्रीय भेदों के अतिरिक्त आधुनिक चिकित्सकों ने स्थान भेद के कारण । आन्त्रक्षय, अस्थिक्षय, सर्वाङ्ग तथा पैतृकक्षय आदि अनेक नामकरण कर रखे हैं। किन्तु ये सभी प्रकार के क्षय आयुर्वेदनिरूपित त्रिदोषज क्षय के अन्तर्गत आजाते हैं। अनेक रोगानुगत, बहुरोगपुरोगम, दुर्विज्ञेय, दुर्निवार एवं शक्तिशाली क्षय की यही तो विशेषता है कि वह अनेक नाम रूपों में प्रकट होकर भोगायतन शरीर को नष्ट करता है।

## क्षय रोग का जीवन काल—

हारीत मुनि अपनी संहिता में क्षयरोगी के जीवनकाल की मर्यादा का निरूपण करते हुये लिखते हैं—

> संजीवेच्चतुरोमासान् पण्मासं वाबलाधिकः ।
> उत्कृष्टैश्च प्रतीकारैः सहस्राहं तु जीवति ।
> सहस्राहात परतोनास्ति जीवितं राजयक्ष्मिणः ॥"

राजयक्ष्मा का रोगी ४ मास तक जीवित रहता है। यदि वह बलवान् है तो ६ महीने तक जीवित रहता है। रोगी के सबल और सम्पन्न होने पर उत्कृष्ट चिकित्सा के द्वारा १००० दिन तक वह जीवित रह सकता है। क्षय या राजयक्ष्मा के रोगी का जीवनकाल १००० दिन अर्थात् २ वर्ष ९ माह तथा १० दिन से अधिक नहीं होता है। क्षय रोगी की यह जीवन मर्यादा कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसका व्यतिक्रम न हो सकता हो। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि दैवी साधना तथा उत्कृष्ट चिकित्सा के द्वारा यदि अनिवार्य और अवश्यम्भावी मृत्यु के ऊपर विजय नहीं प्राप्त किया जा सकता है तो कम से कम रोग के ऊपर तो अवश्यमेव विजय प्राप्त किया जा सकता है। अतः रोगी और चतुर चिकित्सक को किसी भी अवस्था में निराश नहीं होना चाहिये और नहीं

किसी भयङ्कर रोग के द्वारा भाविनी दुर्घटनाओं की आशङ्का से भयभीत होकर रोग और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के अपने दृढ निश्चय तथा कर्तव्य पथ से पथ भ्रष्ट ही होना चाहिये। हम उन शास्त्रोपजीवी चिकित्सकों के भी पथ में नहीं हैं, जो प्राचीन शास्त्र वचनों के अनुसार केवल काल्पनिक सुयश के लिये किसी भी रोगी के रोग की कष्ट-साध्य तथा असाध्य अवस्था से भयभीत होकर प्राणरक्षा के लिये अपने शरण में आने वाले रोगी को असहायावस्था में छोड़ते हुए नौ दो ग्यारह होने की चेष्टा करते हैं। ऐसे कायर, का पुरुष और स्वार्थी चिकित्सक केवल अपने कर्तव्य सेवा भाव एवं प्राणिप्रेम की ही अवहेलना नहीं करते हैं अपितु अपनी दुर्बल मनोवृत्ति तथा कुचेष्टाओं से रोगी की जीवनाशा का कुचल कर उसकी मृत्यु की घड़िया और भी निकट ला देते हैं। अतः प्रत्येक क्रिया कुशल, कर्मवीर, विवेकी, विद्वान वैद्य का यह परम कर्तव्य है कि वह किसी भी संकटापन्न दशा में न स्वयं निराश हो और नहीं अपने रोगी को निराश होने दे। इसके साथ ही अपने कठोर कर्तव्य तथा सेवा भाव का दृढ़ता से पालन करता हुआ वह अन्तिम क्षण तक रोगी के प्राणों की रक्षा का प्रयत्न करता रहे।

## क्षयरोग की चिकित्सा—

"कारणाभावात् कार्याभावः" इस सूक्ति के अनुसार चिकित्सक सब से पहिले क्षय के कारण का पता लगाकर उसे दूर कर, अनन्तर रोगी द राग को दूर करने का प्रयत्न करे। निदर्शनरूप में यदि अधिक स्त्री सहवास से होने वाले शोषं क्षय के कारण किसी व्यक्ति को क्षय रोग हुआ है तो प्रथम और अविलम्ब उसे ब्रह्मचर्य से रखे अनन्तर उचित चिकित्सा आरम्भ करे। इसी प्रकार पूर्वोक्त सभी प्रकार के क्षय रोगों के कारणों का नाश करके उनके कार्यों का नाश करने की चेष्टा करे।

भूखे नङ्गे और कङ्कालावशेष कङ्गाल भारत में जहां लाखों प्राणी अन्न के दो २ दानों के लिये तड़प २ कर दम तोड़ रहे हों, जहां घी, दूध आदि पौष्टिक पदार्थों का एकान्त नितान्त अभाव हो एवं जहां इस क्रान्तिकारी युग में भी बालविवाह, वृद्ध विवाह, बहुविवाह एवं पर्दाप्रथा जैसी कुरीतियों का बोलबाला हो वहां यदि क्षय जैसे प्रलयङ्कर रोग का अकाण्ड ताण्डव नृत्य चारों ओर दिखलाई पडे तो इसमें आश्चर्य क्या है? किन्तु क्षय के इन कारणों को दूर करना किसी भी देश की राष्ट्रीय सरकार, राष्ट्रनेता तथा समाज के कर्णधारों का अपना कर्तव्य है। यह काम चिकित्सकों का नहीं है। अस्तु—

क्षयरोग का ज्ञान होने के साथ ही रोगी को किसी अनुकूल स्वास्थ्य सदन (Sanatorium) उद्यान, पार्वत्य स्थान, गङ्गा प्रभृति पवित्र नदियों का तट अथवा नगरों के कोलाहल और दूषित वायुमण्डल से दूर किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में निर्भीक तथा निश्चिन्त होकर निवास करना चाहिये, प्रकृति की अनुकूलता को ध्यान में रख कर किसी समुद्र या बड़े जलाशय के तट पर भी निवास की व्यवस्था की जा सकती है। रोगी की शारीरिक शक्ति के संरक्षण के साथ आत्मिक शक्ति की भी सुरक्षा करना चाहिये। रोगी में जीवन शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिये उसे निराशा और द्वेष से सदा दूर रखना उचित है। रोगी का कमरा

उत्साह साहस तथा आत्म बल ही रोग और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। कई बार शरीर से दुर्बल किन्तु आत्मबल सम्पन्न रोगी इस रोग से मुक्त होते देखे गये हैं।

## क्षय नाशक चुने हुए कुछ प्रयोग–

सितपूर्णेन्दु—

| | |
|---|---|
| २३–दालचीनी | १ तोला |
| छोटी इलायची के बीज | २ तोला |
| छोटी पीपल | ४ तोला |
| वंशलोचन | ८ तोला |
| मिश्री | १६ तोला |
| गिलोय सत्व | ५ तोला |
| वासासत्व श्रृङ्ग भस्म | ॥-२॥ तोला |
| यशद भस्म | २ तोला |
| मुक्ताशुक्ति भस्म | २ तोला |
| उत्तम रससिंदूर या शुद्ध हिंगुल | १ तोला |

विधि—काष्ठादि औषधियों वंशलोचन तथा मिश्री को पृथक २ पीस छान कर चूर्ण बनाना। अनन्तर शेष रस भस्मादि को मिलाकर और खरल करके औषधि को साफ शीशी में भरकर रखना।

—प्रातः सायम्—१ माशा से ३ माशा तक उक्त औषधि शहद, मक्खन, शर्बत बनफ्सा संजीवन रसायन या और किसी योग्य अनुपान के साथ सेवन करने से क्षय, खांसी, श्वास जीर्ण ज्वर, धातुगत ज्वर, मन्द ज्वर, निर्बलता, मन्दाग्नि, अरुचि, मुख का निःस्वाद होना तथा पित्त-विकार जनित हाथ पैर एवं नेत्रों का संताप (जलन) दूर होता है। यह प्रयोग अत्यन्त साधारण किन्तु लाभकारी है।

सितोपलादि अवलेह—

| | |
|---|---|
| २४—सितोपलादि चूर्ण | ५ तोला |
| शुद्ध हिंगुल या रस सिंदूर, अभ्रक भस्म श्रृङ्ग भस्म, गिलोयसत्व, लौंग | प्रत्येक १-१ तोला |
| उत्तम शहद | १० तोला |

—समस्त वस्तुओं को खरल कर एवं शहद मिला कर अवलेह जैसा बना लें। प्रातः सायम् १-१ माशा औषधि चटाकर ऊपर से अडूसे का क्वाथ पिलाना चाहिये। अथवा बकरी का दूध पिलाना चाहिये। इस अवलेह के सेवन से क्षय, कास, उरःक्षत, हृदयशूल, ताप, मन्दाग्नि, तथा सभी प्रकार की निर्बलता दूर होती है।

सितोपलादि चूर्ण—

| | |
|---|---|
| २५—दालचीनी | १ तोला |
| छोटी इलायची के बीज | २ तोला |
| छोटी पीपल | ४ तोला |
| वंशलोचन | ८ तोला |
| मिश्री | १६ तोला |

विधि—समस्त वस्तुओं को कूट, पीस, छान कर चूर्ण बना लेना चाहिये। पूर्वोक्त अवलेह में यही चूर्ण मिलाया जाता है। इसके अतिरिक्त अकेला सितोपलादि चूर्ण १ माशा से ३ माशा तक की मात्रा मे शहद के साथ या विषम मात्रा मे घी और शहद के साथ सेवन करने से क्षय, खांसी, श्वास, जीर्ण ज्वर, मन्द ज्वर, मन्दाग्नि, पित्त विकार, अरुचि, ज्वर के बाद की दुर्बलता तथा रक्त पित्त को दूर करता है। यह चूर्ण निर्दोष, सौम्य तथा अत्यन्त

लाभकारी है।

द्राक्षावलेह—

२६-जायफल जावित्री
छोटी इलायची के बीज लवंग
दालचीनी तेजपत्र नागकेशर
कमलगट्टे की मींग -प्रत्येक १। १। तोला
केशर ३ माशा मुनक्का १ सेर
शक्कर या मिश्री २ सेर

विधि—१ सेर मुनक्का को पानी में भिगोकर साफ करके बीज निकालकर अनन्तर साफ सिल पर पीसकर कल्क तैयार करना। काष्ठादि औषधियों को कूट पीस छानकर चूर्ण बनाना। संजीवनार्क, चन्दनार्क गुलाबजल या पानी में दो सेर शक्कर या मिश्री की दो तार की चासनी बनाकर उसी में मुनक्का कल्क तथा औषधें मिलाकर किसी शीशे के पात्र में औषध को रखना। १ से २ तोला तक इस औषधि को प्रातः सायम् या रात्रि के समय दूध के साथ सेवन करने से क्षय, शोष, भ्रम, रक्तपित्त अम्लपित्त, दाह, पाण्डु, शिरःशूल, बद्धकोष्ठ, अरुचि, मन्दाग्नि तथा रक्तार्श में अपूर्व लाभ होता है।

हिमांशु—

२७-सानागेरू गिलोय का सत्त
वंशलोचन प्रवालभस्म
यशदभस्म मुक्ताभस्म
रौप्यभस्म स्वर्णवङ्ग तथा स्वर्णसिंदूर
सब १-१ तोला-

—लेकर गुलाब का अर्क तथा आवले का स्वरस की ३-३ भावनायें देकर एवं सुखाकर रख लेना चाहिये। २ रत्ती से ४ रत्ती तक औषधि शहद, मक्खन, आंवले का मुरब्बा या अन्य योग्य अनुपान के साथ सेवन करने से क्षय, शोष, रक्तपित्त, कास, उरःक्षत, हिस्टीरिया, भ्रम, दाह, तथा सभी प्रकार की दुर्बलता दूर होती है। हिमांशु एक अपूर्व चमत्कारिक औषधि है। उपर्युक्त सभी रोगों में अपूर्व लाभ करती है।

संजीवनार्क—

२८-गिलोय अडूसा का पञ्चाङ्ग १-१ सेर
असगन्ध शतावरी बला
गंगेरन मुलहठी मुनक्का
काकड़ासिंगी छोटी पीपल
उन्नाव खूबकला रास
कासनी के पत्र -प्रत्येक २०-२० तोला
तालीसपत्र तुलसीपत्र
तेजपत्र सफेद चन्दन
लाल चन्दन धनिया सौंफ
नागकेशर कुलफा के बीज
आमला हरड़ बहेड़ा
कमल के फूल गुलाब के फूल
मनफसा गाजवां
प्रत्येक १०-१० तोला

दालचीनी, छोटी इलायची ५ ५ तोला
सफेद कद्दू या लौकी ५ सेर
गाय या बकरी का दूध १५ सेर
जल १० सेर

विधि—समस्त औषधियों का अधकुट चूर्ण एवं कटी हुई लौकी को दूध में २४ घण्टा भिगो कर एवं पानी १० सेर मिलाकर भबके के द्वारा २० बोतल अर्क खींच लेना चाहिये। २॥ तो०

से ५ तोला तक इस संजीवनार्क को दिन में दो तीन बार पिलाने से ज्वर का तापमान कम होता है, शरीर की शक्ति बढ़ती है और क्षय रोग में तो यह अमृत का काम करता है। सुदर्शनार्क और संजीवनार्क को यदि सम मात्रा में मिलाकर पिलाया जाय तो तापमान कम होता है और शक्ति की अपूर्व वृद्धि होती है।

संजीवन रसायन—

| | |
|---|---|
| २९—संजीवनार्क | ५ बोतल |
| मिश्री | ८ सेर |

—किसी कलई किए हुए पात्र में शर्बत बनाने की विधि से शर्बत बना लेना चाहिये। चासनी २ तार की अत्युत्तम होनी चाहिये। यही संजीवन रसायन है। १ तोला से लेकर ४ तोला तक इस संजीवन रसायन को दूध में या जल में डालकर सेवन करने से बहुत लाभ होता है। शहद के स्थान पर अथवा स्वतन्त्र अनुपान रूप में भी इसका प्रयोग अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। योग परीक्षित है।

## विशेष—

उपर्युक्त योगों के अतिरिक्त क्षय रोग के निवारण के लिये देश, काल, रोग का बलाबल तथा रोगी की परिस्थितियों के अनुसार निम्न लिखित शास्त्रीय औषधों का प्रयोग समुचित मात्रा, अनुपान तथा आधार ( Ground ) बनाकर करना चाहिए।

स्वर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, स्वर्ण-वसन्त मालिनी लक्ष्मीविलास रस, सुवर्णभूपति, राजमृगाङ्क, पूर्णचन्द्रोदय, मुक्तापिष्टी, प्रवालपिष्टी, प्रवाल पञ्चामृत, जयमङ्गल, क्षय केसरी, विन्ध्यावासिनी योग, शिलाजत्वादि लोह, स्वर्ण पर्पटी, पञ्चामृत पर्पटी, वसन्तकुसुमाकर, बङ्ग भस्म, शृङ्ग भस्म, मुक्ता भस्म, लोह-भस्म, यशद भस्म, त्रैलोक्य चिन्तामणि, हेमगर्भपोटली, च्यवनप्राशावलेह तथा द्राक्षासव आदि। शरीर में मालिश के लिये लाक्षादि तेल, चन्दनादि तेल तथा महा लक्ष्मीविलास तैल। खाने के लिये छागलाद्य घृत तथा जीवन्त्यादि घृत अत्युत्तम हैं।

## पथ्यापथ्य—

गेहूं, मूङ्ग, चना, साठी के चावल, बकरी का दूध, घी, मक्खन, बकरी का मांस, मांसाहारी पशुपक्षियों का मांस, सेव, सन्तरा, मोसम्बी, अनार, आम, केला, आंवला, अंगूर, लौकी, तोरई, परवल, सोया-मैथी, अंगूर आदि से बने उत्तम आसव, पौष्टिक आहार, मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाने वाला आमोद प्रमोद तथा विहार, ब्रह्मचर्य से रहना, देवपूजा, दान, तप, सत्याचरण, दिन में सूर्य रश्मियों और रात्रि में चन्द्र ज्योत्स्ना का सेवन, वैद्य, गौ-ब्राह्मण की सेवा एवं जीवन शक्ति को बढ़ाने वाली अन्य सभी सात्विक आहार-विहार पथ्य हैं।

कड़ुआ, कसैला, बासी आदि तामसिक आहार बैंगन, करेला, तेल, सरसों, राई, व्यायाम, दिन का सोना, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, चिन्ता, लोभ, भय, स्त्री सेवा तथा अन्य सभी प्रकार के तामसिक आहार-विहार जिनसे जीवन शक्ति का ह्रास हो सकता है अपथ्य हैं।

---

# राजयक्ष्मा की चिकित्सा

लेखक—कविराज श्री० अत्रिदेव जी गुप्त भिषग्रत्न, जामनगर ( काठियावाड़ )

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् । धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥ चरक० चि० अ० ८-४०

## मुख्य लक्षण निम्न हैं—

१—कास—रोगी को खांसी लगातार जोर से आती है और बलगम निकलने पर शान्ति मिलती है। खांसी के वेग के कारण नींद भी नहीं आती। बलगम न निकले तो बेचैनी रहती है। बलगम मात्रा में बहुत ढीला होता है। क्षय रोगी को गाढ़ा बलगम बहुत कम आता है। इस खांसी से गले का बैठना, गले में कर्कशता का अनुभव होना, कांटे अनुभव होना, पार्श्वों में दर्द, नींद न आना होता है।

२—अरुचि—अग्नि मन्द होने से भोजन पचता नहीं। कफ के बढ़ने से भोजन में अनिच्छा रहती है, मुख का स्वाद फीका लिसलिसा रहता है। मुख से भरा रहता है, इसी अजीर्ण से कभी अतिसार भी हो जाता है। विशेषकर जब रोग आंतों में हो भोजन की अनिच्छा तथा भोजन के न पचने से रक्तादि धातु कम होते जाते हैं। धातुओं के क्षय होने से शरीर की उष्णता भी घटती जाती है।

इसलिये आचार्य ने कहा है कि कफ के कारण स्रोतों के बन्द हो जाने से, रक्तादि धातुओं के क्षीण होने से तथा धातुओं की उष्णता के घट जाने से, राजयक्ष्मा आरम्भ होता है।

## चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा स्रोतों को खोलना, रक्तादि धातुओं को बढ़ाना और धातुओं में उष्णता की वृद्धि करना ही है।

१—स्रोतों को खोलने के लिये कफ को घटाना चाहिये, साथ ही यह यत्न करना चाहिये कि कफ आगे पैदा न हो। क्षय में धातुओं का ह्रास होने से अन्न का किट्ट भाग अधिक बनता है और प्रसाद भाग कम। इसलिए क्षयी में मल ही अधिक बनता है। यह मल ही इसका छाती में आया कफ है। इसलिये इसका बनना कम करना चाहिये।

२—शरीर में धातु और उष्णता कम हो जाती है, उनको बढ़ाना चाहिये। वास्तव में यही एक सूत्र चिकित्सा का है। क्षय की सारी चिकित्सा इसी एक सिद्धान्त पर है। इसीलिये क्षय रोगी को बार २ तोला जाता है। जिससे पता चलता रहे कि वह कितना बढ़ा है। इस वृद्धि के लिये ही सब खान-पान है। खान-पानों में मुख्य वस्तु चरक ने मांस बताई है।* परन्तु जो निरामिष भोजी हैं उनके लिये दूध या दही मक्खन ये उत्तम हैं। वास्तव में रोगी के अन्दर व्यय कम करके आय को बढ़ाना ही इस रोग की चिकित्सा है। इसके लिये उत्तम भोजन और आराम है। भोजन जहां उत्तम हो, वहां रुचिकर और सुपच होना चाहिये, इस भोजन के उत्पन्न उष्णता या शक्ति का ह्रास न हो इसलिये रोगी को आराम पूरा देना चाहिये। यह शारीरिक

---

* शरीर बृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते ।

और मानसिक दोनों प्रकार का होना चाहिये, इसलिये रोगी का मन दुखी होने के कारणों से हटाना चाहिये। इसके पीछे औषधि चिकित्सा है।

## औषधि चिकित्सा—

इसमें वास्तव में हम रोग की चिकित्सा न कर के लक्षणों की चिकित्सा करते हैं। यक्ष्मा के मुख्य लक्षण ज्वर, कास, पार्श्वशूल, अतिसार, रक्त का थूक में आना है। इन्हीं के लिये भिन्न २ औषधि दी जाती हैं। मुख्यतः ज्वर होने पर स्वर्णवसन्त मालती वर्ता जाता है। इसमें स्वर्ण, मोती, हिंगुल, मरिच और खपरिया हैं। कुछ लोग हिंगुल के स्थान पर रससिन्दूर या मकरध्वज भी मिलाते हैं। परन्तु रससिन्दूर वाला योग अच्छा प्रभाव करता है ऐसी मेरी धारणा है।

ज्वर के लिये दूसरी औषधि कांचनाभ्र रस, सार्वभौम है। परन्तु इन सब में मैं रसेन्द्र में दिया हुआ "सर्वाङ्ग सुन्दर रस" यक्ष्माधिकार का पसन्द करता हूं। इसमें ताम्र होने से यह उत्तम रोग नाशक है। मुक्ता, शङ्ख, कौड़ी होने से रक्त को भी बन्द करता है।

कास—

कास के होने पर बहुत कष्ट होता है। वास्तव में ही यही एक लक्षण ऐसा है जो सब किये को मिट्टी कर देता है। इससे रोगी को शान्ति नहीं मिलती, शान्ति न मिलने से रोगी बेचैन रहता है। इसके लिये यदि बहुत अधिक कास हो तो अफीम मिली हुई दवाई अच्छी रहती है। और यदि बहुत न हो तो सितोपलादि, तालीशादि, सर्पिगुड़ उत्तम हैं। इनको घी और मधु या घी और चीनी के साथ देना चाहिये। खालिस मधु में देने से उतना लाभ नहीं होता।

रक्तस्राव के लिये—

वासावलेह, राजमृगांक या मृगाङ्क उत्तम हैं। ये कैलशियम या खटिक के समान हैं जो रक्त स्तम्भक हैं। मैं गिलोय सत्व को बहुत पसन्द नहीं करता। फिर भी यदि देना हो तो निर्बल रोगियों के लिये उत्तम है। वैसे गिलोय रस मधु के साथ देना फायदेमन्द है। प्रवाल पिष्टि भी अच्छी है।

स्रोतों को खोलने के लिये—

चन्दन लाक्षा तैल (रक्त स्राव और ज्वर में) या चन्दन लाक्षावलादि तैल सारे शरीर पर मलकर शृतशीत पानी से स्नान करा देना चाहिये। तैल लगाकर रोगी को धूप में इतनी देर बैठाना चाहिये जितनी देर रोगी सह सके। इसके लिये प्रातः दस बजे तक उत्तम है।

अतिसार में—

आन्त्र शोपान्तक रस या स्वर्ण पर्पटी या पंचामृत पर्पटी देनी चाहिये। इसमें ताम्र के योग अच्छा लाभ करते हैं।

वास्तव में आजकल इस रोग के लिये सूर्य किरणोपचार, विद्युत दाह ये बरते जाते हैं परन्तु ऋषि का यह वचन आज तक भी सत्य है कि—किसी भाग्यवान् के पापों का क्षय होने से ही राजयक्ष्मा शान्त होता है।

"कस्यचित् क्षीणपापस्य राजयक्ष्मा निवर्तते"

# राजयक्ष्मा की अनुभूत चिकित्सा

लेखक—कविराज श्री० पुरुषोत्तमदेव जी मुखानी, आयुर्वेदालङ्कार, मैडीकल आफीसर जाफरपुरी डिस्पेंसरी, कराची।

## चिकित्सा क्रम—

१—प्रथमावस्था में—

प्रातः—शृङ्गाराभ्र १ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती मकरध्वज १ रत्ती, पीपल चूर्ण मधु से—

कास अधिक हो तो वासा पत्र स्वरस + मधु से।

१० बजे प्रातः एवं ८ बजे। सायं—प्रवाल पंचामृत गर्म दूध ठण्डा करके मिश्री डालकर अथवा शीतल जल से।

द्राक्षारिष्ट—शीतल जल से

संध्या ४ बजे—(क) चन्दनादि लोह, पित्तपापड़ा रस मधु, तुलसी पत्र, रस मधु, पटोल पत्र स्वरस मधु अथवा गिलोय स्वरस + मधु से दें।

(ख) रामबाण-पटलोपत्र स्वरस ( सेक कर ) + मधु से दें।

(अष्टांग आयुर्वेद कालेज कलकत्ता के संस्थापक स्वनामधन्य स्व० कविराज यामिनीभूषणराय इसका प्रारम्भिक अवस्था में प्रयोग करते थे।)

ग—यवक्षार योग। घ—शिलाजत्वादि वटी भी दे सकते हैं।

द्वितीयावस्था में—

प्रातः—सर्वाङ्ग सुन्दर २ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती पिप्पली चूर्ण और मधु से दें।

कास अधिक होने पर वांसा पत्र स्वरस + मधु से।

सायं—प्रवाल पंचामृत दूध से।

संध्या—श्री जयमङ्गल रस

अद्रक, पित्तपापड़ा, गिलोय, शिवली (तुलसी) पत्र रस (सम्मिलित) + मधु से दें।

अभ्यंगार्थ—लाक्षादि तैल, चांमाचन्दनादि तैल, (अभ्यंग के द्वारा रक्त संचार उत्तम होता है एवं त्वचा द्वारा वसा का संवहन होता है।

तृतीयावस्था में—

सर्वाङ्गसुन्दर रस, वसन्त मालती. वसन्त-तिलक, कांचनाभ्र इनमें से कोई रस अवस्थानुसार देवें।

## उपद्रव चिकित्सा—

१—उदर खराब हो तो—

पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लोह पिप्पली चूर्ण और मधु से दें। अथवा—

हेमगर्भ पोटली, राजमृगांक, महाराज मृगांक में से कोई एक देवें।

२—रक्तस्राव में—

क—लाक्षादि पाचन ( लाक्षा, यष्टिमधु, उशीर, रक्तचन्दन, किशमिश, वासात्वक् ) देवे।

ख—रक्तपित्तान्तक लोह।

ग—वासाखण्ड कुष्माण्ड।

घ—धात्री लोह ( भावना )

यष्टि मधु, शृत जल से।

ङ—सर्वाङ्गसुन्दर रस आयापान या विशल्यकर्णी रस + मधु से।

मुख में रखकर चूसने के लिये 'एलादि गुटिका' दो।

३-उदर भङ्ग—

कुमुदेश्वर रस, धन्वन्तरि चूर्ण आयापान के रस से।

४-पादशोथ में—

लालगुड़ा ( उदरामय ) गुनगुने जल से।

द्विप्रहरे--(क) धात्री लोह अथवा महा गन्धक

( मल में अम्लीय दुर्गन्ध तथा रक्त आता हो तो ) देवें।अथवा में—

(ख) पीयूषवल्ली

(ग) वत्सकादि पाचन

(घ) स्वर्ण पर्पटी रस दें।

५--श्वास काठिन्य—

मायूर योग-एक आना भर जल से।

(सोम कल्प लता + मकरध्वज + जटामांसी)

६--घातक हृदय शोथ में—

सुवर्ण, रजत, लौह तथा आर्सेनिक, कैल्शियम के योग हेमगर्भ पोटली, प्रवाल पंचामृत आदि देवें।

## रोग शमन काल में-

१-च्यवनप्राश, मधु वा अजा दुग्ध से।

२-द्राक्षारिष्ट।

३-सिद्ध मकरध्वज।

बासा पत्र स्वरस, पिप्पली चूर्ण मधु से।

४-श्री गोपाल तैल की मालिश।

५-पौष्टिक भोजन।

६-अजा पंचक-भी सब अवस्थाओं में लाभप्रद है।

७-अमृतप्राश्य घृत।

८-बृहत् छागलादि घृत ( ग्रन्थिक क्षय में भी विशेष लाभप्रद है )

## पथ्यापथ्य-

प्रारम्भ में ही इस रोग की चिकित्सा करने से विशेष लाभ होता है, बाद में नहीं। रोगी को पहिले विश्राम देना चाहिये। सब प्रकार का कार्य व्यापार रोगी का बन्द करा देना चाहिये। क्योंकि सब प्रकार के शारीरिक श्रम या मानसिक आवेग भी रोगी के लिये हानिकारक हैं। किसी प्रकार की चिन्ता या गम्भीर विचार विनियम भी निशिद्ध है। जब तक तापमान जारी रहे तब तक रोगी को स्वल्प व्यायाम भी नहीं करने देना चाहिये। रोगी को खुले प्रकाश में तथा खुली वायु में रखें ( प्रातः से सायं काल तक और यदि सम्भव हो तो रात्रि में भी )। समीप में वृक्ष हो तो उसकी छाया भी उत्तम है। बकरियों के झुण्ड में रहने से विशेष लाभ होता है। भीड़ में या सभा सम्मेलनों में जाना भी अनुचित है। रोगी को वायु परिवर्तन से भी विशेष लाभ होता है। इसके लिये पर्वतीय जङ्गल या आप्य (जलीय) प्रदेश जो ४००० या ५००० फीट तक ऊंचे हैं रोगी के लिये अच्छे हैं जैसे कोटा सिलौन, धर्मपुर, अल्मोड़ा आदि। इन सब स्थानों पर वायु अधिक स्वच्छ होती है। वहां सूर्य की किरणें सीधी रोगी पर पड़ती हैं तथा अन्य पदार्थ भी उनसे गर्म होकर अपनी गर्मी रोगी पर डालते हैं। पहाड़ पर जाने से रोगी की शारीरिक शक्तियां बढ़ जाती हैं। शरीर में धातुओं का कार्य व्यापार बढ़ जाने से अथवा अधिक प्रबल होने से शरीर का पोषण भी अच्छा होता है। लेकिन यह पहाड़ों पर जाना प्रारम्भिक क्षय रोगियों के लिये ही लाभ-प्रद है। किन्तु जिन्हें ज्वर हो जाता हो, जिनका हृदय निर्बल हो, श्वास काठिन्य रहता हो उन्हें नहीं

जाना चाहिये। ऐसे रोगियों के लिये जलीय प्रदेशों (कराची, बम्बई और मद्रास आदि) में जाना अच्छा है। जिन्हें जल्दी ? श्वास, प्रतिश्याय आदि का वेग होता हो, उनके लिये शुष्क प्रदेश [मुलतान, डेरा गाजी खा, राजपूताना] उत्तम है।

भोजन—रोगी को शीत गुण युक्त पौष्टिक और हल्का देना चाहिये। सब प्रकार के उष्ण गुण निषिद्ध हैं। बकरी तथा गौ का दूध, मक्खन मलाई तथा दूध के अन्य पदार्थ जो सुपच हैं, रोगी के लिये पथ्य हैं। केला तथा लहसुन [ उष्ण गुण होते हुए भी ] उत्तम है। विटामिन की दृष्टि से ए, बी, सी, डी सभी अच्छे हैं। ए और डी तो मक्खन तथा दूध में और सी फलों में होता है। जिन भोजनो में फास्फोरस और कैल्शियम होते हैं वह भी अच्छे हैं। औषधि शाधित घृत भी रोगी को देने से बहुत लाभ होता है। यथा—बृहत् छागलादिघृत, अजापंचकघृत, जीवन्तीघृत पाराशरघृत (इसमें दशमूल आदि सब पौष्टिक द्रव्य हैं) गन्ने का रस, केले का रस भी प्रकृति अनुसार लाभप्रद है।

नमक के विषय में हमारा विचार बहुत ही कम देने का है। यह तो निश्चित है कि अस्थियां, संधियां तथा जन्तुओं के क्षय रोग में यह हानिकारक है।

इसके अतिरिक्त रोगी जितना मनोविनोद कर सके उतना ही अच्छा है।

# राजयक्ष्मा की चिकित्सा

लेखक-श्री० तेजीलाल जी नेमा, वैद्यशास्त्री, आयुर्वेद रत्न, भाटापारा ( सी० पी० )

प्राच्य और पाश्चात्य मतानुसार यक्ष्मा एक भयङ्कर और प्राण घातक रोग माना जाता है। भारतवर्ष मे इस दारुण पुंज रोग से अकाल ही में लाखों प्राणी काल के ग्रास बन जाते हैं। प्रथम तो इमने अपना आधिपत्य शहरो और सभ्यता वाले स्थानों पर ही सीमित रक्खा था किन्तु अब तो इस मक्कार ने देहाती क्षेत्र में भी अपना सुरसा समान मुंह फैलाना शुरू कर दिय है।

साम्प्रत में देश की आशालता सुकुमार नवयुवक और नव युवती एवं धूल धूसरित नन्हें २ लाल इसके पंजे में पड़ जाते हैं। और प्रति वर्ष हजारों की तदाद में क्रूरता पूर्ण हमसे छीन लिये जाते हैं।

## पूर्व रूप-

प्रायः क्षय रोग होने वाले रोगी को प्रथम मन्दाग्नि, वारम्वार प्रतिश्याय होना, कास, वमन, श्वास, भ्रम, अङ्गों में अकड़न होना, तालू सूखना, कफ गिरना, मैथुन की विशेष इच्छा होना, स्वप्नावस्था में भयङ्कर स्वप्न देखना, नेत्र सफेद होजाना, मांस खाने की इच्छा होना, कमजोरी, थकावट मालूम होना, खाने पीने के पदार्थों में उसे मक्खी तिनका वाल प्रभृति दिखाई पड़ना, आदि रूप दृष्टिगोचर होते है।

## स्पष्ट लक्षण-

राजयक्ष्मा का ज्वर हैक्टिक फीवर जाति का होता है। एवं उसमें निरुत्साहता, कमजोरी, शरीर का नित्य प्रति क्षीण होना शारीरिक वजन घट जाना, मन्दाग्नि, शिर में पीड़ा मूत्र में अल्ब्युमन दीख पड़ना, नाड़ी शीघ्र और मृदु (स्पर्श से) खांसी के समय रक्त मिश्रित कफ भूरा हरा पीला गाढ़ा, चिपचिपा भारी मात्रा में अधिक तार युक्त गन्ध मिठास युक्त, श्वास का शीघ्र २ चलना, गाल बैठ जाना, रात को पसीना आना, गर्मी का अनुभव करना, हाथ पैरों में जलन होना, दिल धड़कना, प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं। क्षयी रोगी का टैम्प्रेचर लेने से किसी २ का ९९ से १०० % तक और सायंकाल १०३ % से १०४ % तक बढ़ जाता है, पर कई रोगियों का तो प्रातः ९६ % से ९७ % वाद दोपहर को बढ़कर सायंकाल तक १०४ % से १०५ % तक देखा गया है। प्रातः काल उसे ज्वर का भान ही नहीं होता और सायंकाल को ज्वर से बड़ी बेचैनी अनुभव करता है। कई रोगियों को तो १०० % तक ज्वर रहने पर भी वे इसका अनुभव नहीं करते और बेफिक्र अपना काम धन्धा करते रहते हैं। हां कभी २ सुस्ती सी आजाती है बतलाते हैं। किसी २ को तो भूख कम लगती है और किन्हीं को प्रथम मात्रा से अधिक खाते हुए भी देखा है और पर्याप्त भोजन कर लेने पर भी वह शरीर से कृश रहता है यानी रस नहीं बनता है। गालों में कुछ २ ललाई भासित होती है।

## अवस्था भेद-

यों तो क्षय रोग के भिन्न २ प्रकार हैं, जो बताये गये लक्षणों के अन्तर गत ही हैं। तो भी

सर्व साधारण की जानकारी के हेतु आयुर्वेद से संक्षेप में तीन प्रकार के भेद बताये हैं।

## त्रिरुप ( प्रथम दर्जा )–

(१) पसवाड़ों और स्कन्धों में खिंचाव होना। (२) हाथ पैरों में जलन (३) मन्द २ ज्वर का सर्वदा बना रहना।

इस अवस्था में नाड़ी कड़ी, निर्मल और एक दशा में चलने वाली होती है। रोगी को प्राय ज्वर का अनुभव नहीं होता। यदि उसका बदन छुआ जावे तो जब तक आप देर तक हाथ न रखे रहेंगे ऊष्मा नहीं मालूम होगी। मूत्र में तेल के समान चमक और चिकनाहट मालूम होती है। दोपहर के बाद कुछ २ गर्मी ( ज्वर ) का आभास सा होता है पर यह ज्वर जाड़ा आदि नहीं देता।

## षट् रूप ( द्वितीय दर्जा )

(१) अन्न में अरुचि, (२) ज्वर का होना (३) श्वास का तीव्र वेग से अधिक चलना (४) खांसी का बना रहना (५) कफ के साथ रक्त का गिरना (६) स्वर बठ जाना।

विशेष—गालों और आंखों का बैठ जाना, वक्षस्थल की हड्डियां उभर आना, कनपटियां बैठ जाना, कांति नष्ट होकर रूखता छा जाना, नाक की नोंक और गर्दन पतली होजाना, बालों का घट जाना, कन्धा ऊपर को उठने आना, ज्वर कभी कभी ठण्ड देकर चढ़ना, जीभ का सफेद होना, बेचैनी, नींद न आना, खांसने से कांस के समान फूटे बासन सरीखा आवाज होना, गाढ़ा पीला चिपचिपा कफ का गिरना प्रभृति लक्षण पाये जाते हैं।

## एकादश रूप ( तृतीय दर्जा )

(१) प्रतिश्याय का बिगड़ जाना. ( पीनस हो जाना ) (२) फेंफड़े के खराब हो जाने से श्वास का बना रहना। (३) फेफड़े में व्रण होने से खांसी का होना, (४) स्कन्ध और पसवाड़ों में खिंचाव का होना, (५) शिर में शूल और भारीपन। (६) स्वर का बैठ जाना और कण्ठ में कीलें सी चुभना (७) अन्न में अरुचि, (८) शूल का होना, (९) मल भेद से अतिसार और रक्त आना, (१०) दाह से मल शोष और वमन का होना, (११) ज्वर का सर्वदा बने रहना।

विशेष—कफ का रूप बिगड़ जाना और अधिक गिरना, दुर्गन्ध आना, रोगी को चैन न होना, दाह अधिक होने से शीतल चीजों का चाहना, प्रातःकाल ही छाती शिर पर चेरदार पसीना आना, पैरों में शोथ हो आना, ज्वर का टैम्प्रेचर १०३° से १०५° तक रहना, रात में प्राय तिजारी ज्वर का दौरा होना, और ४ बजे के करीब पसीना आकर कम पड़ना, बालों का झड़ जाना, किसी को संग्रहणी होजाना, पेशाब बहुत कम गहरी लाल नारङ्गी के समान होना, नेत्र बिगड़ जाना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

## यक्ष्मा के असाध्य चिन्ह–

अत्यन्त आहार करने पर भी कृश रहना (रस न बनना) जठराग्नि की कमी दस्त शुरू होजाना, अण्ड और उदर में शोथ हो जाना, नेत्र सफेद उज्वल दीखना, अन्न में अरुचि, उर्ध्व श्वास का होना, मूत्र अत्यन्त अल्प गहरी नारङ्गी वर्ण का होजाना, कफ का पानी में डालते ही पैंदी में बैठ

ाना, अग्नि में कफ को जलाने पर मुर्दे को जलाने के समान गन्ध देना, खून की कय होना, बालों का झड़ जाना, रोगी का स्वतः न बचने के वाक्य मुंह से निकालना, स्वर बैठ जाना, बारम्बार बेचैनी होना, ऐसा रोगी कदापि नहीं बच सकता है।

## क्षय रोग में सेनोटोरियम-

आधुनिक समय में सर्व साधारण से लेकर सभ्य कहाने वाले मानवों की यह धारणा हो गई है कि सबसे सुविधा दायक स्थान सेनोटोरियम है, जहां सफलता पूर्वक इस रोग की चिकित्सा की जाती है और वहां रहकर इलाज कराने से रोगी क्षय रोग से मुक्त हो जायगा। यह भ्रमात्मक विचारों से रोगी अपना घर द्वार छोड़ खर्चा उठाते हुए वहां जाते हैं पर सेनोटोरियम जीवन प्रदान करने वाला देवता नहीं जहां रोगी जावें और स्वास्थ्य मोल ले हृष्ट-पुष्ट होकर घर आ जावें।

सेनोटोरियम चिकित्सा इतनी सुलभ और सस्ती भी नहीं कि जिसमे मामूली स्थिति का मानव वहां जा सके या इलाज करा सके। क्षय रोग की चिकित्सा के लिये भले ही पाश्चात्य प्रदेशों में शासकों द्वारा अधिकांश सेनोटोरियम बनाए गये हैं जहां धनी और निर्धन रोगी सभी मुफ्त चिकित्सा के लिये स्थान पा सकते हैं किन्तु भारत का दुर्भाग्य है कि यहां कोई ऐसी योजना सेनोटोरियम की नहीं बनाई गई जहां गरीब लोग मुफ्त में लाभ पा सकें। सेनोटोरियम में तो मकान आदि का भाड़ा और ऊपर से खान-पान औषधियों की व्यवस्था का भार स्वयं रोगी को सहना पड़ता है।

सेनोटोरियम कोई अस्पताल नहीं है बल्कि उन्हीं साधनों द्वारा रोगी की परिचर्या की जाती है जो कि हम चाहें तो अपने स्थान पर ही बना सकते हैं। सेनोटोरियम डाक्टर राउनट्री के विचार के माफिक वह एक सुन्दर पाठशाला है जहां रोगियों को प्रायोगिक शिक्षायें देती और जो अच्छे होने पर भी जीवन भर संभल कर चलने का पाठ पढ़ाती है। डाक्टर पोटिञ्जस से उसके सेनोटोरियम के रोगियों ने ठीक कहा कि 'हम घर की अपेक्षा अधिक सरलता से अच्छे हो जाते हैं क्योंकि यहां प्रत्येक व्यक्ति सहायता करता है।

सेनोटोरियम गृह में प्राकृतिक साधनादि की ही अधिक व्यवस्था रहती है जिससे ही रोगी को संतोष रहता है।

## क्षय रोग की जीवनावधि-

आयुर्वेद शास्त्र में क्षय रोगी की जीवन अवधि १००० दिन की प्रमाणित है किन्तु यह मारक अवधि प्रत्येक क्षय रोगी पर लागू नहीं है, हां जो रोग के कठिन पंजे में पड़ चुका है उसकी बात अलग है परन्तु जिस क्षय रोगी के शरीर स्थिति यन्त्र कार्य कर रहे हों एवं चिकित्सा की सुविधायें हों वे इस अवधि से न घबड़ा उठें, विश्वास पूर्वक इलाज कराने से अच्छे हो जायेंगे। हमने ऐसे भी रोगी देखे हैं जिनका एक फुफ्फुस खराब होने पर निकाल दिया गया है और वे जीवित हैं। आयुर्वेद शास्त्र में व्यवाय क्षयी, शोक क्षयी, व्यायाम क्षयी, वार्धक्य क्षयी, मंथर क्षयी आदि भी अच्छी चिकित्सा से दीर्घ जीवन प्राप्त कर आनन्द भोग रहे हैं।

## क्षय पर प्राकृतिक साधन-

सर्व प्रथम क्षय रोगियों को आराम करने के लिये नीचे लिखी प्राकृतिक साधनों द्वारा सहायता

लेनी चाहिये।

(१) आत्म विश्वास, (२) सूर्य्य की रोशनी, (३) शुद्ध वायु [प्राणायाम], (४) कसरत, (५) प्रसन्नचित्त (६) स्वच्छता, (७) विश्राम, (८) पवित्र स्थान, (९) पवित्र पानी, (१०) पवित्र आहार, (११) इसके बाद शक्ति दायिनी औषधियां।

यदि मैं उपरोक्त साधनों पर क्रमशः लिखूं तो लेख बढ़ जाने की अधिक सम्भावना है अतएव विद्वत् जनों को इशारा ही काफी रहता है। अपने क्षयी रोगियों को आरोग्य बनाने हेतु मेरी बताई हुई बातों पर ध्यान देंगे तो अधिक सफलता पाने की आशा है।

## क्षय रोग की भ्रांतियां

प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के अन्वेषण द्वारा यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि क्षय के भेद उपभेदादि अधिकांश पाये जाते हैं।

शरीर में क्षय रोग के विद्यमान होते हुये दूसरी बीमारियों के आक्रमण होने से कई तो उसे भिन्न रोग समझ चिकित्सा करने बैठ जाते हैं और अधिक क्षय न होते हुए क्षय की चिकित्सा करने लग जाते हैं परिणाम यह होता है कि रोगी की हालत दिन पर दिन खराब होती जाती है और प्रायः ऐसा रोगी समझदार चिकित्सक के आधीन आ गया तो भले ही बच जाय पर भ्रांति चिकित्सक अपयश का पात्र ही होता है। अर्थात् रोगी एक रोग से ग्रसित होकर अपनी शारीरिक रोग क्षमता कम कर बैठता है तब ऐसी स्थिति में अन्य रोग कीटाणु शरीर में आ घुसते हैं और चिकित्सक को भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। चिकित्सक संदिग्ध रूप में रहता है, अतएव प्रथम रोग पर ध्यान न जा सकने के कारण और दूसरे का शरीर में प्राबल्य होने से परिणाम यह होता है कि— "दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम" इसलिये चिकित्सकों को ऐसे रोगी हाथ में लेते ही अधिक प्रखर बुद्धि से सावधान रहने की आवश्यकता है। औषधियां भी कुछ वैद्य एक ही सी करने बैठते हैं यह भी जबरदस्त भूल है। असल मूल कारण पर पहुंच कर विवेकता पूर्वक औषधि व्यवस्था करनी चाहिये।

## क्षय रोगी की परिचर्या-

क्षय रोगी का इलाज करने के पेश्तर उसकी परिचर्या पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। अतएव परिचारक दक्ष, आलस्य रहित, चतुर और रोगी से प्रगाढ़ प्रेम करने वाला, चिकित्सक की आज्ञानुसार रोगी की व्यवस्था करने वाला होना चाहिये। यह ध्यान अवश्य रहे कि परिचर्या करने वाले का कमरा रोगी से भिन्न हो।

रोगी का बिस्तरा स्वच्छ और कोमल रहे, उसके पहरने ओढ़ने के वस्त्र भी साफ रहें और उनमें बदलावट रहा करे। रोगी को किसी प्रकार शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न होने पाये इसका ध्यान रखा जावे। उसको जब भी कुछ कष्ट का अनुभव हो परिचायक हंस मुख से सरलता पूर्वक निवारण कर दे। क्षय रोगी के कफ को एक पात्र में ले राख डालते जावें और उसको एकत्र होने पर जला दिया करे। क्षय रोगी को खुली हवा अत्यन्त लाभप्रद है और इसलिये उसे क्षय निवारक चिकित्सालयों में ले जाने की व्यवस्था की जाती है। पर हम बता आये हैं कि ऐसे स्थानों की भारतवर्ष में अत्यन्त

कमी है जहां सब प्रकार की श्रेणी के रोगियों को स्थान मिल सके। आर्थिकाभाव के कारण अधिकांश क्षय रोगी अपने स्थान में ही रहकर इलाज करवाते हैं। यद्यपि शुद्ध वायु को उपलब्ध करने हेतु अपना स्थान छोड़कर जाना इतना आवश्यक प्रतीत नहीं होता जितना कि आजकल चिकित्सक या रोगी का परिचारक या पालक मान बैठे हैं। सबसे उत्तम तो यह है कि क्षयी परिवारों को अपने नगर की समीपस्थ बस्तियों में चला जाना चाहिये। इससे उन्हें अधिक सुविधा मिल सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सब प्रकार के क्षय रोगियों का इलाज सफलता पूर्वक चिकित्सक के आदेशानुसार होता है। शहराती मकानों की हवा प्राय: दूषित ही रहा करती है अतएव किसी पवित्र स्थान की खुली शुद्ध वायु की अपेक्षा शहराती निश्चल अशुद्ध वायु रोगियों के लिये लाभप्रद नहीं प्रमाणित होती। तो भी यदि आप शहराती क्षेत्र में ही रखकर रोगी की चिकित्सा करना चाहें तो इस बात पर अधिक ध्यान दें कि रोगी का कमरा बड़ा हो और उसमें हवा आने जाने का मार्ग पर्याप्त हो एवं खिड़कियों के द्वारा सूर्य रश्मियां भली भांति उस कमरे में प्रवेश कर सकें जिसमें कि रोगी को रखा हो। मकान की ऊपरी छत इसके लिये चुनना अति उपयोगी है। छत पर छप्पर का रहना भी आवश्यक है। ऋतुओं की बदलावट ( परिवर्तन ) के अनुसार रोगियों को ज्वर के छूटने तक आराम के साथ चारपाई पर लिटाये रहना चाहिये। ज्वर रोगी को खुली वायु में रखने से अत्यन्त लाभ होते देखा गया है। क्षय की कमरे की खिड़कियां इस ढङ्ग से बनी हों जिस से बाहरी प्राकृतिक दृश्य देख सकें। रोगी की अवस्था और प्रकृति एवं सामर्थता पर विशेष ध्यान देते हुये सहन हो सके ऐसे कार्य करना चाहिये क्योंकि अधिकांश रोगी ऐसी वायु बरदास्त नहीं कर सकते और वे श्वास, कफादि रोगों से जकड़ जाते हैं। उन्हें पहाड़ी हवा अनुकूल नहीं बैठ सकती और न खुली हवा ही अतएव रक्तहीन, जीर्ण वृद्ध रोगी की अवस्थाओं पर विशेष ध्यान देते हुए उनके कमरे को गरम रखें पर यह ध्यान अवश्य रखा जावे कि खिड़कियां बन्द न रहें और रोगी खुला मुंह कर सोवे।

## राजयक्ष्मा की चिकित्सा—

हम लिख चुके हैं कि प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों की एवं आधुनिक वैज्ञानिकों की खोज के आधार पर क्षय रोग कितने ही भेद प्रभेदों में विभक्त हैं उन सब पर चिकित्सायें न लिखकर जिन क्षय रोगियों में हमने सफलता प्राप्त की है उसे ही लिखेंगे। ताकि धन्वन्तरि के पाठकों को हमारे अनुभव से कुछ लाभ हो सके। राजयक्ष्मा की चिकित्सा में अधिकतर रोगी की शारीरिक अवस्था पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। यदि रोगी शक्तिमान तथा बहुदोष युक्त हो तो उसको वमनादि द्वारा शोधन अवश्य करा देना चाहिये। पर यदि रोगी न सहने योग्य हो तो उक्त क्रियायें भूलकर भी न कराई जावें क्योंकि शक्तिहीन-निर्बल पुरुष का बल और जीवन मल एवं शुक्र के आधीन होता है। यथा—

मलायत्तं बलं पुसां शुक्रायत्तं च जीवितम्
तस्मा द्यत्नेन संरक्षेत् यक्ष्मिणो मलरेती ॥

अर्थात् क्षय रोगी की मल और शुक्र की यत्न-पूर्वक रक्षा करनी ही चाहिये।

जो दूध आंच से शुद्ध हो उसे ही गर्म कर काम में लेना चाहिये। यदि बकरी का दूध लिया जाय तो सर्वोत्तम है क्योंकि बकरी ही एक ऐसा जानवर है जिसमें यक्ष्मा के कीटाणुओं की वृद्धि नहीं होती

दूध के पश्चात् दूसरा स्थान मुर्गी के अण्डों को देते हैं। दूध और अंडे मिलाकर खिलाना बड़ा ही पौष्टिक है। मक्खन भी क्षीण काय पुरुषों के लिए लाभप्रद है क्योंकि मक्खन में चर्बी बढ़ाने के गुण मौजूद हैं। इसके पश्चात मांस और भोजन के अन्य पदार्थ आते हैं। मांस में प्रोटीन की मात्रा प्रचुर परिमाण में होने से लाभदायक है. यदि कोई क्षय रोगी मांस ग्राही न हो तो उसे दालों का सेवन कराना उपयुक्त है। मांस भी ठीक रोग रहित जानवरों का लेना चाहिये नहीं तो शरीर पर इस का उलटा गुण होगा। मांस यदि बकरी का लिया जाय तो कुछ अवयव जैसे तिल्ली, ओझड़ी (आमाशय), आंतें, फेफड़े छोड़ देना चाहिये क्योंकि इनमें अकसर रोगों के कीड़े रहते हैं जो नुकसान दायक होते हैं।

यदि मांस की अपेक्षा मांस का यूष या हड्डी का शोरबा दिया जाय तो विशेष लाभदायक होगा। क्षय रोगी के लिये फलों का सेवन भी अधिक महत्व का है क्योंकि फलों में विटामिन ( जीवनीय तत्व ) अधिक होते हैं। यक्ष्मा के रोगियों को आहार ही एक मात्र सहायक है जो क्षीणता में पुष्टता लाता है। साथ ही चिकित्सा में यश, अपयश की प्राप्ति भी आहार ही पर निर्भर रहती है। इसलिये युक्ति पूर्वक योग्य भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। साथ ही उसकी रुचि और पाचन [illegible] देना भी अभीष्ट है।

यथा—अन्नेन पूरयेदर्द्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशंसंरक्षेद् वायु चारणे ॥

उदर ( पाकस्थली ) का आधा अन्न से और तीसरा हिस्सा जल से भरना चाहिये। और शेष चौथे हिस्से को वायु संचार के लिये खाली छोड़ रखना चाहिए। संक्षेप में क्षय रोगी को आहार में स्नेह, प्रोटीन, कार्बोज, खटिक की मात्रायें विशेष होनी चाहिए। इसलिये चिकित्सक सुपथ्य द्रव्यों में अमृतोपम धारोष्ण दूध, अण्डे, मांस, अन्न, शाक फल फूलादि का चुनाव विचार पूर्वक करे।

जैसे सुपथ्य द्रव्यों में-बकरी या गाय का उत्तम दूध, इन्हीं का मक्खन, दही, मठा, घृत, मलाई आदि, घर में चरने वाली गाय या बकरी के दूध में विटामिन डी की मात्रा प्रायः कम होती है, जङ्गल में चरने वाली गाय या बकरी के दूध में जीवनांश अधिक पाए जाते हैं, इसके अलावे अधिक देर के दुहे हुए दूध की अपेक्षा धारोष्ण दूध का महत्व अधिक है अतएव शुद्ध पात्र में स्वच्छ हाथ से दुहा दूध अत्यन्त गुणकारी होता है।

अण्डों में—मुर्गी, हंस, चकोर, मोर, गौरैया का अण्डा जो मिल सके हैं।

मांस वर्ग में—केकड़ा, घोंघा, कछुआ, खरगोश, हिरण, तीतर, बटेर, मोर, मुर्गा, बकरा, कभी-मछली का मांस हितकर होता है।

अन्न वर्ग में—गेहूं, साठी चावल, पुराना चावल, मूंग की भुनी दाल, साबूदाना, सोया बीन है।

शाकों में—प्याज, लहसुन, टमाटो (बड़ा परवल, लौकी, पोई, आलू का पतला शाग, नरम बैंगन सहिजना की फली का शोरबा हितकारी है।

होने पर सामर्थ्य हीन आदमी मर जायगा।

## क्षय की प्रथमावस्था की चिकित्सा

सर्व प्रथम दोष युक्त बलवान रोगी को वमन विरेचनादि कराकर वात कफ नाशक चिकित्सा करना चाहिये। पश्चात—

प्रात सायंकाल— १-१ रत्ती सुवर्ण बसन्त मालती रस २ रत्ती, चौंसठ पहराके अभाव अष्ट पहरी पीपल २ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, सत्वगुरुच २ रत्ती, छोटी मक्खी के मधु में ६ माशा मिला चटा दें। ऊपर से क्षीरपाकदुग्ध ऽ। पिलावें।

११ बजे दिन--चन्दन, बला अथवा लाक्षादि तैल की मालिश कराकर धूप में रोगी को बिठावें।

भोजन के बाद--द्राक्षासव १ तोला चौगुने जल में मिलाकर पिलाना।

सायं ४ बजे दिन--अभ्रक भस्म शतपुटी, कपर्दभस्म, प्रवाल भस्म तीनों १-१ रत्ती शहद में मिलाकर चटाना।

१० बजे रात--उत्तम मौक्तिक भस्म ¼ रत्ती, उत्तम स्वर्णभस्म ½ रत्ती, अभ्रकभस्म शतपुटी ½ रत्ती दाड़िमावलेह से देना।

सूचना—यदि पित्त प्रकोप अधिक हो तो दाड़िमावलेह और कफ का प्रकोप हो तो मधु से दवा देवें।

## द्वितीयावस्था पर—

दूसरे दर्जे के क्षय रोग में जो रोगी को डेढ़ वर्ष से अपने पंजे में फंसा लिया था शुष्क काम, सांस में दर्द, शरीर अत्यन्त दुर्बल तथा क्षीण होगया था, सैनोटोरियम से निराश हो लौट आया था उसकी निम्नलिखित चिकित्सा प्रारम्भ की और आरोग्य दान दिया। उसके लक्षण दूसरे दर्जे की अन्तिम श्रेणी के हो चुके थे।

सुवर्ण मुक्तादि रस १-१ रत्ती, दाड़िमावलेह ६ मा या मधु ६ माशा, मक्खन १ तोला, मिश्री पिसी हुई ६ माशे में मिला चटावें।

६ बजे दिन—महा चन्दनादि तैल की सर्वाङ्ग में मालिश करावें और रोगी को धूप में बिठालें।

१० बजे दिन और रात में—जयमङ्गल रस (स्वर्ण वाला) १ रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती, सत्व गुरुच ४ रत्ती मधु या दाड़िमावलेह से दें।

खाना खाने के बाद—नेमा टानिक नं॰ १ का ।। तोला चौगुने जल में मिला दिया करते थे।

एवं दिन भर में ३-४ बार या रातको भी खांसी उठने पर नीचे लिखे मुताबिक मिश्रण चटाया जाता था।

मिश्रण खांसी—

प्रवाल भस्म १ रत्ती, कपर्द भस्म २ रत्ती, मुलहेठी मधु ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण ४ रत्ती। अनुपान शर्बत बासा या बनफशा में मिला चटावें।

## क्षय की तृतीयावस्था पर—

इस अवस्था पर पहुंचते ही विरले ही रोगी अपना जीवन शेष रख पाते हैं। हमारी चिकित्सा में सिर्फ १० में ४ रोगी सफलता पा सके हैं। बल एवं धैर्य पूर्वक चिकित्सा सरलेव कराने पर दैवाधीन रोगी बच भी जाते हैं बाकी ६ में से २ रोगी यहां से अच्छे होकर चले गये किन्तु सुनने में आया कि वे अन्य दूसरी बीमारी के चंगुल में फंस कर २-३

माह बाद मर गये।

ऐसे रोगियों को बकरियों का सहवास अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है।

## औषधियां-

प्रातः-सायं ६ बजे—महामृगांक ½, जवाहर मोहरा भस्म १ रत्ती, मल्ल चन्द्रोदय, सुवर्ण ½, मक्खन १ तोला, मधु ३ माशा, मिश्री ३ माशा में मिला चटावें।

१० बजे न दिन रात—बसन्त कुसमाकर ½ रत्ती, जयमङ्गल रस (सुवर्ण युक्त) ½ रत्ती, च्यवनप्राशावलेह से।

११ बजे दिन—चन्दन बला, लाक्षादि तेल की मालिश कराकर सूर्य स्नान कराना।

१२ बजे—नेमा टानिक नं० १ मात्रा १। तोला, जल चौगुना में मिला पिलावें।

४ बजे दिन—मण्डूर भस्म १ रत्ती, सीप भस्म १ रत्ती, प्रवाल अग्नि पुटी १ रत्ती, कपर्द भस्म १ रत्ती मधु में मिला चटादें।

यदि खांसी अधिक हो तो द्राक्षारिष्ट में सितोपलादि मिला चटावें ऐसे रोगी को छागमांस यूष, घृत, दूध (बकरी का) सेवन करना चाहिये। हिरन के बच्चे को गोद में लेना, मृगछाला पर सोना लाभ दायक है।

उपरोक्त चिकित्सा क्रम की औषधियों को देकर हमने इस दर्जे के रोगी को आराम किया है पर हम स्वतः रोगी की अवस्था, दोष, कालादि पर विचार कर औषधियों में बदलावट कर देते हैं, जो कि एक सुयोग्य चिकित्सक का कर्तव्य है। जैसे—हम प्रमेह जन्य क्षय में बसंत कुसुमाकर, स्वर्ण बङ्ग-भस्म, लक्ष्मी विलास, जिगर खराब होने पर मृगांक भस्म, कांचनाभ्र, सुजाक में शीतल बङ्गभस्म, सारिवाद्यासव, लोकनाथ रस, वृ० सर्व ज्वर हर लोह, उपदंश क्षय में स्वर्ण राज बङ्गेश्वर, मल्लसिंदूर, चोप चीन्यादि अर्क, कफ खांसी श्वास पर वृ० चिंतामणि श्वास काम रस, च्यवनप्राश, वासावलेह, द्राक्षासव, प्रदर जन्य क्षय में चन्द्रप्रभा वटी नं० १ (लोह शिलाजीत युक्त) त्रिबङ्ग भस्म, बङ्गेश्वर रस, गगन-लोहादि रस, शोथ होने पर मंडूर भस्म, पुनर्नवादि मंडूर, नवायस लोह, मुंह से खून गिरने पर उशीरासव, चन्दनादि अर्क, कूष्मांडासव, वासा कूष्मांड, बबूलारिष्ट, सिन्दूर भूषण, प्रवाल, मौक्तिक, संधिवात युक्त क्षय में मल्ल चन्द्रोदय, पूर्ण चन्द्रोदय, महायोगराज गूगल, प्रसूत जन्य क्षय में सूतिकाभरण, सूतिका विनोद, अभ्र लोह, दशमूलारिष्ट आदि देवें

## आहार-विहार-

क्षय रोगी के खाद्य पदार्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। खाद्य पदार्थ ऐसा हो जिससे बल, मांस की वृद्धि हो पर साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी होगा कि रोगी उसे सुगमता से पचा सके। अतएव उसकी खाद्य सामिग्री बहुत सोच विचार कर उपयुक्त बनानी चाहिये क्योंकि खाद्य (आहार) ही शारीरिक बल का मूल है। खाद्यों में प्रथम दूध का स्थान सर्व श्रेष्ठ है, दूध में शारीरिक वृद्धि के लिये जिन चीजों की आवश्यकता रहती है वह प्रायः सर्व विद्यमान रहती है। साधारणतः गाय का दूध ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये ऐसी गायें हों जो हृष्ट पुष्ट एवं रोग रहित हों वर्ना लाभ के बदले हानि ही उठानी पड़ेगी।

जो दूध जाँच से शुद्ध हो उसे ही गर्म कर काम में लेना चाहिये। यदि बकरी का दूध लिया जाय तो सर्वोत्तम है क्योंकि बकरी ही एक ऐसा जानवर है जिसमें यक्ष्मा के कीटाणुओं की वृद्धि नहीं होती

दूध के पश्चात् दूसरा स्थान मुर्गी के अण्डों को देते हैं। दूध और अंडे मिलाकर खिलाना बड़ा ही पौष्टिक है। मक्खन भी क्षीण काय पुरुषों के लिए लाभप्रद है क्योंकि मक्खन में चर्बी बढाने के गुण मौजूद हैं। इसके पश्चात मांस और भोजन के अन्य पदार्थ आते हैं। मांस में प्रोटीन की मात्रा प्रचुर परिमाण में होने से लाभदायक है यदि कोई क्षय रोगी मांस ग्राही न हो तो उसे दालों का सेवन कराना उपयुक्त है। मांस भी ठीक रोग रहित जानवरों का लेना चाहिये नहीं तो शरीर पर इस का उलटा गुण होगा। मांस यदि बकरी का लिया जाय तो कुछ अवयव जैसे तिल्ली, ओझड़ी (आमाशय), आतें फेफडे छोड देना चाहिये क्योंकि इनमें अकसर रोगों के कीडे रहते हैं जो नुकसान दायक होते हैं।

यदि मांस की अपेक्षा मांस का यूष या हड्डी का शोरवा दिया जाय तो विशेष लाभदायक होगा। क्षय रोगी के लिये फलों का सेवन भी अधिक महत्व का है क्योंकि फलों में विटामिन ( जीवनीय तत्व ) अधिक होते हैं। यक्ष्मा के रोगियों को आहार ही एक मात्र सहायक है जो क्षीणता में पुष्टता लाता है। साथ ही चिकित्सा में यश अपयश की प्राप्ति भी आहार ही पर निर्भर रहता है। इसलिये युक्ति पूर्वक योग्य भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। साथ ही उसकी रुचि और पाचन शक्ति पर ध्यान देना भी अभीष्ट है।

यथा—अन्नेन पूरयेदर्द्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशसंरक्षे द्वायु चारणे ॥

उदर ( पाकस्थली ) का आधा अन्न से और तीसरा हिस्सा जल से भरना चाहिये। और शेष चौथे हिस्से को वायु सचार के लिये खाली छोड रखना चाहिए। सक्षेप में क्षय रोगी को आहार में स्नेह, प्रोटीन कार्बोन, खटिक की मात्रायें विशेष होनी चाहिए। इसलिये चिकित्सक सुपथ्य द्रव्यों में अमृतोपम धारोष्ण दूध, अण्डे, मांस, अन्न शाक फल फुलादि का चुनाव विचार पूर्वक करे।

*जैसे सुपथ्य द्रव्यों में-बकरी या गाय का उत्तम दूध, इन्हीं का मक्खन दही मठा, घृत मलाई आदि, घर में चरने वाली गाय या बकरी के दूध में विटामिन डी की मात्रा प्रायः कम होती है, जङ्गल में चरने वाली गाय या बकरी के दूध में जीवनाश अधिक पाए जाते हैं, इसके अलावे अधिक देर के दुहे हुए दूध की अपेक्षा धारोष्ण दूध का महत्व अधिक है अतएव शुद्ध पात्र में स्वच्छ हाथ से दुहा दूध अत्यन्त गुणकारी होता है।*

अण्डों में—मुर्गी, हंस चकोर, मोर, गौरिया का अण्डा जो मिल सके हैं।

मांस वर्ग में—केकड़ा, घोंघा, कछुआ, खरगोश हिरण, तीतर बटेर, मोर, मुर्गा, बकरा, वर्मी मछली का मांस हितकर होता है।

अन्न वर्ग में—गेहूं साठी चावल, समा चावल, मूंग की भुनी दाल साबूदाना, सोया बीन दे।

शाकों में—प्याज, लहसुन, टमाटो (बड़ा परवल, लौकी पोई आलू का पतला शाग, नरम बैंगन सहिजना की फली का शोरवा हितकारी है।

## फुफ्फुस का चित्र

मनुष्य के शरीर में फुफ्फुस दोनों तरफ होने से, दो माने गये हैं। दाहिनी तरफ के फुफ्फुस के तीन खण्ड होते हैं और बायीं तरफ के फुफ्फुस के दो खण्ड होते हैं। यही इस चित्र में दिखाये गये हैं साथ ही हृदय में रक्त का संचालन दिखाया गया है।

फलों मे—सीताफल ( इससे हमने कष्ट साध्य क्षय रोगी को आराम किया है ) अंगूर, नारङ्गी, मौसम्बी, अञ्जीर, द्राक्षा मीठा, नीबू, कागजी नीबू, आंवला, कैथ, अनार, किसमिस दे।

फूलों मे—फूल गोभी का उबाला शाक, निवरिया, चमेली, कपूर-पत्ती, गुलाब, मोंगरा की माला पहिराना और पास मे रखना हितकारी है।

स्नान मे—जीवनीय गुण वाली औषधियों का क्वाथ

तेलों मे—सुगन्धित गुणप्रद तेलों की मालिश या सुगन्धित द्रव्यों का उबटन लाभप्रद है।

क्षय रोगी के मन प्रसन्नार्थ हारमोनियम आदि का मधुर गान हो।

क्षय रोगी को बृंहण यूष भी अति लाभदायक सिद्ध हुआ है अतएव उसे देना चाहिए। यदि गंगा जमुना नर्मदादि नदियो के तट पर रोगी का वास हो तो ४-५ वजे दिन को रोगी को नाव पर बैठाल कर जल विहार कराना भी अति लाभदायक है।

## क्षय रोगियों का दैनिक कार्यक्रम—

प्रातः ६ वजे ( तीनो ऋतुओं में ) उठ जाना चाहिये तथा शौचादि से निवृत्ति पाकर ईश प्रार्थना ( प्रभाती आदि ) मन्द २ स्वर से कहलावे। पश्चात् औषधि सेवन कर जलपानादि करले। तदनन्तर जितनी दूर तक चलने की हिम्मत हो उतनी दूर तक टहल कर वापिस आ जावे और पलंग पर विश्राम करे। चिकित्सक के आदेशानुसार ९ वजे तेल की मालिश कर सूर्य स्नान करावे। तीसरे और दूसरे दर्जे वाले रोगियों को जिनका फेफड़ा खराब हो चुका हो शीशा द्वारा रंगीन रोशनी फेफड़ों पर डाली जावे यह क्रिया समाप्त कर रोगी मौन धारण कर पड़ा रहे। पश्चात् औषधादि की व्यवस्थायें जो हो करें। रोगी के पास अधिकतर घवड़ाहट दिलाने वाले अधकचरे वैद्य और कुटम्बियों को न आने दे। रोगी को जितना अधिक समय मौन धारण का मिल सके उतना अच्छा है। ११ वजे भोजन खिलावे, भोजन के पश्चात् कमरे के अन्दर थोड़ा टहलावे। इसके पश्चात् चुपचाप पलंग पर लेट जावे। पश्चात् जब सोकर उठे तुरन्त मुंह हाथ धुलावे और कुछ २ कुनकुना दूध १ कप पिलादे या जलपान करादे। जलपान में मूङ्गादि के लड्डू उपयुक्त हैं। करीब ४ या ५ वजे रोगी को इच्छानुसार टहलावे और घूमकर आने के बाद पलंग पर विश्राम करावे।

८ बजे संध्या व्यालू (भोजन) कर करीब ९ वजे सुलादें, रोगी के कमरे की रोशनी गुल करदें, इस उपरोक्त बनाए क्रम से आप घर पर ही सेनोटोरियम चिकित्सा जैसा लाभ उठा सकेंगे।

## अपथ्य—

अधिक बोलना, उड़द, पान, कुथली एवं दुबारा पकी हुई खुराक, वासी आहार, आम इमली का अचार, चिन्ता, फिक्र, मैथुन, परिश्रम करना, अजीर्ण कारक पदार्थ, रात्रि जागरण, जमीन की सील, बन्द कमरा, काम उत्पादक सामिग्री, अहितकारी बातें, तमाखू, मद्य मांस नशादि, भय उत्पादक दृश्य एवं अन्न अशुओं का दूध नुकसानदायक है।

### हितकारी कुछ ज्ञातव्य बातें—

क्षय रोगी के जागते ही उसे तुरन्त गर्म दूध पिलाना चाहिए और इसकी मात्रा क्रमशः डेढ़पाव कर देना चाहिए, यदि रोगी पसंद करे तो उसे प्रातः काल सिर्फ दूध में बनी हुई तुलसी की चाय

देनी चाहिये। नास्ते में मूङ्ग के लड्डू या आवला का मुरब्बा हितकारी है। दोपहर के समय द्राक्षा रस के साथ भोजन दे।

क्षय रोगी के कपड़े स्वच्छ और ढीले रहें, उस का बिस्तर सूर्य की किरणों में दिन में रखें चद्दर अदल बदल कर बिछाना चाहिये। पैरों में मौजा या जूता पहने रहे यान पहन कर टहले, रोजाना अपने शरीर को गर्म पानी से स्वच्छ करें। यदि पसीना अधिक निकले और रोगी अति अशक्त हो तो भी गर्म पानी में तौलिया को भिगो निचोड़ कर समस्त देह पोछदे।

क्षय रोगी को उसकी स्थिति के और शारीरिक बल के मुताबिक आवश्यक कसरत करवाना (प्राणा याम) तथा टहलवाना चाहिये।

उसे नित्य और नियमित शौच जाने का आदेश दें। साधारणतः क्षय रोगी को जुलाब न देना चाहिये। हां बल देख मृदु रेचक या कब्ज कुशा आहार दे देना चाहिये।

क्षय रोगी को ब्रह्मचर्य पालन हेतु उचित शिक्षा देते रहना चाहिए। जिस भांति उसका मन शान्त रहे मनाने का प्रयत्न करो, उसके नजदीकी रिश्ते दार ऐसे हों जो उसे अच्छे हो जाने का आश्वासन दिलावें, अनर्गल बातें रोगी के समक्ष न करें। चिकि त्सक भी ऐसा चुनें जो रोगी के मन पर पूर्ण विश्वास दिलाने वाला हो।

रोगी के कमरे में उसके बराबर ऊंचाई का या जितना बड़ा मिल सके एक दर्पक (दर्पण) रखा जावे और रोगी को शौचादि से निवृत्त करा देखने को कहदे और नित्य विश्वास पैदा कराते कि तुम्हें जो औषधे दी जारही हैं वह लाभ कर रही हैं। यह युक्ति रोगी को क्षय से मुक्ति दिलाने के लिये उत्तमो त्तम प्रमाणित होती देखी हैं। वजन आदि भी लेते रहना चाहिए। उसका निवास स्थान हो सके तो अडूसा, बबूल या पीपल वृक्षों के नजदीक रखें।

चिकित्सा में आये हुए प्रयोगों को बनाने की विधि—

## सुवर्ण बसन्त मालती रस—

३०—सुवर्ण भस्म १ तोला

मोतीकी पिष्टी (गुलाब जल में घुटी) २ तोला

मकरध्वज (षडगुण जारित) ३ तोला

कालीमिर्च की सफेद मिंगी या (सफेद मिर्च) ४ तोला

खपरभस्म ८ तोला

बनाने की विधि—प्रथम मकरध्वज को ३ घण्टे तक खरल में डाल घोटो, पश्चात् सुवर्ण भस्म मिला लो और ३ घण्टे तक घोटो फिर मोती पिष्टी खर्पर भस्म मिलाकर २ २ चार चार दाने काली मिर्च के डालत जाओ या इसका चूर्ण कर छानकर मिला लो और सुमीवत् कर लो। तदनन्तर गाय का मक्खन ४॥ तोला खरल में डाल १ दिन मर्दन करो। दूसरे दिन उत्तम कागजीनीबू का रस डालत जाओ। इस प्रकार नींबू का रस डालते २ मक्खन की चिकनाहट दूर करलो। लगभग सात दिन खरल कर लो और १ १ रत्ती की गोली बना छाया में सुखा लो। रस तैयार है शीशी में सुरक्षित रखलो। न बना सको तो धन्वन्तरि कार्यालय से मगालो।

## वसन्तकुसुमाकर रस—

३१—सुवर्ण भस्म रक्त २ भाग

चन्द्रोदय ( षट् गुण जारित ) ४ भाग
अभ्रक भस्म (शतपुटी) ४ भाग
मोती भस्म (बसराई) ४ भाग
रौप्य भस्म २ भाग
प्रवाल भस्म ( अग्निपुटी ) ४ भाग
कान्त लोह नागभस्म वङ्ग भस्म
तीनों ३-३ भाग
अम्बर कस्तूरी २-२ भाग
केसर मोगरा ४ भाग

निर्माण विधि—प्रथम चन्द्रोदय को ले उत्तम सङ्गमर्मर के खरल में डाल ३ घण्टे तक घोट सुमार्वत् करले। पश्चात् भस्मों को डाल ६ घण्टे घोट अच्छी तरह मिला ले। कस्तूरी अम्बर को १ छटांक गुलाब जल में अलग से घोटकर रख ले और केसर को भी गुलावजल १ छटांक में भिगो दे। भस्मों को मिलाने के बाद गाय के दूध की, अडूसा की पत्ती का रस, हल्दी का स्वरस, केले की जड़ का रस, गन्ने का रस, कमल पुष्पों का रस, मालती पुष्पों का रस, शतावरी रस, चन्दन का क्वाथ, शुद्ध कपूर, उत्ताम गुलाब अर्क, तुलसी पत्र स्वरस, खस का अर्क, लाक्षा स्वरस, नागरमोथा क्वाथ, क्रमशः उपरोक्त द्रव्यों की १-१ दिन भावना ( घुटाई ) देकर पश्चात् कस्तूरी अम्बर और केशर की भावनायें ६-६ घण्टे देवे और छाया में सुखाकर १-१ रत्ती की गोली बनाले या सफूफवत् ही रहने दे। सुरक्षित शीशी में डाट लगा रख ले और समय पर काम में लावे। सर्व प्रमेहों पर आशुप्रद बल वीर्य कान्तिदायक और क्षयरोग नाशक रस है।

## महा मृगांक—

३२—स्वर्ण भस्म ( निरुत्थ ) १ भाग
पारा भस्म मौक्तिक भस्म
चौकिया सुहागा भस्म —तीनों २-२ भाग
शुद्ध आमलासार गन्धक ४ भाग
स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ भाग
मूङ्गा भस्म ७ भाग

निर्माण विधि—सबको उत्तम खरल में (पत्थर के) में डाल कर बिरोजा नीबू के स्वरस में ३ दिन खरल करो। पश्चात् गोला बनाकर तेज धूप में सुखा लो। तदनन्तर इस गोले पर कपड़ा लपेट कर उस पर १ अंगुल चिकनी मिट्टी का लेप चढ़ा दो ( या मूषा मे रख लो ) अच्छी तरह सूख जाने पर पक्की हांडी में नमक का चूर्ण भर दो उसके बीच में उपरोक्त गोले को या मूषा को रखकर हांडी का मुख बन्द कर दो सन्धि न रहे। इसके बाद हांडी को चूल्हे पर चढ़ा दो और नीचे आग बराबर १२ घण्टे तक मृदु मध्यम और तेज दो, क्रिया समाप्त होने पर जब हांडी ठण्डी होजाय गोले को निकाल लो। औषधि को पीस छान उसमें वैक्रान्त भस्म १६ वां भाग मिला सुरक्षित शीशी में रख लो समय पड़ने पर काम में लावे। बड़ा ही उत्तम प्रभावकारी क्षय नाशक योग है।

## नेमा सुवर्णमुक्तादि रस—

३३—सुवर्ण भस्म मुक्ता भस्म
अभ्रकभस्म (सहस्र पुटी) वैक्रांत भस्म
चारों ६-६ रत्ती

गोरोचन १२ रत्ती

—सबको एकत्र मिलाकर गुलाब जल से घोट रख लें। ११ रत्ती चाटने से क्षय प्रसूति का नाश, खांसी, श्वास में उत्तमोत्तम मिश्रण है।

## जय मंगल रस—

३४—हिंगुलोत्थ पारद शुद्ध आमलासारगन्धक
सुहागे की खील ताम्र भस्म
बङ्ग भस्म स्वर्ण माक्षिक भस्म
सेंधा नमक चूर्ण काली मिर्च चूर्ण
लोह भस्म चांदी भस्म
प्रत्येक १॥-१॥ माशा

सुवर्ण भस्म ३ माशा

निर्माण विधि—प्रथम पारा और गंधक की कज्जली करके पश्चात् भस्मों को डाल खूब घोट लें। तदनन्तर चूर्णों को डाल, तुलसीपत्र स्वरस, चिरायते का क्वाथ, धतूरे का रस, हार सिंगार के पत्तों का रस, दशमूल क्वाथ में क्रमशः ३ ३ दिन खरल कर २ २ रत्ती की गोली बनाले छाया में सुखा ले। यह योग सम्पूर्ण ज्वरों को नाश करने म अक्सीर है।

## चन्दनबला लाक्षादि तैल—

३५—लाख चन्दन बला रास

—ये ६४ तोला लेना। १३ सेर जल में डाल पकाना चतुर्थांश शेष रहने पर उसमें १२८ तोला तेल तिल्ली का डाल देना।

कल्क द्रव्य—

रक्त चन्दन उशीर जाठौन
शतावर (नारबोद) कुटकी
देवदारु हल्दी कूट
मजीठ अगर नागरमोथा
असगन्ध बला दारुहल्दी
मूर्वा इलायची दालचीनी
नागकेसर रास्ना लाख
काली निर्गुण्डी चम्पा छरीला
अनन्तमूल बिड़नमक सैंधानमक
प्रत्येक १¼—१¼ तोला

—लेकर कल्क करले और कढाई में डाल ३¼ सेर बकरी का दूध डाल सिद्ध करले। तदनन्तर छान कर शीशी में रख डाट लगा ले, यह तैल काम, श्वास, रक्तपित्त, सर्वज्वर की दाह, कण्डू शिरो रोग, पाडु, क्षय को नाश करता है और बाल शोष पर भी उत्तम कार्य करता है।

## महा चन्दनादि तैल—

३६—सफेद चन्दन लाल चन्दन
पतङ्ग काला चन्दन अगर
देवदारु सरल (चीड का बुरादा) पद्माख
सुपारी दक्षिणी कपूर
कस्तूरी लता कस्तूरी (मुश्क दाना)
शिलारस केसर मोगरा
जायफल जायपत्री लौंग
छोटी लायची बड़ी लायची
कंकोल फल तेजपात
नागकेसर नेत्रबाला खस
जटामासी दालचीनी
शुद्ध कपूर छरीला नागरमोथा
रेणुका फूल प्रियगु गूगल
लाख नख धवा के फूल
राल ग्रन्थिपर्णी मजीठ
तगर मोम श्रीवास

स्पृक्का — सब द्रव्य ५-५ माशे

—लेकर अधकुटा करले, पश्चात् उसमें १ सेर तिल्ली का तेल और ४ सेर पानी मिला मंदाग्नि पर पकावे, जब पानी जल जाय छानकर बोतलों में भर कर रख लीजिये । यह उत्तम सुगन्धित तैल रक्तपित्त, क्षय, ज्वर, दाह, पसीना दुर्गन्ध, कुष्ठ और खुजली नाशक है । इसके नित्य मालिश से शरीर कान्ति युक्त और बलिष्ठ होजाता है।

## नेमा टानिक नं० १–

३७–मुनक्का बीज निकाले) १। सेर

| | | |
|---|---|---|
| असगन्ध | | कमल की जड़ का रस |
| पलास पुष्प रस | | शंखपुष्पी रस |
| धवा पुष्प | | सेमर पुष्प |
| ब्राह्मी रस | शतावर | बेर की जड़ |
| जासौन फूल का रस | | गुलाब फूल |
| कसेरु कन्द | | —हरेक १-१ पाव |
| त्रिफला काथ | | ३ पाव |
| लौंग | जायपत्री | जायफल |
| तेजपात | दालचीनी | इलायची |
| नागकेसर | त्रिकुटा | वायविडङ्ग |
| | हरेक २-२ तोला | |
| केसर | | १ तोला |
| कस्तूरी | | १ माशा |
| मिश्री | | ५ सेर |
| मधु उत्तम | | १। सेर |

निर्माण विधि—प्रथम मुनक्कों को ५ सेर पानी में डाल कलईदार बासन में मन्दाग्नि से औटाओ सवा सेर पानी बाकी रह जाने पर उतार लो, उक्त रसों को मुनक्का रस में मिला लो । पश्चात् असगन्ध, धवा पुष्प, सेमर पुष्प, गुलाब पुष्प, कसेरुकन्द, इनको ५ सेर पानी में डाल औटा लो , जब १। सेर रह जाये उक्त रसों में मिला लो, त्रिफला काथ भी मिला लो और बाकी चीजें कस्तूरी केसर को छोड़ कूट कर डाल दो। पश्चात् ५ सेर मिश्री की चासनी करो और जब १ तार वाली (जलेबी की) होजाय उतार लो । और एक चिकनी मटकी में भर कर १४ दिन तक सूर्य की तथा चांद की रोशनी में घड़े को रख दो। तदनन्तर छान कर १। सेर उत्ताम मधु मिला कर रख लो । केशर और कस्तूरी जब चासनी होती रहे गुलाब जल में घोंटकर डाल देना चाहिये। बोतलो में भरकर डाट लगा दो और काम में लाओ। यह बल वीर्य वर्धक, प्रमेह-प्रदर नाशक, उत्तम टानिक रस रक्तादि धातुओं को बढ़ाकर नव्य स्फूर्ति लाता है। मात्रा १ तोला चौगुने जल या दूध में लो ।

## द्राक्षारिष्ट–

३८–मुनक्का दाख निर्बीज ५ सेर

| | | |
|---|---|---|
| जल | | २० सेर |
| गुड़ | | $2\frac{1}{2}$ सेर |
| दालचीनी | इलायची | तेजपात |
| नागकेसर | वंशलोचन | कालीमिर्च |
| पीपल | वायविडङ्ग | जायपत्री |
| फूल प्रियङ्गु | | —हरेक २-२ तोला |

विधि—प्रथम मुनक्कों को जल में औटाओ, जब १० सेर जल रह जाय उतार लो, और गुड़ मिला दो । पश्चात् एक चिकनी हंडी में रस

को भर अन्य द्रव्यों को जौ कुट कर इसी घड़े में डाल कर घड़े का मुंह कपड़ मिट्टी से बन्द कर दो और सूर्य तथा चन्द्र की किरण एक माह तक पड़ने दो। पश्चात मथकर छान लो और बोतलों में भर कर काम में लाओ। कार्क लगादो यही सुप्रसिद्ध द्राक्षारिष्ट है।

## बृंहण यूप–

| ३९–कछुए का मास | १ छटाक |
|---|---|
| बकरे का उत्तम यकृत् | १ छटाक |
| छोटी लायची | चार आना भर |
| पीपल चूर्ण | दो आना भर |
| घी गाय या बकरी का | २ तोला |

—इन सब को २ सेर जल में मन्द २ आग से पका कर जब छंटाक रह जावे उतार छान गुनगुना पान करावे। इसके पीने से रक्ताल्पता दूर होकर शरीर का भार बढ़ता है। और ज्वर कम होता है। इसके अलावे बकरे का हृदय, दूध या सितोपलादि चूर्ण का अर्क पिलाने से भी फायदा होता है।

## क्षीरपाक विधि–

| ४०–उत्तम गाय का दूध | १ पाव |
|---|---|
| पानी | १ पाव |
| महीन पीपल चूर्ण | ३ माशा |
| गाय का घृत | १ तोला |
| मधु | ६ माशा |

विधि—दूध पानी एकत्र मिला कलईदार बर्तन में डाल मन्दाग्नि से पकावें इसी में पीपल भी डाल दें। जब पानी जल जावे उतार लें। पीपल को निकाल डालें और छान कर घृत मधु तथा मिश्री मिलाकर मथ लें और पिला दें।

## सूर्य रश्मि चिकित्सा–

शीशा द्वारा क्षय के तृतीय दर्जे के रोगियों को भिन्न २ अवस्थाओं में खास २ रङ्गों की रोशनी फेफड़ों पर डाली जाती है जिससे क्षय के कीटाणु मरने लगते हैं और रोगी शीघ्र से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

इसके लिये प्रायः तीन रङ्ग वाले दर्पण काम में लाये जाते हैं। (१) लाल रङ्ग, (२) बैंजनी, (३) नीला।

चेतावनी—जिस रोगी को खून आता हो या आने की सम्भावना हो उसे लाल रङ्ग का प्रयोग भूलकर भी न करो परन्तु जिसे कभी भी खून न आया हो और न आने की सम्भावना हो तो उसे लाल शीशे की रोशनी शीघ्र आराम करती है। जिसको खून गिरता हो उस क्षय रोगी को खून बन्द होजाने पर बैंगनी रङ्ग फेफड़ा पर देना चाहिये। क्योंकि लाल रङ्ग बहुत गर्म होता है और नीला ठण्डा और बैंगनी मातदिल है जो नीले और लाल मिलने से बनता है। किन्तु जब खून गिरता हो और शुष्क खासी हो तब नीले रङ्ग की रोशनी डाली जावे। रोगी को कड़ी धूप में पलङ्ग पर सुला दे और जिस अङ्ग में रोशनी डालनी हो वस्त्र रहित कर रोशनी गिरावे।

जिस रोगी को सग्रहणी होकर दस्ता से तङ्ग आ गया था, ऐसे क्षय रोगी को नीले रङ्ग की रोशनी डाली गई पर आधे घण्टे तक देने से ३-४ दिन में बन्द होगये।

दूसरे को हाथ पैर मुंह पर सूजन आगई थी और दबाने से गड्ढे भी पड़ते थे उसके चहरे पर सफेद शीशे का प्रकाश तथा हाथ और पैरों पर लाल शीशे की रोशनी डाली गई, यह क्रिया नित्य एक-एक घण्टा तक करने से ४-५ दिन में पूर्ण सफलता मिली। जिगर पर बैंगनी शीशे का रङ्ग डाला जावे। रङ्ग बिरङ्गे शीशों का अंशुदक जल भी अवस्था देख दिया जाय और विचार पूर्वक रोशनी रङ्गों की चुनकर डाली जाय तो क्षय रोग में बहुत कुछ आराम करने में सफलता मिल सकती है, जिन्हें विशेष जानना हो, "सूर्य रश्मि चिकित्सा" धन्वन्तरि कार्यालय की प्रकाशित देखें और चुनाव शीशों का रोगानुकूलकर लें।

उपरोक्त चिकित्सा में अन्य भस्में सत्व, चूर्ण आदि विश्वस्त कम्पनी या फार्मेसियों से मंगा ल या योग्य रीति से बना लें।

## सितोपलादि चूर्ण—

| | |
|---|---|
| ४२—मिश्री | १६ तोला |
| वंशलोचन | ८ तोला |
| पीपल छोटी | ४ तोला |
| इलायची छोटी का दाना | २ तोला |
| दालचीनी | १ तोला |

—सबको कूट पीस छानकर २ तोला सत्व अमृता मिलाले और उपयोग में लावे।

# यक्ष्मा की लाक्षणिक चिकित्सा

लेखक—वैद्यरत्न श्री प० रमाकान्त जी झा आयु० शास्त्री सह० सम्पादक "धन्वन्तरि"

आयुर्वेद में क्षय की चिकित्सा के लिये लगभग पाच हजार औषधिया का उल्लेख किया गया है। जिन्हे पढ़कर उनका यथोचित उपयोग करनेमें क्या कठिनाई उपस्थित होता है यह कहने की आवश्य-नहीं। अक्सर वैद्यो को ठीक २ औषधि निर्वाचन में दुविधा होती है और भ्रम सा हो जाता है। यह दुविधा साधारण चिकित्सकों को ही नहीं किन्तु कुशल और विज्ञ चिकित्सकों को भी हो जाती है। फलत यहा हम सिर्फ आयुर्वेदोक्त उन औषधियो का ही विशेषतया उल्लेख करेंगे जिनका अधिकतर व्यवहार किया जाता है और रोगी को भी उस उपयोग से लाभ होता है।

सर्व प्रथम इस रोग के प्रारम्भिक अवस्था की बात लीजिये। क्षय रोगियों का यह दुर्भाग्य है कि रोग प्रारम्भ की सूचना की पहिचान ही नहीं होती क्योंकि साधारणतया रोग के सूत्रपात के समय ऐसे लक्षण होते हैं जिनमे यक्ष्मा जैसी कठिन व्याधि की शका लोगो के मन मे पैदा ही नहीं होती, यदि कदाचित् कोई व्यक्ति विशेष सतर्कता से काम लेते हैं तो भी सफलता नहीं मिलती। क्योंकि प्राय ऐसा देखा जाता है कि प्रारम्भिक काल में लोग एलोपैथी की चिकित्सा की शरण लिया करते हैं। छाती और थूक की परीक्षा की जाती है किन्तु रोग प्रारम्भ के समय थूक या छाती म ऐसे किसी भी लक्षण का पता नहीं चलता कि जिससे यक्ष्मा का होना साबित हो। फलत और रोगों का चिकित्सा शुरू हो जाती है और धीरे २ यह रोग (यक्ष्मा) ला इलाज होता चला जाता है। अतएव विज्ञ चिकित्सकों को इसके प्रारम्भिक समय में ही विशेष सावधानी से कार्य करना चाहिये। जो वैद्य नाड़ी परीक्षा में विशेष अनुभव रखते हैं उनके लिये इस की परीक्षा में कठिनाई नहीं पड़ती है। भारतीय नाड़ी विज्ञान इतना वैज्ञानिक और प्रामाणिक है कि ध्यान देने वालों से भूल हो ही नहीं सकती। वशर्ते कि नाड़ी विज्ञान का पूर्ण अनुभवी हों। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह है कि रोग के प्रारम्भिक काल मे जो लक्षण प्रकट हों उन्हें अच्छी तरह देखें फिर चिकित्सा की व्यवस्था करें।

नीचे हम कुछ ऐसे लक्षणों को उल्लेख करते हैं कि जो यक्ष्मा के सूत्रपात में अनिवार्य रूप से दिखाई देते हैं। यथा क्रमश शरीर का सूखते जाना बीच २ में बुखार, काम, काम में जी न लगना, कोष्ठबद्धता, भूख की कमी, बदहजमी, छाती पीठ और पजरे मे दर्द अनुभव करना, दुर्बलता, रक्त हीनता, सुबह थोड़ी २ खासी होना, गाठोंकी सूजन वजन शरीर का लगातार कम होते जाना, थूक के साथ खून के छीटे दिखाई देना, प्रात प्राकृतिक ताप से भी तापमान कम हो जाना आदि २।

यह कोई जरूरी नहीं कि ये सब लक्षण एक साथ ही प्रकट हो जाय, एक या एकाधिक लक्षणों को देखकर रोग का अनुमान करना चाहिए, यदि रोगी का शरीर अकारण ही सूखता जाता हो और उपरोक्त उपसर्गों में से एक दो वर्तमान हों तो

निम्नोक्त प्रयोग में से किसी एक का प्रातःकाल नियमित रूप से सेवन करना चाहिये।

## अभ्र योग—

४३–पारा १ तोला
गंधक २ तोला
अभ्रक भस्म ३ तोला

—तीनों को ग्वारपाठा के रस में घोटकर रेंडी (एरण्ड) के पत्तों में लपेट कर धान के ढेर में तीन दिन तक गाड़कर रखदें। बाद में उसे निकाल कर बकरी दूध में पीसकर २-२ रत्ती की गोलियां बनावें और अवस्थानुसार अश्वगन्धा चूर्ण, घी और शहद, वंशलोचन चूर्ण, या आंवले के रस के साथ सेवन करें।

## आदित्य रस—

४४–पारा भस्म मुक्ता भस्म स्वर्ण भस्म
ताम्र भस्म —प्रत्येक १-१ तोला।

—सबको ग्वार पाठे के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोली बनाकर १ तोला अदरख का रस शहद और शक्कर के साथ पीसकर सेवन करना चाहिये।

## शिलाजीत योग—

४५–शुद्ध शिलाजीत बङ्ग भस्म स्वर्ण भस्म
कज्जली —प्रत्येक १-१ तोला।

—लेकर सबको पान के रस में खरल करलो फिर सिमरकन्द, शतावर और आंवले के रस में खरल कर ४-४ रत्ती की गोलियां बनाकर घृत और शहद के साथ सेवन करे।

## च्यवनप्राश—

अगर रोगी कमजोरी महसूस करता हो, थोड़े ही श्रम से हांफता हो, दम फूल जाता हो, हाथ-पांव और आंखों में जलन होती हो तो थोड़े शहद के साथ ६ माशा की मात्रा मे प्रातः सायम् सेवन करना चाहिये।

## द्राक्षारिष्ट—

भी अवस्था विशेष में बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

## अश्वगंधादि घृत—

अगर रोगी का शरीर द्रुत गति से क्षय प्राप्त होता हो तो प्रति दिन तीसरे पहर थोड़े से गर्म दूध के साथ आधा तोला ( ६ माशे ) सेवन करना बड़ा लाभदायक होता है। किन्तु ध्यान रहे कि रोगी की पाचन शक्ति ठीक होना चाहिये। स्नायुओं की दुर्बलता के लिये तो यह बहुत ही उपकारी है।

## फलकल्याण घृत-

जिन स्त्रियों को ऋतु दोप-सन्तति जनन जनित दुर्बलता आदि के कारण यक्ष्मा से आशक्त होना पड़ता है उनके लिये यह बड़ा उपकारी है। इसके अतिरिक्त मध्यम नारायण तैल, दशमूल तैल और अश्वगन्धादि तैल अवस्था विशेष में मालिश करने से विशेष लाभ होता है।

## सुवर्ण भस्म—

पारा और गन्धक द्वारा भस्म किया हुआ स्वर्ण भस्म घी या शहद अथवा मलाई के साथ सेवन करने से ( मात्रा २ रत्ती ) सब प्रकार का क्षय रोग दूर होता है और कान्ति बढ़ती है।

## वसन्त कुसमाकर रस—

बहुमूत्र से होने वाली यक्ष्मा के लिये यह विशेष लाभदायक है।

## मृतसंजीवनी—

अतिसार, प्रसूतिका और ग्रहणी जनित धातु दुर्बलता के होने वाले क्षय को यह नाश करता है। यह अव्यर्थ महौषधि है, किन्तु कोष्ठबद्धता के रोगी के लिये इसका सेवन हानिकारक होगा।

## मदनानन्द मोदक—

अजीर्ण और अम्लपित्त जनित धातु दुर्बलता से अगर शरीर का क्षय होता हो तो लगभग आधा तोला यह मोदक शहद के साथ खूब मिलाकर सेवन करना चाहिए, कोष्ठबद्धता में इसका सेवन अनिष्टकर है।

## क्षय पूरण—

के लिये धातृघृत, अश्वगन्धादि घृत आदि पुष्टिकर घृत पान कराना चाहिये। इससे शीघ्रातिशीघ्र क्षय का नाश होता है।

सुवर्ण भस्म लोह भस्म, ताम्र भस्म में से एक या दो का प्रयोग प्रयोजन के अनुसार करना चाहिये और तदुपरांत गाय का घृत तथा दूध पिलाने की व्यवस्था करे।

अगर रोगी को घृत पान से अरुचि या वह हजम न हो सकता हो तो सैंधवादि चूर्ण, भास्कर चूर्ण आदि के सेवन से बड़ा लाभ होता है। इससे अग्नि वृद्धि और रुचि होती है। धातु भस्म का सेवन करने से दूध और घी पचाने की शक्ति बढ़ती है।

द्राक्षारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट आदि अरिष्ट और द्राक्षासव, लोहासव आदि आसवों का दोनों समय उपयोग भी लाभदायक सिद्ध होता है। इसके सिवाय विज्ञ चिकित्सक को अवस्थानुसार व्यवस्था करनी चाहिये। जो आसव या अरिष्ट रोगी के लिये अधिक उपकारी हों उन्हीं का व्यवहार करना चाहिये।

यक्ष्मा में क्षय का प्रधान कारण वायु है, शोषज यक्ष्मा में वायु इतनी प्रबल होती है कि रोगी को बहुत शीघ्र ही सुखाकर काष्ठ बना देती है। अतः वायु प्रशमन का उपयोग शीघ्र ही करना चाहिए, और यही सुचिकित्सा का लक्षण भी है। आयुर्वेद मतानुसार शोष निवारण और वायु प्रशमन का सबसे अच्छा उपाय घृतपान है।

## घृतपान विधि—

शोषज रोग के प्रतीकार के लिए भैंस के घी से गाय का घी अच्छा और अधिक उपकारक है। भैंस का घी गाय पित्त नाशक और गाय का वात नाशक और पित्त नाशक है। घी के साथ मांस, मछली नहीं खाना चाहिए इससे अजीर्णता एवं तज्जनित अनेक हानिकारक उपसर्ग उपस्थित होते हैं घी पीने के बाद तुरंत पानी पीना हानिकारक है। घृत पान के बाद कड़ुआ तीता और खट्टा भी तुरंत नहीं देना चाहिये क्योंकि इससे भी अजीर्ण बढ़ती है। बकरी का घृत सबसे उत्तम है, इससे पेट खराब होने की आशङ्का नहीं रहती है। उदरामय से पीड़ित क्षय रोगी को बकरी का घृत ही अधिक उपकार करता है। अश्वगंधा, अर्जुन आदि औषधियों के साथ बकरी का दूध जमाकर उसका घृत बनाने से भी उपकारी सिद्ध होता है।

## रसघटित मिश्र औषधि-

नागार्जुन प्रयोग, महा मृगांक रस, वज्र रस, अग्निरम, प्रवाल योग आदि से शोषज यक्ष्मा के रोगियों को आशातीत लाभ होता है। ज्वर नाश में तो इससे बड़ी सहायता मिलती है।

## आयुर्वेदीय कैलसियम-

मुक्ता, चुन्नी, मूङ्गा, शुक्ति, अभ्रक, हीरा, शङ्ख, हरताल, शिलाजीत, रसांजन, वंशलोचन, सोना, चांदी, लोहा, पीतल, कांसा, सीसा, जस्ता आदि धातु भस्म, दूध, घृत, दही के छींटे देकर यक्ष्मा शीघ्र दूर होता है। प्रमेह जनित क्षय में वङ्गभस्म, विलोम क्षयज शोष में मुक्ता, लोहा और अभ्रक भस्म क्षतज शोष में हरताल और रस भस्म, रक्त शून्यता जनित शोष में स्वर्ण भस्म का प्रयोग करना चाहिये इन कैलसियमों के प्रयोग से आशातीत लाभ होता है।

जो शोष व्यायाम के कारण उत्पन्न होता है, उसके लिये रोगी को घृत, दूध सेवन करना चाहिए राजमृगांक रस, एलादि वटी का प्रयोग करना लाभदायक है।

## शुक्र जनित शोष में—

घृतपान कराना चाहिये। अगर बुखार न रहता हो तो च्यवनप्राश, अमृतप्राशावलेहादि उपकारी होता है और यदि बुखार बना रहता हो तो वृहत् वङ्गेश्वर, अग्नि रस, वृ० वात चिन्तामणि प्रभृति से लाभ होता है। वृ० चन्दनादि तैल और मध्यम नारायण तैल क्षय नाशक है।

## पर्यटन जनित शोष-

इस शोष में घृत, दूध का प्रयोग उपादेय है। रोगी को आराम मिलना चाहिये। दिन में सोना लाभदायक है।

## शोकज शोष-

इसमें रसराज रस, वातचिन्तामणि रस, च्यवनप्राशादि का सेवन करना चाहिये। रोगी को सान्त्वना देना और प्रसन्न रखने की चेष्टा करना उचित है।

## प्रतिश्याय जनित यक्ष्मा-

इसमें सेंक धूम्र पान आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। प्रथमावस्था में रोगी को स्नान करने से रोकना चाहिये। जरूरत होने पर सिर्फ शिर धो लेने से काम चल जायगा। आगे चलकर स्नान की व्यवस्था आवश्यक है। मुलैठी, गिलोय (गुर्च) आदि को पानी में उबाल कर उसी पानी से शिर को धोना चाहिये। रोगी को धनियां और सोंठ के साथ उबाला हुआ पानी पीने के लिये देना चाहिये। दशमूल तैल की मालिश करने से उर्ध्वश्लेष्मा का नाश होता है। स्नान के पूर्व चन्दनादि तैल लगाना चाहिये। दोनों शाम भोजनोपरान्त दशमूलारिष्ट का सेवन उत्तम है। प्रातः सायम् अदरख और शहद के साथ महा लक्ष्मीविलास रस का सेवन करना चाहिये। अथवा शाम को पान के रस और शहद के साथ सर्वाङ्गसुन्दर रस का सेवन करना बड़ा उपकारी होता है।

## न्यूमोनिया जनित यक्ष्मा--

न्यूमोनियां में कुछ दिन तक महा मृगांक रस सेवन करने से यक्ष्मा का आक्रमण नहीं होता।

[ शेषांश पृष्ठ १६८ पर देखें ]

# क्षय और आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति

लेखक-कविराज डा० श्री वेदव्यासदत्त जी शर्मा शास्त्री, M. B & S. आयुर्वेदाचार्य, धन्वन्तरि, वैद्य वाचस्पति, क्षयरोग विशेषज्ञ, स्वर्ण तथा रौप्य पदक प्राप्त, मैहदरूया ६८ टि जालन्धर (पंजाब)

डाक्टर लोग (ऐलोपैथी वाले) अपने मतानुसार क्षयरोग को एक विशेष प्रकार के कीटाणुओं से उत्पन्न होना मानते हैं। इसी लिये डाक्टर लोग क्षय की चिकित्सा में उन उपायों पर विशेष रूप से ध्यान देते हैं, जो उक्त जीवाणुओं को नष्ट कर सकें। आयुर्वेद का चिकित्सा क्रम इससे कुछ भिन्न है। आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति के अनुसार यद्यपि उक्त कीटाणु सेना पर कोई सीधा प्रहार नहीं किया जाता परन्तु ऐलोपैथिक चिकित्सा की अपेक्षा इस विधि से सफलता इतनी अधिक प्राप्त होती है कि अब तो बड़े २ डाक्टर भी क्षय रोग में स्वर्ण वसन्त मालती, द्राक्षासव, सितोपलादि अवलेह देने लगे हैं। अत. अपनी प्राचीन आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का अनुकरण करना चाहिये।

इस रोग में स्नेह भाग का शरीर में ह्रास हो जाता है और स्रोत मार्गों का अवरोध होजाता है, आहार का रक्त न बन कर अधिकांश भाग का मल (दोष) बनता है। इसलिये इसकी यह व्यवस्था करनी चाहिये जिससे स्नेहांश की वृद्धि हो और स्रोत मार्गों का अवरोध नष्ट होकर रक्त का अभिसरण भली प्रकार से हो, और पाचनशक्ति का सुधार हो, इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार से करें।

प्रातः सायं—स्वर्ण वसन्त मालती १ रत्ती, सर्व ज्वर हर लौह १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा, पिप्पल्यादि घृत तथा मधु विषम परिमाण के साथ दें।

भोजन के बाद—द्राक्षासव, कुमारी आसव दोनों को मिलाकर बलाबल के अनुसार दें।

यदि वमन और अतिसार हो तो सितोपलादि के स्थान में तालीसादि चूर्ण मिला कर देवें। यदि खांसी अधिक आती होतो "क्षयादर्श" नामक पुस्तक का वासारिष्ट दें। रोग की प्रथमावस्था में जब रोगी का बल क्षय न हुआ हो, नित्य प्रति श्वास क्रिया का व्यायाम साथ में करें (इसकी विधि मेरे दूसरे लेख में देख लें जो इसी अङ्क म १०० पृष्ठ पर छपा है) यह अभ्यास केवल ५-५ मिनट प्रातः और सायं करें। इससे अधिक धीरे २ क्रम पूर्वक बढ़ावें।

## क्षय की द्वितीय अवस्था में—

ज्वर अधिक आता हो, पसीना भी बहुत आता हो, निर्बलता भी अधिक होगई हो तो जयमङ्गल रस १ रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, राजमृगाङ्क आधी रत्ती तीनों को मिलाकर पिप्पल्यादि घृत (च० चि० अ० ८) तथा मधु विषम भाग में मिला कर प्रात: सायं सेवन करावें। यदि बलगम के साथ रक्त भी आता हो तो अनुपान में वासा तथा लाख का क्वाथ दें। शरीर में दाह अधिक हो तो शरीर पर चन्दनादि तैल या लाक्षादि तैल की मालिश नित्यप्रति करें। पसीना रोकने के लिये विद्रुम भस्म साथ में मिला कर दें। और शरीर पर निम्नरा धूरासूखा भी मल दें।

४६—चने की भुनी हुई दाल ( छिलका रहित )　८ तोला

| | |
|---|---|
| कण्डे की राख | २ तोला |
| कायफल | १ तोला |

—इन्हें कूट कपड़ छान कर चूरा बना लें बाद में शरीर पर मलें।

यदि ज्वर ठण्ड देकर आता हो तो क्षय में पसीना लाने वाली दवा न दें।

## पुनः क्षय की द्वितीयावस्था—

मौक्तिक भस्म आधी रत्ती, स्वर्ण भस्म आधी रत्ती, हेमगर्भ पोटली रस ½ रत्ती, च्यवनप्राश १ तोला में मिलाकर प्रातः सायम् सेवन कराने से लाभ होता है।

खांसी जुकाम में वृहत शृङ्गाराभ्रक भस्म १ रत्ती, वांसावलेह ३ माशे के साथ सेवन करायें।

प्रतिश्याय के लिये व्योपादि वटी सेवन करायें, यदि रक्तोत्कास हो तो दूर्वाघृत ३ माशा मधु ५ माशा में मिलाकर सेवन करें। कुष्माण्डावलेह दिन में ३-४ बार खाने के लिये दें।

## तृतीयावस्था -

इस अवस्था में रोगी के पहुंचने पर प्रायः सफलता कम मिला करती है। इसमें भी पूर्व कथनानुसार राजमृगाङ्क, स्वर्ण वसन्त मालती, जवाहरमोहरा प्रभृति पूर्वोक्त औषधियां ही दी जाती है।

## क्षय पर अन्य औषधें -

१—वसन्त कुसुमाकर रस ( र० रा० सु० )—क्षय, रक्तपित्त, और धातु दौर्बल्य, प्रमेह क्षय, बारम्बार मूत्र आना, जीर्ण ज्वर, आदि मे विशेष करके लाभ दायक है। अनुपान भेद से अनेक रोगों को नाश करता है। यह अत्युत्तम पौष्टिक रसायन है।

२—वृहत् चन्दनादि तैल ( भै० र० )—क्षय, कास, जीर्णज्वर और ज्वर की खुश्की में शरीर पर इसकी मालिश करने से बहुत लाभ होता है। फेफड़ों को मजबूत बनाता है।

३—रत्नगर्भ पोटली रस ( भै० र० )—नवीन और पुरातन हर प्रकार की खांसी, क्षय, कास, राजयक्ष्मा, धातु क्षीणता, संग्रहणी और निर्बलता के लिये बहुत लाभ दायक है। मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। अनुपान मधु पीपल चूर्ण।

४- हेमगर्भ पोटली रस ( र० सा० सं० )—राजयक्ष्मा, धातु क्षीणता, जीर्ण ज्वर, और निमोनियां की अक्सीर दवा है। मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक शृङ्ग भस्म मे मधु मिलाकर सेवन करायें।

## अनुभूत क्षयान्तक रस--

४७—लोह भस्म　　रससिंदूर　　त्रिफला
गुरवेल (गिलोय) सत्व　—सब २-२ तोला
मुक्तापिष्टी　　स्वर्ण भस्म
केशर　　—तीनों ४-४ माशे
हजारदानाबूटी का शुष्क पञ्चाङ्ग २॥ तोले
कस्तूरी　　१ माशा
प्रवाल भस्म　　शंख भस्म　　शृङ्गभस्म
अकीकभस्म　　स्वर्णमाक्षिक भस्म
पांचों १-१ तोले

--इन सब को इकट्ठे मिलाय अडूसे के स्वरस में ३ दिन घोटें, फिर मीचकना के पत्तों के स्वरस

में तीन दिन घोटें, बाद १-१ रत्ती की गोलियां बनाकर रख लें। इनमें से १-१ गोली विषम मधु और घृत के साथ लेने से क्षय-राजयक्ष्मा पांडु शिर का जकड़ना, जीर्णज्वर, प्रमेह, प्रदर, मन्दाग्नि, सोमरोग, धातुशोष, वातश्लेष्म ज्वर को आराम करता है।

## यक्ष्मा हर रस -

४८—सङ्गजराहत श्वेत कत्था
जहरमोहरा गोंद कीकर कतीरा
निशास्ता सफेद खसखस
तुख्म खतमी सोना गेरू
ये सब ६-६ माशे
अफीम कपूर १-१ माशा
स्वर्ण भस्म अभ्रक भस्म
लोह भस्म प्रवाल पिष्टी
मकरध्वज प्रत्येक ३-३ माशा

—इन औषधियों को पीसकर जल से २-२ रत्ती की गोलियां बना रखें। एक २ गोली प्रातः सायं बकरी के दूध के साथ सेवन कर ने से सब प्रकार की राजयक्ष्मा सिल आदि नष्ट होने हैं। ( विष पहाड से )

## पथ्यापथ्य--

रोगी के पथ्य पर ध्यान रखना परमावश्यक है। क्षयरोग का अच्छा होना रोगी की पाचन दशा पर निर्भर है, इसलिये पथ्य का प्रबन्ध ठीक करना आवश्यकीय है। पुराने गेहूं के आटे की रोटी, बकरे का या जांगल्य जीवों के मांस का रस, परवल, बैंगन, गूलर, कच्चा केला, बथुआ, कटहर के बीज, पुराने चावल, या साठी चावलों का भात, मूंग की दाल, अरहर की दाल, आंवला, अद्रक, धनियां, पका कैथ, नीबू, लौंग, इलायची रात्रि में भूख हो तो साधारण भोजन अथवा दूध, साबूदाना, अथवा दूध अरारोट, वा जौ की रोटी लेवें। बकरे का मांस रस, बकरी का दूध, मक्खन मठा, पनीर, बकरी का घी खा सकते हैं। जिस समय मांस रस लें उस समय दूध न लेवें। यदि मुख से रक्त गिरता हो तो रोटी न खायें। दूध साबूदाना अथवा अरारोट या गेहूं का दलिया ले सकते हैं। तरकारी (शाक भाजी) घी में बना सकते हैं। नमक में सैंधव लवण लें। जल गर्म करके ठण्डा किया हुआ व्यवहार करें।

## अपथ्य (अहितकर) द्रव्य -

इस रोग में लाल मिर्च, दही, खट्टा, अधिक नमक, सेमफली, अधिक शारीरिक व्यायाम, खट्टी वस्तुयें, उरद की दाल, मटर, हींग, मलमूत्रादि वेगों का रोकना, चरस, गांजा, तमाखू, शीत लगना जोर से बोलना या गाना, घोड़े हाथी की सवारी, नङ्गी पीठ सवारी, मैथुनादि निषिद्ध हैं। ओस में बैठना, आग से तापना, रात को जागना, मूली, आलू, प्याज, आदि अनिष्ट कारक हैं।

[ पृष्ठ १६६ का शेषांश ]

न्यूमोनियां से होने वाली यक्ष्मा के रोगी को प्रातः पान के रस और शहद के साथ आदित्य रस या महा लक्ष्मी विलास रस, मध्यान्ह में जेठीमध या वाकस के पत्ते का रस और शहद के साथ वसन्त तिलक रस-सायम् शहद के साथ शृंगादि चूर्ण सेवन कराना चाहिये। दोनों शाम भोजनोत्तर शीतल जल के साथ दशमूलारिष्ट पिलाना उचित है। पुराने घृत या चन्दनादि तैल को मालिश से बहुत लाभ होता है, ताजे फल के रस से रोगी को असीम लाभ होता है। रोगी के रहने का स्थान साफ सुथरा रहना चाहिये। ऋतु परिवर्तन के समय रोगी की देख भाल में बहुत अधिक सतर्कता रखनी चाहिये, न्यूमोनियां से जर्जर हो जाने पर फेफड़े की यक्ष्मा होती है।

# राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रणाली

लेखक—श्री० पं० विश्वनाथ जी द्विवेदी, प्रिंसिपल ल० इ० आयु० कालेज पीलीभीत।

## चिकित्सा—

आजकल की चिकित्सा प्रणाली में संस्थानिक आंगिक व लाक्षणिक तीन प्रकार की चिकित्सायें होती हैं। यही सर्व विधि महर्षि चरक ने बतलाया है। हम क्रमशः संस्थानिकादि क्रम से उन पर प्रकाश डालेंगे। किन्तु इससे पूर्व दो प्रधान चिकित्सा विधियों का उल्लेख करेंगे, वे हैं—

१—स्वास्थ्य रक्षण चिकित्सा
२—व्याधि निवर्हण चिकित्सा

## स्वास्थ्य रक्षण—

रोग न हो और राजयक्ष्मा से बचें इसका बड़ा ही उपयुक्त क्रम हमारे प्राचीन चिकित्सकों ने रक्खा है। और स्वरूप धार्मिक दिया गया है। ताकि सब करें। यथा—

१—प्रातः सायं संध्योपासन में प्राणायाम करना।
२—सूर्योपस्थान करना।
३—यज्ञ व हवन।
४—ऋतुचर्या, दिन व रात्रि चर्या।

इसमें दिनचर्या व रात्रिचर्या व ऋतुचर्या में प्रायः सब आ जाता है। किन्तु यह विशेष आदि-तत्व रखते हैं अतः वर्णन किया है।

१—प्राणायाम व श्वास प्रश्वास की क्रिया द्वारा कण्ठ श्वास प्रणाली व हृदय को दृढ़ करता है। जिससे कि व्याधि का असर नहीं होता। इस से इनका व्यायाम होता है. और प्राण शक्ति बढ़ती है।

२—सूर्योपस्थान—सूर्य के सामने कुछ समय तक खड़े होकर केवल खुले शरीर से किया जाता है या हल्का कपड़ा पहन कर ताकि सूर्यरश्मि का असर सर्वाङ्ग शरीर पर हो और प्राण शक्ति बढ़े। अस्थियों में विटामिन "डी" की उत्पत्ति द्वारा दृढ़ व पुष्ट हों।

३—यज्ञ व हवन से-शुद्ध वायु श्वास प्रश्वास के लिये प्राप्त करना व हवा में के यक्ष्मा जीवाणुओं को निकाल कर शुद्ध वायु प्राप्त करना जो गुग्गुलु गुड़, तिल, यव, शहद व घृत के होम से ही होता है।

४—दिनचर्या व रात्रिचर्या से शरीर निरोग व स्वस्थ्य रहता है।

## व्याधि निवर्हण—

इसमें प्रत्येक व्याधि के लक्षणों का अध्ययन कर उसे दूर करने का ध्यान रखते हैं। इस चिकित्सा प्रणाली में ही संस्थानिक चिकित्सा, व लाक्षणिक चिकित्सा आते हैं और उनका ही विवरण अब त्रिविध, षड् विध व एकादश विध लक्षणों में करेंगे।

## संस्थानिक—

त्रिविध लक्षण में पाचक संस्थान (Degestie-Systen) रूप वाहक संस्थान (Cercutatary Systen) श्वास प्रश्वास संस्थान (Resperatary

Systen ) अधिक विकृत होते हैं। अत इनकी चिकित्सा करना आवश्यक है, ताकि आमाशय, पक्वाशय, फुफ्फुस, हृदय व शरीर के अन्य अङ्ग उपर्युक्त कार्य करने लगे।

## करपाद दाह—

पाचक संस्थान के रसवाही स्रोतसों के मुख के सिकुड़ जाने से आगे रस धातु ठीक नहीं बनता अत श्लेष्मा संस्थान में रस की अधिकता होती है। उत्क्लेश, छर्दि, अरुचि, अङ्गमर्द, सन्धि शैथिल्य, शिरसोऽभिताप इत्यादि लक्षण होते हैं। रक्त की प्राप्ति करपाद में पूरे रूप में न होने से दाह, धातु पोषण की कमी व स्थानीय धातु शोष का चिह्न प्रथम प्रकट होता है।

अत प्रथम चेष्टा इस लक्षण के ज्ञात होते ही पाचक संस्थान के संरक्षण करना चाहिए।

## चिकित्सा

*रुचि वर्धक, अम्ल, लवण व कटु रस वाले तथा उष्ण पदार्थों द्वारा निर्मित पदार्थ लेकर रुचि वृद्धि, अग्नि संदीपन व स्रोतसरोधापकर्षण प्रथम कर्तव्य है। यह प्रकार अर्क लवणादि पदार्थों द्वारा कल्पना करना वैद्य की बुद्धि पर निर्भर है तथा इनमें जो अधिक रुचिकर रोगी को ज्ञात हो उसको संयम व नियम पूर्वक देना आवश्यक कर्म है। रक्त वाहक व श्वास संस्थान की विकृति से व तत्स्थानीय स्रोतसोपरोध से जो फुफ्फुस इत्यादि में होते हैं उनके श्वास कास अशक्तापादि लक्षण होते हैं और यह आवश्यक है कि इनका बलवर्धक चिकित्सा हो।

## बाह्य चिकित्सा—

जिस रोगी का मांस सूख रहा हो, स्रोतसों के मुखावरोध से तापमान, संताप, अभिताप अधिक हों ऐसी दशा में बाह्य उपचारों को करना आवश्यक है। इनमें सर्व प्रधान स्रोतसों के मुख संकोच को दूर करने की विधि में—

| | |
|---|---|
| १—अवगाहन | २—उत्सादन |
| ३—अभ्यङ्ग | ४—स्नान |
| ५—पूजन | ६—पान व भोजन |

यह प्रधान कर्म हैं।

## अवगाहन- ×

शरीर में पहले दोपहर स्नेह ( तैल व घृत ) का मालिश कराकर के तब अवगाहन करना ठीक होता है। शुष्क वस्तु की मृदुता लाने के लिये स्निग्ध वस्तु का मर्दन व फिर सेक करने से शुष्क बांस व लकड़ी भी जैसे चाहे झुकाये जा सकते हैं तो फिर शरीर में यह स्निग्धता क्यों नहीं आयेगी। विधि—लोहे, काष्ठ या अन्य किसी वस्तु की द्रोणी

---

* लवणाम्ल कटूष्णाश्च रसस्नेहोर सहित। व्यावर्तित्तिर दशायां वर्तोकानां चकल्पयन ॥

× १—स्नेह चारेऽम्बुकोष्णेन स्वभ्यक्त मवगाहयेत्। घोनोविवध मोक्षाय वलपुष्टयर्थ मेव च ॥ च० चि० ८

२—गौर सर्षप कल्केन गन्धैश्चापि सुगन्धिभि। स्नायात्तुसुमैस्तोये जीवनीयौषधे शृतम् ॥

( प्रकोष्ठ ) हौज बनवाकर निर्माण करना चाहिए, उसमें स्नेह ( तैल, घृत, वसा ) क्षीर ( दुग्ध जीवनीयौषधि, पक्व या शुद्ध दूध ) गंध द्रव्य युक्त जल को उसमें भर देना चाहिए। शिर मात्र बाहर रहे और बाकी हिस्से द्रव के अन्दर रह सके ऐसी द्रोणी या हौज तैयार होना चाहिए। इसमें नियम-पूर्वक ५ मिनट से ३० मिनट तक बैठकर अवगाहन करने के लिये समय क्रमशः बढ़ाना चाहिए।

## परिणाम-

प्रथम स्नेह जो औषधि सिद्ध हो जैसे बला तैल शतपाक बला तैल, महामाष तैल से पूर्ण द्रोणी में अवगाहन करना चाहिए। फिर दूध में पश्चात् पानी में। इससे शुष्क शरीर में द्रव का शोषण अधिक न होकर धीरे २ होता है और स्रोतसों में प्रविष्ट द्रव शरीर के तापमान को नहीं बढ़ाता या न कोई कासादि उपद्रव बढ़ता है, स्नेह को छोड़कर क्षीर व जल में अवगाहन तो अभ्यङ्ग कराकर ही दिये जाते हैं। यदि स्नेहावगाहन कठिन हो रोगी उसे न कर सके तो स्नेह का अभ्यङ्ग करके क्षीर या जलावगाहन ठीक है। इससे त्वचा के स्वेद स्रोतम मुख खुलते हैं फिर शोषण त्वचा द्वारा देकर शरीर के नीचे के स्तरों में पहुंच कर शरीर के अभिताप, संताप व ज्वर को कम कर देते हैं।

उत्सादन—

वर्ण्य, त्वक् शोधक, वर्णोत्कृष्टकारक, स्निग्ध पदार्थों द्वारा निर्मित, स्नेह मिश्रित पदार्थों का उत्सादन करना चाहिये।

अभ्यंग—

उत्सादन के बाद लेप हटाकर फिर सुखाकर स्नेहावभ्यंग करना चाहिए।

स्नान—पूजन पान व भोजन यह रुचि अनुकूलतया रोगी के बल, वर्ण को देखकर स्निग्ध, मृदु, उष्ण, शीत वैद्य को स्वतः कल्पना करना चाहिए।

## आभ्यन्तरिक चिकित्सा–

ऐसे द्रव्य जो भीतर के ताप को कम कर सके धातु शोथ व स्रोतमों के संकोच को दूर कर सकें ऐसे पदार्थ देना आवश्यक है। अतः मद्यांश युक्त आसव, अरिष्ट का सेवन भी मद्यांश के उष्ण विशद व सूक्ष्म होने के कारण स्रोतमों के मुख को खोल देते हैं।

यही कारण है कि द्राक्षासव, मधूकासव, दश-मूलासव, कूष्मांडासव, अंगूरासव यह आसव तथा इसी प्रकार के अन्य वस्तु अधिक प्रयुक्त होते हैं और लाभ भी करते पाये जाते हैं। मद्य व आलको-हल युक्त मृतसंजीवनी सुरा, वारुणी, मद्य इनका प्रयोग लाभदायक होकर रुचि वर्धक व रस रक्तादि धातु का पुनः साधक बनता है। किन्तु इन रोगियों में इन आसवों का प्रयोग १-१ तोले न होना चाहिए बल्कि भोजन के साथ आदि मध्य अन्त व ग्रास ग्रासान्तर में प्रयोग रोगी की शक्ति के अनु-सार होना चाहिए।

## रसोपरस चिकित्सा–

धातुओं में स्वर्ण, रजत, कन्त लौह, यह विशेष लाभदायक होते हैं और इनसे निर्मित खल्वी रस भी लाभदायक होते हैं। तथा मोती, शुक्ति, प्रवाल, शंख, कपर्द के यौगिक तो तीक्ष्ण, उष्ण विशद व सूक्ष्म स्रोतम गामी होने से अत्यधिक लाभदायक होते हैं। स्वर्ण व स्वर्ण के योग यदि

इन चूने के अंश ( Calcium ) युक्त हो तो हठात् स्रोतसोवरोध भजन कर धातु निर्माण करते हैं। इनके योगा में प्रधान—

१—मृगाक २—राजमृगाक
३—राजेन्द्र रस ४—रसेन्द्र
५—महागन्धक ६—लोकनाथ रस

प्रधान योग हैं।

यह दीपन, पाचन, स्नेहल तथा बल वर्ण वर्धक होते हैं। चूर्ण के योगों में पिप्पली व वशलोचन युक्त योग लाभदायक होते हैं। यह भी तीक्ष्ण, उष्ण, विशद व सूक्ष्म स्रोतस मुख खोलते हैं, यथा—

सितोपलादि, तालीसादि, चौंसठ प्रहरी पीप्पली इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनमें वशलाचन मे सिलीका के पर्याप्त अ श होते हैं पिप्पली व मिर्च के योग से रोचक, बलद व मुख के शोधक श्लेष्म के रसवाही स्रोतसों को खोलते हैं, ऐसे योगों में यमानी खाण्डव दाड़िमाष्क बहुत ही उत्तम रोचक, पाचक, दीपक मुख वैशद्यकर होते हैं।

अथर्ववेद ने स्वर्ण के शतानीक स्वर्ण ( शतपुटित स्वर्ण भस्म ) का प्रयाग यक्ष्मा मे बतलाया है। विषमाशनज व वेगरोधात् मे शख का उपयोग बतलाया है।

रस सिद्धों ने रस के योगों मे—मकरध्वज, सिद्ध मकरध्वज, शुद्ध खनिज हिंगुल को खर्पर, लोह व स्वर्ण के योगा के साथ उपयोगार्थ बतलाया है।

बसन्त मालती, बसन्तकुसुमाकर, वसन्ततिलक रसराज रसेन्द्र इत्यादि उत्तम योगा का निर्माण करके उनका प्रयोग करना बतलाया है।

वनौषधियों म—अश्वत्थ फल, बट के फल, व क्षीर बला, शीशम, माषपर्णी, शतावरी, मधुयष्टि का प्रयोग अकेले ही सफलता पूर्वक बतलाया हैं, और प्रयोग करके सफलता पूर्वक लाभ बताया गया है।

स्नेह चिकित्सा मे—शतपाकबलाघृत, बलाघृत, क्षीरकल्याणघृत, छागलाद्यघृत, कुमारकल्याण घृत का प्रयोग है। जो शोष की मात्रा बढाने मास शोष होने, वजन कम होने पर प्रयोग किये जाते हैं।

तैलों म—चन्दनादि तैल, महा चन्दनादि तैल, विष्णु तैल का उपयोग लाभप्रद होता है। इनका अभ्यङ्ग, त्वक शोष, करपाद दाह, अंश-पार्श्वाभिताप, और सर्वाङ्ग ज्वर में अतीव लाभदायक है।

इसके अतिरिक्त गन्ध, माला, आभूषण वस्त्रों का धारण करना तथा हर प्रकार प्रसन्न रखकर मनोज्ञ इच्छित आहार देकर ब्रह्मचर्य, दान देवता र्चन इत्यादि द्वारा प्रसन्न रखना चाहिये। जलवायु का परिवर्तन भी इसमें लाभदायक है।

इन विधियों से चिकित्सा करने पर यक्ष्मा दूर किया जाता है। केवल च्यवनप्राश व सितोपलादि या एक दो बड़े रस देकर चिकित्सक सफल नहीं होते क्योंकि यह व्याधि बहु व्यय साध्य है, धनी लोग ही इसे कर सकते हैं और इनमें ही यह अधिक होता भी है। इन विधियों से भी रोगी आराम किये जा रहे हैं किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि आयुर्वेदिक विधि से बने हास्पिटल हों और उनमें व्यय अधिक किया जाय। क्या हमारे देश के धनकुबेर इस तरफ दृष्टिपात करेंगे ?

---

# क्षय रोग में सुवर्ण भस्म का उपयोग

लेखक- श्री वैद्य पंचानन गङ्गाधर शास्त्री गुणे, अहमदनगर।

क्षय रोग जिसको संस्कृत में राजयक्ष्मा कहते हैं वह बहुत ही त्रास दायक और भयङ्कर रोग है। केवल प्रारम्भ में उसकी सुयोग्य चिकित्सा की जाय तो रोगी सुधरने की थोड़ी आशा रहती है। इस रोग के जन्तु क्षय, निर्जन्तुक, याने धातुक्षय देखने में आते हैं। जन्तुजन्य क्षय के जन्तु को टयूबरकिलोसिस कहते हैं। ये अणु रूप जन्तु डा० कॉक नामक संशोधक ने अन्वेषण करके बतलाये हैं। निर्जन्तुक क्षय में जन्तुओं का अनुबन्ध नहीं रहता। दोनों प्रकार के क्षय के लक्षण समूह प्रायः एक सरीखे ही रहते है। क्षयरोग के कारण मे (१) वेगरोध (२) क्षय (३) साहस (४) विषमाशन ये कारण विप्रकृष्ट रूप से रहते हैं। त्रिदोष क्षय के समवायी कारण दोषदूष्य संयोग असमवायी कारण और जन्तु निमित्त कारण होते हैं। इसके लिये जन्तु मारक चिकित्सा करते हुए भी रोग निवारण नहीं होता है। आजकल के क्षय रोग का उपक्रम सम्पूर्ण विश्रान्ती के ऊपर निभर है।

डाक्टरी में इसके विविध प्रकार प्रचलित हैं। फेफड़ों क्षय के लिये हवा भरना और छाती की पसलियां तोड़ के निकालना ये उपक्रम भी फेफड़ों को सम्पूर्ण विश्रान्ती देने के लिये ही है। अस्थि और जोड़ों के क्षय में प्लास्टर करना भी इसी के लिये हैं। सम्पूर्ण विश्रान्ती से शरीर संचालन में होने वाला प्राणशक्ति का व्यय नहीं होता है। और वह शक्ति क्षय रोग को हटाती है। अयुर्वेद केवल विश्रान्ती के चिकित्सा क्रम पर ही निर्भर नहीं है। क्षय रोग में होने वाला त्रिदोष प्रकोप और उसमें होने वाला धातु क्षय हटाने के लिये आयुर्वेद में बहुत से योग दिये हैं। उससे यह प्रतीत होता है कि धातु वर्द्धन और बृंहण द्वारा आयुर्वेद क्षयरोग हटाने की कोशिश करता है।

सिद्ध रसायनादि बहुत से योग आयुर्वेद ने दिये हैं। उन सब योगों में सर्व सामान्य सुवर्ण की योजना विशेषतया दिखाती है। सुवर्ण ही सब द्रव्यों में से अधिकतर कार्यकर दिखलाता है। बहुत दिन इस तरह का अन्वेषण करके मैंने यह निश्चय किया कि केवल सुवर्ण का ही क्षय रोग पर अच्छा कार्य होने में सन्देह नहीं है। सुवर्ण के गुण आयुर्वेद में बहुत से दिये हैं। उनमें से रसायन, बृंहण, हृद्य, बल्य और कान्ति प्रद गुणों का क्षय रोग में अधिकतर उपयोग होता है। क्षयरोग के जन्तु को सुवर्ण हटाता है। इसलिये सुवर्ण जन्तु-जन्य क्षय में उपयुक्त होता है। जन्तु हटाने का कार्य भी जन्तु मारकता से ही केवल नहीं होता है। किन्तु वैद्य के बल बुद्धि से भी वह कार्य होता है।

निर्जन्तुक क्षय के सब अवस्था में जब शरीर के घटक सजते हैं उस अवस्था में सुवर्ण भस्म का उपयोग करना अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के धातु क्षय में सुवर्ण भस्म जीवनीय गण के साथ देने से बहुत अच्छा कार्य करती है।

निर्जन्तुक क्षय में सुवर्ण का उपयोग बृंहण और धातु वर्धन काय करता है। केवल सुवर्ण

शरीर में शोषित नहीं होता है। संशोधनादि करके उसका मारण करना और पुट भावनादिकों से उसका भस्म बनाना आवश्यक है। भस्म, वरक और सुवर्ण चूर्ण उनमें से सुवर्ण भस्म शरीर में जल्दी और अच्छी तरह शोषित होती है। अतः सुवर्ण भस्म को ही क्षय रोग में उपयोग करना ठीक है। सुवर्ण भस्म के कार्यकारी होते वक्त उससे शरीर में रहने वाले क्षय जन्तु बहुत ही जल्दी नष्ट होते हैं। उनके मृत शरीर से रुग्ण शरीर में एक प्रकार का सेंद्रियविकार पैदा होता है और उससे ज्वरोष्मा ज्यादा बढ़ती है। इस लिये सुवर्ण भस्म बिलकुल ही छोटे प्रमाण में देना लाभप्रद होता है। आज तक मैंने करीब २ एक सहस्र से ऊपर सब प्रकार के जन्तुज क्षय के रुग्ण में सुवर्ण भस्म का विनियोग किया है। और उनमें १⁄६० गुंजा से ही फायदा मिला है। मैंने उसका 'सूक्ष्मसुवर्ण' नाम रक्खा है।

सूक्ष्म सुवर्ण के साथ मुक्ता, प्रवाल और मृगशृङ्ग भस्म का भी आयोजना करनी पड़ती है। ज्वरोष्मा यदि इतना सूक्ष्म प्रमाण देने से भी बढ़ जाय तो सुवर्ण का प्रमाण इससे भी कम किया जाय। सुवर्ण भस्म स्वतन्त्र ही दिया जाय तो ठीक है।

धातु क्षय भी दो प्रकार का होता है। अनुलोम क्षय, यानी रसरक्तादि से शुक्र ओजतक और प्रतिलोम क्षय यानी शुक्र ओज से रस तक। इन दोनों प्रकार में भी सुवर्ण का विनियोग प्राचीन शास्त्रकारों ने किया है। सुवर्ण भिन्न २ द्रव्यों से संयोग करके उसका विनियोग किया है। रसक्षय में सुवर्ण पर्पटी, रक्तक्षय में सुवर्ण लोह इत्यादि और शुक्रक्षय ओजक्षय में सुवर्ण + वङ्गेश्वर, वसन्त कुसुमाकर, अस्थि मज्जा क्षय में सुवर्ण घटित लोकनाथरस, मांस क्षय में राजमृगाङ्क और महा लक्ष्मी विलास रस, बल मांस क्षय में षड्गुणबलि जारित रस सिन्दूर मकरध्वज ऐसे बहुत से सुवर्ण संयोग कहे हैं। ये सब योग भिन्न २ अवस्था में और क्षय के प्रकार में बहुत ही अच्छी तरह से उपयुक्त होते हैं। धातु क्षय में सुवर्ण की मात्रा सूक्ष्म रूप में देने की आवश्यकता नहीं है। इन सब प्रकार में सुवर्ण भस्म का ही संयोग आवश्यक है।

# यक्ष्मा और उसके विजय के सरल उपाय

लेखक श्री पं० मस्तराम शास्त्री अध्यक्ष चरक आयुर्वेदिक फार्मेसी, रावलपिंडी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान विश्व में विविध रूप से इस रोग के समूल उन्मूलन के लिये भरसक भगीरथ प्रयत्न किया जारहा है। अनेकों उपाय नये से नये निकाल इस भभकती भट्टी में धड़ाधड़ पैसों की आहुति दी जारही है। पर इन उपायों से कहां तक लाभ हुआ या होगा, यह बताना विषम समस्या है। टेढ़ी भी खीर है। देखो, हमारी सरकार भी जब लाखों रुपए व्यय कर सैकड़ों सैनीटोरियम खोल कर भी जिस रोग के निराकरण में पूर्ण रूप से सफल एवं सबल सिद्ध न होसकी। सब प्रकार के चिकित्सक, विभिन्न चिकित्सा पद्धतियें जिस रोग पर जय लाभ न कर सकीं। इन्जेक्शनों की सुइयों से सारे शरीर को छलनी बनाकर भी जिस पामर से पिण्ड न छुड़ा सके। उस दारुण दुरन्त रोग से सरलता से मुक्त कराने का प्रयत्न आयुर्वेद बता रहा है और आवश्यकता भी इस बात की है कि "सांप मरे लठिया न टूटे" रोगी का रोग भी दूर होजाय और सोना और मोती भी जलाने वा खिलाने न पड़ें, वह है—

## वाह्य उपचार—

यह कोई नई उपज नहीं। नूतन आविष्कार नहीं। यह वही पुरानी पद्धति है। जिसे पूज्य महर्षियों के मान्य मस्तिष्क ने ढूंढ निकाला था और इस वाह्य उपचार से विशेष सफलता प्राप्त की थी, अब भी समर्थ सज्जन यदि इस ओर विशेष ध्यान दें और वैद्य महानुभाव भी इस वाह्य उपचार पद्धति का क्रियात्मक रूप दें, तो यक्ष्मा जैसे सप्रभव रोग का देश से दूरी करण हो सकता है। यही कारण है कि मैं वाह्योपचार का प्रचारक बनकर पाठकों के समक्ष कुछ विचार प्रगट करने को उद्यत हुआ हूं।

## उद्वर्तन—

वाह्योपचार से हमारा तात्पर्य अभ्यङ्ग, स्नान, यज्ञ, नस्य, वस्ति, धूप, धूम्र आदि २ चिकित्साओं से है। क्योंकि यह भयङ्कर रोग वेगरोध, क्षय, साहस, विषमाशन इस कारण चतुष्टय से उत्पन्न होकर स्रोतों के अवरोध से बढ़ जाता है। स्रोतोऽवरोध से क्षयी की रसादिक धातुयें उत्तरोत्तर बन नहीं सकतीं। खाने से बना रस स्वस्थानस्थ ही विदग्ध होजाता है क्योंकि रक्त स्रोत तो बन्द रहता है। रस से रक्त ही न बना तो मांसादिक की आशा ही निराधार है। अतः क्षयी का खाया हुआ अन्न उत्तरोत्तर पोषण का हेतु न बनकर शोषण का कारण बन जाता है। हां, किसी मात्रा तक ओज का कारण हो जाता है। जैसे कहा भी है—

> रसोप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव च।
> मलो भवति तत्सर्वं कल्प्यते किंचिदोजसे॥
>
> तस्मिन् काले पचत्यग्निः यदन्नं कोष्ठ संश्रितम्।
> उपस्तब्धः स शकृता केवलं वर्त्तते क्षयी॥
>
> तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषात् राजयक्ष्मिणः।
> सर्वधातु क्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड् बलम्॥

क्षयी जो कुछ खाता है। उससे केवल मल ही मल बन सकता है यही मल ही उसका जीवन और बल होता है। इसीलिये शास्त्र व्यवस्था देता है, कि क्षयी के मल की रक्षा करो। यही उसका बल है। बल वर्द्धन के लिये वेद का उपदेश—

यदिमा वाजयन्न हमोपधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्यनश्यति पुराजीवगृभोयथा॥
ऋग्वेद १०-८-९७-११

राजयक्ष्मा चिकित्सा का मूल सिद्धान्त यह है कि यक्ष्मी प्रतिदिन क्षीण ही होता जाता है। इसीलिये उसके बल की रक्षा और बल बढ़ाने का प्रयत्न अवश्यमेव करना चाहिये। बल बढ़ने पर ही वह आरोग्य लाभ कर सकता है।

हमारी वाह्योपचार पद्धति इस अनर्थ कर स्रोतोऽवरोध पर विजली का सा प्रभाव रखती है। मैं तो यह कह सकता हूं कि जो वैद्य इन स्रोतों के सुख विकसित करने की पद्धति से परिचित है। निश्चिन्त वह इस मौत के मुख से मुमूर्षु मनुष्य को भी मुक्त करा सकता है। वाह्योपचार पद्धति इन स्रोतों को जगाने में अत्यधिक उपयोगी है। अतएव उन पर विचार किया जाता है—

१—क्षयी को प्रतिदिन प्रातःकाल अङ्ग प्रत्यङ्ग पर महा लाक्षादि तैल की मालिश कराये।

२—एक बड़े टीन के पात्र में दूध, तैल, घृत, जल सम मात्रा में मिलाकर अथवा अलग २ डाल कर स्नान करवाये। इन वस्तुओं का कोष्ण एवं सुख स्पर्श होना आवश्यक है।

३—शीतकाल में सरसों से औटाए उष्ण जल से स्नान करवाये।

४—सुगन्धित द्रव्यों से औटाए शीत जल में ग्रीष्म ऋतु में स्नान करवाए। क्षयी को प्रतिदिन स्नान करवाना अतीव आवश्यक एवं हितकर है।

मेरे विचार में इस स्थान पर स्नान, अभ्यङ्ग एवं अवगाहन का विशेष विवरण अपेक्षित एवं आवश्यक है।

हम प्रथम लिख चुके हैं कि क्षीण मनुष्य को प्रति दिन प्रातःकाल महालाक्षादि तैल की मालिश कराये फिर तैल, घृत, दुग्ध मिश्रित जल से अवगाहन एवं स्नान करवाये। कम से कम आधा या एक घण्टा तक कदुष्ण जल से पूर्ण बड़े टीन के पात्र में अवगाहन करवाये।

इस प्रक्रिया का रोगी पर क्या प्रभाव पड़ेगा, प्रतीत होना चाहिए कि बिना इस प्रक्रिया के क्षय का क्षय ही होना असम्भव है। यह पहिले बतलाया जा चुका है कि यक्ष्मा की उत्पत्ति और पालन स्रोतों के बन्द हो जाने से होता है। स्रोतों को जगाना ही यक्ष्मा की सर्वोत्तम सरल एवं सही चिकित्सा है। आन्तरिक स्रोतों के अतिरिक्त, बाहिर भी अनन्त एवं असंख्यात स्रोत होते हैं। जो प्रतिक्षण शरीर की विषाक्त उष्मा को निकालते रहते हैं। बाहिर से प्रकाश और शुद्ध वायु आदि शरीरोपयोगी सामान अन्दर पहुंचाते रहते हैं। इनका बन्द होना भी एक महान अनर्थ का कारण है। थकान क्या है? शरीर का भारीपन क्या है? केवल इन बाह्य स्रोतों का अवरोध। पसीना होने से थकान दूर हो जाती है। शरीर का भारीपन दूर हो जाता है। क्या हो जाता है? यही कि रोम कूप अन्दर से विषाक्त मैटर को बाहिर निकाल देते हैं और बाहिर से उपयोगी सामान अन्दर पहुंचा

देते हैं। यह रोम कूप बन्द होकर ज्वर, दाह, मूर्छा आदि तक के कारण बन जाते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने व्यवस्था कर दी कि प्रति दिन स्नान एवं अभ्यंग पथ्यतर हैं। हमारे प्रकृत स्नान में तैल, घृत आदि वस्तुओं का मिश्रण है। तैल शरीर पर क्या प्रभाव रखता है? बाह्य मलता को दूर कर चमड़ी को चमका देना तो इसका प्रत्यक्ष कार्य है। शरीर में बल वर्ण की स्थिरता लाना इसका यथार्थ प्रयोजन है। यक्ष्मा के रोगी को जिस बात की नितान्त आवश्यकता है, वह है बल, वर्ण एवं शरीर की स्थिरता। इन दोनों के यथावत होने से अपेक्षित फल की प्राप्ति हो सकती है। तैल सूक्ष्म औषधि है। देह के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा शरीर में प्रवेश कर तीव्रतर तोद का अपनोद कर परम आमोद की गोद में बैठा देना इसका अद्वितीय कार्य है। तैल बृंहण है। मांस पेशी निर्माण में सहायता देता है। मल को बांध कर नियत मात्रा में गिरा देता है। व्यवायी है। समस्त शरीर में व्याप जाता है। व्रण और मेह का नाशक है। रोम कूपों द्वारा शरीर में प्रवेश कर आन्तरिक क्षतों का विरोपण करता है। यही इसका प्रधान गुण है। तैल त्वच्य, केश्य और चक्षुष्य है। इसीलिये शास्त्र कहता है—

> तिल तैलं गुरु स्थैर्यं बल वर्ण करं परम्।
> वृष्यं विकासि विशदं मधुरं रस पाकयोः॥
> सूक्ष्मं कषायानु रसं तिक्तं वातकफापहम्।
> वीर्योष्णं च हिमं स्पर्श बृंहणं रक्त पित्तनुत॥
> लेखनं बद्ध विषमूत्र गर्भाशय विशोधनम्।
> दीपनं पुष्टिदं मेध्यं व्यवायि व्रणमेहनुत॥
> श्रोत्र योनि शिरः शूल नाशनं लघुता करम्।

आदि २। तैल लेखन गुण युक्त है। इस गुण से यह रोम कूप गत मलांश का ह्रास करता है, फिर कोष्ण जल एवं दुग्ध का क्षारांश और उसे भी साफ करने में सहायक होता है। अनन्तर एक नहीं हजारों घृत जैसे आयुष्य पदार्थ के इन्जेक्शन बिना सुई चुभोये शरीर के स्थान २ पर हो जायेंगे। आज कल डाक्टर महोदय भी असाध्य रोगों पर दुग्ध के इन्जेक्शन करते हैं, यह है स्नान चिकित्सा का महत्व पूर्ण रहस्य। यह एक वैज्ञानिक नियम है कि उष्णता विकासक है एवं सर्दी सिकुड़न का कारण है। यक्ष्मा में बाह्य तथा आन्तरिक स्रोतों में ऐसी सिकुड़न आ जाती है कि वह अपना कार्य करने में सर्वथा अक्षम हो जाते हैं।

हमारी प्रस्तुत कोष्णजलचिकित्सा—रोगी के रोम कूप तथा आन्तरिक स्रोतों का विकास करेगी जिससे रोगी को आशातीत सफलता प्राप्त होगी। जिस प्रकार वृक्ष मूल के अतिरिक्त शाखा पत्रादि द्वारा भी अपनी वृद्धि के लिये आवश्यक प्रकाश आदि पदार्थों को लेकर पुष्ट होता रहता है। उसी प्रकार यह देह भी रस आदि पोषक पदार्थों को ले चलने वाले मूल स्रोतों के अतिरिक्त इन बाह्य स्रोतों (रोम कूपों) द्वारा भी प्रकृति के पोष्य पदार्थ ग्रहण करते रहते हैं। यह भी शरीर के वातायन हैं (गवाक्ष) हैं। कमरे की गन्दी वायु को निकाल उस स्थान २ पर जीवन वायु पहुंचाते रहते हैं। स्नान अथवा अभ्यङ्ग से इसकी वास्तविक शुद्धि होजाती है। जिससे क्षयी के शरीर पर की चिपचिपाहट भारीपन और दौर्गन्ध दूर होकर सुरुचि का संचार हो जाता है, भूख लगती है, चेहरा खिल उठता है, आंखों का प्रकाश बढ़ता है तथा शरीर की अकड़ाहट नष्ट होकर एक प्रकार की लचक सी आ जाती है जो रोगी के लिये नितान्त अपेक्षित है।

यहा पर कुछ जल का महत्व दिखा देना भी हमारा परम कर्तव्य है। आयुर्वेद में तो जल को 'षण्णा रसाना योनि रुदकम्' अर्थात् षड रस का कारण जल को माना है और साथ ही यह भी कहा है कि "जल स्तम्भ नीयानाम्' जल स्तम्भन करता है। जल को अमृत कहा है और जीवन भी कहा है। यदि विचार दृष्टि से देखा जाय जल सच मुच ही जीवन है। उपनिषदों ने तो जल को 'ब्रह्म' कहा है। प्राण एक अति सूक्ष्म शक्ति है जो आकाश के समान व्यापक है। अन्न में पोषक शक्ति प्राण के कारण है और जल में जो अद्वितीय गुण है वह भी प्राण पर निर्भर है। अतएव आयुर्वेद में कहा है—"पानीय प्राणिना प्राण तदायत्त हि जीवनम्' अर्थात् जल ही प्राणी मात्र का प्राण है। इसी के आधार पर जीवन है। मनुष्य शरीर के दस भागों में नौ भाग जल से परिपूर्ण हैं। इसलिये शरीर का प्रधान उपादान जल है। ससार में जल सब से अधिक है। पृथ्वी के चार भागों में तीन भाग जल से ढके हुए हैं और एक भाग धरातल है' हमारे शरीर में भी जल की बाहुल्यता है। शरीर के तीन भागों में से दो भागों में जल है। रुधिर के एक सौ भागों में ९० भाग, मस्तिष्क और माम पेशियों में ८० भाग और अस्थियों में १० भाग जल है। जिस प्रकार शरीर में जल का भाग अधिक है। उसी प्रकार शरीर में जल का प्रयोजन भी अधिक है। एक मनुष्य के शरीर रक्षार्थ प्रति दिन २॥ सेर या तीन सेर तक जल का आवश्य कता होती है। उसमें सेर भर जल खाने के पदार्थों के साथ शरीर में पहुचता है और शेष हम पीते हैं। भोजन के समय भोजन के आदि, मध्य, अन्त में जल पीने की प्रथा भिन्न २ कारणों से दर्शाई गई है परन्तु भोजन के समय अधिक जल पीने का निषेध है

"अत्यम्बु पानान्न वि पच्यतेऽन्न,
निरम्बु पानाच्च सएवदोष ।
तस्मान्नरो वह्नि विवर्द्धनाय,
मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद भूरी" ॥

डाक्टर महोदयों का यह सिद्धात अन्न के साथ सर्वथा जल पीने का निषेध आधार हीन होने के कारण असगत और अग्राह्य है। जहा पर जल पान का अत्यन्त निषेध है। आयुर्वेद वहा भी अत्यन्त तृषा में जल पान की आज्ञा प्रदान करता है। क्योंकि कहा है—

पानीय प्राणिना प्राण विश्वमेव च तन्मयम्।
अतोऽत्यन्त निषेधेपि न क्वचित वार िर्वायते ॥
तृष्णा गरीयसी घोरा सद्य प्राणहरी मता।
तस्मात देय तृषार्ताय पानीय प्राण धारणम् ॥
तृषितो मोहमायाति मोहात प्राणान् विमुञ्चति।
अत सर्वास्वस्थासु न क्वचिद् वारि वारयेत ॥

जल की अत्यधिक प्रशसा या आवश्यकता के कारण ही इसे जीवन कहा है। इसीलिये राजयक्ष्मा ग्रस्त रोगी के लिये जल के अवगाहन या स्नान पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जिसे आज वैद्य समाज छोड़ बैठा है। क्योंकि जहा स्नान पवित्रता जनक, आयु वर्द्धक, श्रम नाशक, स्वेद निवारक, मलापहारक, केश वर्द्धक और बल वर्द्धक एव तेज स्कर है। वहा रोग निवारक भी है। स्नान द्वारा केवल शारीरिक सफाई ही नहीं होती प्रत्युत मान सिक सफाई भी होती है। आयुर्वेद में हसोदक जल की अधिक प्रशसा की गई है, जिसका विधान आज दृष्टि गोचर नहीं होता। यह हसोदक जल

राजयक्ष्मा के रोगी के लिये भी पान व अवगाहन में अमृत सदृश गुणद है।

यथा—

दिवा सूर्यांशु संतप्तं निशि चन्द्रांशु शीतलम्।
कालेन पक्वं निर्दोष मगस्त्येनाविषी कृतम ॥
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचिः।
स्नान पानावगाहेषु हितमंबु यथामृतम् ॥

इतना ही नहीं आयुर्वेद तो अगाध समुद्र है। इसमें अलभ्य रत्न हैं। उषः पान अर्थात जल का ब्राह्म मुहूर्त्त में पान वा सूर्य के उदयकाल में जल को मुख द्वारा वा नासिका द्वारा पान का विधान बहुत से असाध्य रोगों को दूर कर दीर्घ जीवन का स्थायी सुख का संयोजक है।

सवितुः समुदायकाले प्रसृति सलिलस्य पिवेदष्टौ।
रोग जरा परि मुक्तो जीवे द्वर्षं शतं साग्रम् ॥
विगतघन निशीथे प्रातरुत्थाय नित्यम्।
पिवति खलु नरो यो घ्राणरंध्रेण वारि ॥
स भवति मतिपूर्णः चक्षुषा तार्क्ष्य तुल्यः।
वलि पलित विहीनः सर्वरोगै र्विमुक्तः ॥

जल पान से रोग विमुक्तिः—

अर्शं शोथ ग्रह दोषा ज्वर जठर जरा कुष्ट मेदो विकाराः।
मूत्राघातास्रपित्त श्रवण गल शिरः श्रोणि शूलाक्षिरोगाः ॥
ये चान्ये वात पित्त क्षत कफज कृता व्याधयःसम्भवन्ति।
तांस्तानभ्यास योगा दपहरति पयः पीतमन्ते नीशायम् ॥

इसी आयुर्वेदिक सिद्धांत की आधार शिला पर लूईकोनिक की जल चिकित्सा ने पनपना आरम्भ किया। इसी के आधार पर प्रकाश चिकित्सा, विद्युत चिकित्सा, सूर्य रश्मि चिकित्सा एवं आतप चिकित्सा आदि २ का आविष्कार कर यूरोप आज फूला नहीं समाता। भारतीय वैज्ञानिक पद्धति की रटन से जीवित रही वर्तमान नव यौवना पाश्चात्य शैली यद्यपि अपने चाक चक्य से जन मात्र की आंखों में चकाचौंध पैदा कर रही है। हमें अपने घर का वास्तविक ज्ञान नहीं है। हमारे ही घर के दीपक को पालिश कर हमें ही चकाचौंध में फंसाया जा रहा है। कम से कम आज से पांच हजार वर्ष प्रथम से आर्यों ने जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाना संसार को सिखाया तथा जीवन सम्बन्धी उपयोगी सिद्धान्तों का अन्वेषण कर भावी सन्तान के लिये शिष्य परम्परा द्वारा छोड़ गये।

सब से बड़ा दुर्भाग्य और विषम समस्या तो यहां के वर्तमान भारतीय पठित समाज का है जो स्वयं रत्न सिद्धान्त का अन्वेषण तो दूर रहा, मान्य महर्षियों से अन्वेषित सिद्धांतों से लाभ उठाना भी नहीं जानता। वैज्ञानिक विश्लेषण की त्रुटि से हम प्रत्यक्ष रूप में आम जनता को नहीं समझा सकते कि भारतीय आमला कौन २ से विटेमिन (जीवन-तत्व) रखता है। जैसा किसी ने कह दिया वही हमारे लिये ईश्वरीय निर्णय होजाता है।

अस्तु, समय आयेगा। यथा २ जीवन की संकीर्णताओं और आवश्यकताओं की वृद्धि होती चली आ रही है तथा २ जटिलता भी बढ़ती चली जा रही है। मनुष्य की प्रकृति ही इसकी विद्वेषिणी है। मनुष्य को जटिल जीवन नहीं भाता। वह जीवन की सरलता से सन्तुष्ट रह सकता है। इसीलिये भारत का निवृत्तिवाद अधिक सत्ता एवं महत्ता रखता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि आदि काल से भारत का यही ध्येय रहा है कि 'सांप मरे लठिया न टूटे' अर्थात् सरलता से, संयम से, और सत्यता से कार्य करें। जिससे तुम्हें दोषी

होना न पड़े। प्रत्येक पद्धति में भारत ने हितकर सरलता को अपनाया है और यह मार्ग बतलाया है जिसमें अधिकता से सुख की छाया ही छाया है।

"स्नानमूर्जो बल प्रदम्"

इस कथन के अनुसार स्नान से ऊर्जा एवं बल की वृद्धि होती है, भूख लगती है, आहार पचता है, पसीने की चिपचिपाहट दूर होकर रोम कूप खुल जाते हैं। जिससे आभ्यन्तरिक विषैला तत्व बहकर निकल जाता है और क्षयी स्वस्थ हो जाता है। जीवनीय गण की ओषधियों से जल औटाकर वर्षा में स्नान करवाए। स्नान के अनन्तर सुगंधित घृत तैल आदि से सुख स्पर्श पूर्वक अङ्ग मर्दन कराए। तदनन्तर उत्सादन अर्थात् उबटन लगाये। जैसे महर्षि चरक ने कहा है कि—

| ४९-जीवन्ती | साठी चावल | सफेद दूर्वा |
|---|---|---|
| मजीठ | विल्वमूल | पुनर्नवा |
| अश्वगन्धा | कूठ | अलसी |
| उड़द | काले तिल | मुरा बीज |
| अपामार्ग | हरड़ छाल | मुलहठी |
| बला | विदारीकन्द | सरसों |

—प्रत्येक १-१ तोला।

जौ का आटा १० तोला

—ये सब वस्तु उबटन की हैं। इनको ऐसा बारीक पीसे कि मलते समय किसी प्रकार शरीर को कष्ट न हो। इस चूर्ण में किञ्चित् मात्र दधि एवं माक्षिक मिलाकर मलना चाहिए। इस उबटन का लेप वा मर्दन एड़ी से चोटी तक करे। विशेषतया फेफड़ों पर सावधानी से लगाये।

अनन्तर तौलिया से शुद्ध कर सुगन्धित द्रव्यों में से चन्दन, केसर, कर्पूर, कस्तूरी, अगर, तगर, मुश्कबाला आदि को शिला पर पीस या शरीर के मर्म स्थानों पर मर्दन करवाये या लेप करे, लेप में बड़े ही विशेष गुण हैं। शरीर पर लेप सूक्ष्म होने के कारण रोम कूपों द्वारा आन्तरिक दूषित मल जन्य २२ प्रकार के रोगों के कीटाणुओं को और कीटाणु जनित विष बाहर निकाल कर रोगी को रोग मुक्त करने में हाथ बटाता है। लेप करने के मुख्य स्थान मस्तिष्क, कण्ठ हृदय, छाती फुफ्फुस और क्लोम आदि हैं। प्राचीन आर्य ग्रीष्म में चन्दन एवं जोड़ों में केसर, कस्तूरी आदि का लेप किया करते थे। वह भी निरुद्देश्य नहीं था। लेप से कोई भी विष जन्य विकार शरीर पर प्रभाव नहीं कर सकता। लेप से क्षय के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। जैसे चुम्बक लोह का आकर्षण होता है। उसी प्रकार लेप रोम कूपों द्वारा रोगों के कीटाणुओं को बाहिर खींच लेता है। आर्य जाति की तिलक धारण प्रथा इसी मूल सिद्धान्त पर निर्भर थी। माथा, कान, गला, हृदय बाहु, छाती आदि तिलक धारण के स्थान हैं। जोकि शरीर के मर्म स्थान गिने जाते हैं। वाह रे समय! तूने क्या विचित्र पलटा खाया, ऐसा रङ्ग दिखाया कि पश्चिमी माया की धाक चक्षु से दिन दहाड़े लुप्त भारतीय विज्ञान भंडार नजर न आया।

# राजयक्ष्मा और च्यवनप्राशावलेह

लेखक आयुर्वेद शास्त्री कविराज वेदप्रकाश जी अग्रवाल, एस० ए० एम० एम लछमन सर, (अमृतसर)
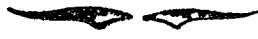
च्यवनप्राश का नाम लेते ही हमारा ध्यान पहिले इसके नामकरण संस्कार की ओर जाता है। इसके पाठ के साथ ही इसकी थोड़ी सी उपलब्ध इतिहास पंक्ति में बताया जाता है, कि च्यवन ऋषि को जरावस्था में तारुण्य भावनाएं जानकर इसका निर्माण किया गया है और इसके प्रयोग से उसने अपने जराकृश शरीर में पुनःयुवावस्था का आनंद अनुभव किया। मान लिया कि इसमें अत्युक्ति के लिये अवकाश हैं, किन्तु फिर भी च्यवनप्राश के योग में आने वाले द्रव्यों के आधार पर हम इसके गुणों की रूपरेखा अवश्य बना सकते हैं।

च्यवनप्राश को हम दूसरे शब्दों में आमलकी रसायन के नाम से याद करते हैं, गुजरात अथवा बम्ई प्रान्त में वैद्यसमाज इसको "जीवन" इस नाम से याद करता है, झण्डु फार्मेसी आदि का केसरी जीवन इसी च्यवनप्राश में केशर आदि का सम्मिश्रण है और यह नाम यक्ष्मी को जीवनप्रद होने से सचमुच इस के गुणानुरूप ही हैं।

च्यवनप्राश के गुणों का पर्य्यवेक्षण करने से पहिले यदि हम इनको तीन मुख्य भागों में बांट लें तो इसके गुणों को अशांश रूप से समझने में आसानी रहेगी। इनमें पहिला हिस्सा है 'आमलकी' जो कि इस योग का प्रधान पात्र है। इसमें दूसरा स्थान क्वाथ द्रव्य का और तीसरा स्थान प्रक्षेप का रहेगा। अब हम इनके गुणों और प्रभावों के आधार पर च्यवनप्राश की राजयक्ष्मा में उपयोगिता पर विचार करेंगे, और इस सत्य पर दृष्टिपात करने की कोशिश करेंगे कि यह कहां तक इस रोग के निवारण में सफलता से प्रयोग किया जा सकता है।

अब हम इन पर क्रमशः विचार करते हुए पहले आमलक को लेते हैं। साधारण बोलचाल में इसे आंवला कहा जाता है, इसके गुणों का व्याख्यान करते हुए निघण्टुकार लिखता है।

"रक्तपित्त प्रमेहघ्नं परमवृष्यं रसायनम्"

अर्थात् रक्तपित्त यानी रक्त स्राव को चाहे वह किसी भी मार्ग व प्रदेश से हो। (इसमें हम फुफ्फुसीय रक्तनिष्ठीवन और आन्त्रीय रक्तातिसार को भी अन्तर्गत करते हैं) उस पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है, यह प्रमेह को नाश करने वाला और वृष्य तथा रसायन होने से शरीर को असाधारण बल देता है। इस शक्ति से पुष्ट शरीर ही रोग का मुकाबिला करने में समर्थ होता है।

आमलक में विशेष गुण यह है कि यह अम्ल और कषाय रस प्रधान होने से पाचक और कुछ संग्राहक प्रभाव रखता है। विशेषता यह है कि इसका अम्ल रस श्लैष्मिक झिल्ली को किसी प्रकार का क्षोभ नहीं पहुंचता, जिससे कासादि का वेग बढ़े या आन्त्रों में अम्लता पैदा करके पित्त को प्रकुपित करे। इसलिये च्यवनप्राश के निर्माण में जो क्वाथ जल के पाक को अधिक स्वादु बनाने के लिये खट्टा या कसैला समझकर फेंक देते हैं।

या कम मात्रा में प्रयोग में लाते हैं यह इसके गुणों की हीनता में कारण है।

अब दूसरा स्थान है काथ द्रव्य का । इसमें अष्टवर्ग और दशमूल के अतिरिक्त कुछ अन्य भी औषधें हैं। जिनका मुख्यतया प्रभाव श्लैष्मिक कलाओं पर सादक प्रभाव छोड़ कर कफ की उत्पत्ति को कम और मल को बाहर निकालने का कार्य करता है तथा शरीर का बृंहण करता है।

दशमूल भी त्रिदोष शामक तथा कफ श्वास को हरने वाला त्रिदोषघ्न होने से यह ज्वर, अनाह, अरुचि आदि को शान्त करता है । शोथ को दूर करने में इसका प्रभाव विशेष है, इसी गुण के कारण यह प्रयोग प्रसूता के रोगों में सफलता से किया जाता है।

इस पर विचार करते हुए हम अष्टवर्ग को नहीं भूल सकते। शास्त्रकार इसके गुणों की प्रशंसा में लिखता है।

> अष्टवर्गो हिम स्वादु बृंहण शुक्रलो गुरुः।
> भग्न सधानकृत काम बल संवर्धन ॥
> वात पित्तास्रतृड्दाह ज्वर मेह क्षयापह ॥

इसका प्रभाव हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग को बृहण करने में समर्थ है। अर्थात् राजयक्ष्मा के अन्दर जो मांस का शोष होजाता है उसको उपचित करना इसका कार्य है। आमलक वृष्य है और अष्टवर्ग बृहंण। बृंहण और वृष्य में कुछ विशेष अन्तर नहीं है। वृष्य का प्रभाव वीर्य पर है और बृहण का मांस पर। इसलिये राजयक्ष्मा के रोगी के लिये वीर्य की कमजोरी को दूर करने के लिये वृष्य और मांस की कमी को पूरा करने के लिये बृहंण औषधों से बना यह योग अद्भुत ही है।

अब अन्तिम किन्तु सब से मुख्य भाग की बारी आती है। यह है प्रक्षेप–इसमें तबाशीर, पिप्पली एला, दालचीनी आदि की गिनती है। सभी चीजें अपना २ विशेष प्रभाव रखती हैं अतः हम क्रमशः एक २ पर विचार करेंगे।

## तबासीर-

यह वंशजा के नाम से स्मरण की गई है और इसका कारण ऐसा है कि इसकी उत्पत्ति बांस से है। यह एक प्रकार का खटिक यौगिक है, इसके गुणों के वर्णन में द्रव्य गुण विवेचन लिखता है।

> 'वंशजा बृंहणी वृष्या, बल्या स्वाद्वी च शीतला।
> तृष्णा कास ज्वर श्वास क्षय पित्तास्रकामला ॥'

पाठ में नितान्त स्पष्ट और सरल शब्दों में गुणों का विवेचन किया गया है और मुझे कोई शब्द ऐसा प्रतीत नहीं होता कि मैं उस पर टिप्पणी की आवश्यकता समझूं । बृहंण, वृष्य और बलदायक होने के साथ २ कास, ज्वर और रक्तपित्त को शान्त करने के कारण यह विशेषरूप से इस योग में उपयोगी है।

कैलशियम यानी खटिक में दो विशेष गुण हैं। एक तो यह रक्त को गाढा करके रक्तस्राव को रोकता है और दूसरे यह अस्थियों का विशिष्ट भाग ( अस्थियों में कैलशियम की विशेष मात्रा होती है इसकी कमी से अस्थियां कमजोर और भङ्गुर रह जाती हैं ) होने से यह अस्थियों को बलदायक है अत: यक्ष्मी के अन्दर रक्त निष्ठीवन और मल के साथ रक्त के आने पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

कई बार रोगी को कलशियम की कमी के कारण अतिसार होजाता है। बच्चों की चिकि-

## फुफ्फुस

न० १-स्वर यन्त्र ( २-स्वर यन्त्र ३, ४-चुल्लिका यन्त्र ५-टेंटुआ)

,, ६-श्वास नलिका

, ७ वाम फुफ्फुस

,, ८-श्वास नलिका

, ९-फुफ्फुसीया धमनी ( हृदय से फुफ्फुस को अशुद्ध रक्त ले जाने वाली नली )

, १०, ११-फुफ्फुस से शुद्ध रक्त हृदय को ले जाने वाली धमनी

,, १२-दाहिने फुफ्फुस का ऊर्ध्व भाग

, १३- ,, मध्य भाग

,, १४- ,, अधो भाग

,, १५-वक्षोदर व्यवस्था ( डायफ्राम )

त्सा से विशेषरूपेण सम्बन्धित वैद्यबन्धु को इसका अच्छा अनुभव होगा। ऐसी अवस्था में विशुद्ध कैलशियम का प्रयोग कितने ही तीव्र संग्राहकों से अधिक गुणप्रद पाया गया है।'

## पिप्पली–

इसको आम बोलचाल में पीपल कहते हैं, यह दीपक-वृष्य और रसायन है। कफ को निष्कासन में इसका अच्छा प्रभाव है। शास्त्रकार ने कहा है, 'पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादु पक्व रसायनी' दीपन पाचन होने से यह आम को पाचन करने के कारण रोगी के शरीर में जो भारीपन सा अनुभव होता रहता है, उसको दूर करके शरीर को लघुता व कान्ति देती है।

## एला–

इलायची भी श्लैष्मिक कला पर सादक प्रभाव रखने के कारण श्वास और कास को हरने वाली है। इसमें विशेष गुण यह है कि यह लालाग्रन्थियों को लाला रस अधिक बनाने के लिये उत्तेजित करती है। अतः भोजन के परिपाक में कार्वोज को शर्करा में परिवर्तन करने का इसका विशेष कार्य है। और यह कफ निष्कासक है।

## त्वक् (दालचीनी)–

इसमें एक प्रकार का उड़नशील तैल पाया जाता है। इसमें एक विशेष प्रकार की तीव्र गन्ध होती है। जिसका कि आमाशय पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यह अरुचि को नाश करके रोगी की भोजन प्रवृत्ति मे रुचि पैदा करती है और इसकी गन्ध कृमि नाशक है। इस लिये आमाशय में कफ प्रकोप के कारण पिच्छिलता की उत्पत्ति में आमज विषों को पैदा होने से रोकती है। और सुगन्धित तथा मन को रुचिकारक होने से तृष्णा को शांत तथा भोजन मे रुचि उत्पन्न करती है। तेजपात में भी अल्प मात्रा में यही गुण पायेजाते हैं।

अब इस विचार विनिमय के बाद यह सत्य स्पष्ट है कि इस प्रलेह का आमाशय और श्वास संस्थान पर क्या प्रभाव पड़ता है। और यह भी संदेह से परे है कि यह वीर्य को पुष्टि-कारक, बलकारक, और रोगक्षय शान्ति को पैदा करने वाला है।

## च्यवन प्राश का गुणावलोकन–

इस प्रकार इन सब उपयोगी औषधि के सम्मिश्रण से सिद्ध यह योग हमारे शरीर पर विशेष और अद्भुत ही प्रभाव रखता है। यह अवलेह अपने आप में एक उत्तम रसायन यानी शरीर को बल और पुष्टि देने वाला है। श्लैष्मिक कला की शोथ, विशेष रूप के श्वास प्रणालियों पर इसका अपूर्व प्रभाव पड़ता है अतएव जीर्ण कास और श्वास पर इसका दर्शनीय प्रभाव है।

आजकल डाक्टर लोग यक्ष्मियों को कुक्कुटांड ( Eggs ) और मत्स्य तैल ( Cod Liver Oil ) का प्रयोग करवाते हैं। तथा भिन्न २ प्रकार के खटिक योगों को मुंह और सूचिवेध के द्वारा भी उपयोगी ख्याल करते हैं। मेरा यह अनुभव सिद्ध विश्वास है कि राजयक्ष्मा के रोगी को च्यवनप्राश ६ माशा से १ तोला की मात्रा से गो दुग्ध में फेंट कर दिन में इसे ५ बार तक दिया गया तो इससे कहीं अधिक उपयोगी एवं लाभप्रद हुआ। १ तोला च्यवनप्राश १ पाव गो दुग्ध में फेंट कर दिया गया तो

कुकुदाण्डों से अधिक बलदायक प्रमाणित हुआ है।

किन्तु एक सत्य का मैं यहां उद्घाटन अवश्य कर देना चाहता हूं ताकि मेरे इस विचार को पढ़ने वाले सज्जन अन्धेरे से बचे रहें कि चिकित्सा में घबराहट और जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिए। मैं ऐसे केस अच्छी तरह जानता हूं और मेरे वैद्य बन्धु भी मेरे साथ इस बात में अवश्य सहमत होंगे कि रोगी काडलिवर आयल की शीशियों की शीशियां खाली कर डालते हैं किन्तु प्रभाव की कमी की कभी भी शिकायत नहीं करते, किन्तु १ पाव भर च्यवनप्राश खाकर और कभी एकाध खुराक खाने पर ही रोगी यह आशा करता है कि उसमें भी जवानी की उमंगें ठाठें मारने लगी हैं। मैंने देखा है कि नेत्र रोग पीड़ित रोगी डाक्टरों से महीनों चिकित्सा करवाते रहते हैं और फिर भी उन्हें निश्चित लाभ नहीं होता। किन्तु वैद्य महोदय के दिए गए सुरमे से चौथे दिन ही आंखों की ज्योति के न होने की शिकायत करते हैं। इसका कारण मेरे ख्याल में हमारा अपना दोष ही है कि हम रोगी के मस्तिष्क में रोग का असली रूप और औषधि का ठीक प्रभाव बिठाने का उद्योग नहीं करते। हम रोगी को देखते ही यह जानते हुए भी कि इसके ठीक होने में समय और प्रतीक्षा की आवश्यकता है। उसको असत्य आश्वासन कि मैं दो दिन में ठीक कर दूंगा, देने में संकोच नहीं करते, परिणामतः रोगी समय से पहिले ही निराश हो जाता है।

इसलिये इस तथ्य को सामने रखते हुए कि हमारी औषधों का प्रभाव तुरन्त (Immediate) बेशक न हो किन्तु स्थायी (Permanent) अवश्य होता है, हमें जल्दी ही निराश नहीं होना चाहिए। शास्त्रोपदेश पर आदर और श्रद्धा रखकर उनके गुण दोषों की स्थायी भाव से परीक्षा व विवेचना करनी चाहिये।

अब आगे मैं अन्य अनुभव में आए हुए राजयक्ष्मा पर उपयोगी शास्त्रीय व स्वानुभूत योगों का उल्लेख करने का प्रयास करूंगा।

## स्वर्ण वसंत मालती रस—

(रसेन्द्रसार) का प्रयोग यक्ष्मा में तीव्र ताप को नियमन (Crbtrol) करने के लिये उत्तम सिद्ध हुआ है। इसके प्रयोग से रोगी का १०३° से १०४° तक का ज्वर का रहना घटकर १००° से १०१° तक हो जाता है और कभी २ इससे भी अच्छा प्रभाव होता देखा गया है। और रोगी अनावश्यक ज्वरोद्भूत बेचैनी (Rost Lessness) से बचा रहता है। और शरीर में अधिक निर्बलता नहीं अनुभव करता है। इसका प्रयोग १ रत्ती की मात्रा में मधु पिप्पली चूर्ण के साथ ३-४ बार तक दिन में कराया जाता है।

रोगी में कास के साथ रक्त आने पर सितोपलादि चूर्ण के साथ सत्व गिलोय और प्रवाल भस्म चन्द्रपुटी मिलाकर देने पर मुझे अच्छी सफलता मिली है। इसमें यदि पिप्पली चूर्ण की मात्रा योगोपदेश से आधी कर दी जाए तो अधिक अच्छा हो। वासक पुष्प का अर्क या पुष्प के क्वाथ से सिद्ध मधु पानक भी उपयोगी है।

अतिसार की अवस्था में जब आमोत्पत्ति के कारण रोगी को दिन में कई बार मल त्याग की प्रवृत्ति होती है, तो लक्ष्मी विलास नारदीय बृहत्

( रसराज सुन्दर ) का प्रयोग अत्यन्त हितकर है। इसमे मल का पाचन होता है और कफावरुद्ध स्रोत खुल जाते हैं। रोगी को भोजन में रुचि होती है। शरीर का भारी रहना, पेट में भोजन खाने के उपरांत तनाव या भारी प्रतीत करना तथा मल त्याग के बाद भी मल त्याग की इच्छा बने रहना इसमें उपयोगी सिद्ध हुआ है।

योग निम्न है—

४९-कृष्णाभ्रक भस्म ४ तोला
पारा २ तोला
शुद्ध गन्धक २ तोला
कपूर जावित्री जायफल
विधारे के बीज धतूर बीज भांग बीज
विदारीकन्द सतावर गंगेरन
कंघी गोखुर फल समुद्र फल
—प्रत्येक १-१ तोला।

—इन सबको पान के स्वरस में खरल करके २ रत्ती की वटी बनालें।

यदि इस योग में ३ माशा स्वर्ण भस्म और मिलादी जावे तो सोने पर सुहागा का काम देती है।

अतिसार की उग्रावस्था में यानी दिन रात में आठ दस बार मल त्यागने पर निम्न योग विल्व के गूदे के शीत कषाय से दें।

५०—हरड़ छिलका सौंफ सोंठ
नासपाल ( अनार का छिलका )
पोस्त डोंडा काला नमक

—इनको समान परिमाण में लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। चूर्ण को कढ़ाई में भून लें, बस चूर्ण तैयार है। इसको ६ माशा से ९ माशा की मात्रा में रोगी के बलाबल के नुसार प्रयोग करावें।

इस के प्रयोग से मल का पाक होकर मल बंध जाता है। मल त्याग के समय पेट में ऐंठन और गुड़गुड़ाहट जाती रहती है, भूख भी अच्छी लगती है। यह प्रयोग प्रवाहातीसार में भी आशातीत लाभ करता है।

स्वर्ण पर्पटी का प्रयोग आन्त्रों के अत्यन्त निर्बल होने पर किया जाय तो अच्छा गुण करता है। लसीका ग्रन्थियों की परिमाण में वृद्धि तथा मल के साथ रक्त का आना, इसमें रोगी की अवस्था अत्यन्त निर्बल हो जाती है। ऐसे केसों में स्वर्ण-पर्पटी का आश्रय ही रोगी की प्राण रक्षा कर सकता है।

## पथ्यापथ्य विचार—

रोगी को इसमें लघु और सुपाच्य भोजन ही हितावह है। अच्छा दूध, दही और मक्खन इसके बलाबल के अनुसार दिया जाना आवश्यक है। ताकि शारीरिक बल बना रहे। जिनको मांस सेवन में बाधा नहीं है, उनको मांस, रस और कुक्कुटाण्ड का सेवन भी विविध प्रकार से कराया जा सकता है। इसमें शारीरिक बल और मांसोपचिति को अधिक से अधिक बनाए रखना ही चिकित्सक की योग्यता का प्रमाण है।

रोगी की मानसिक दशा की ओर विशेष ध्यान भी दिया जाना अनिवार्य है। इसको अधिक से अधिक उल्लसित और मन प्रिय वातावरण मिलना

चाहिए। खेलने के लिये अगर कम से कम श्रम-साध्य विनोदप्रद गृह क्रीडायें ( in door game ) यदि मिल सकें तो रोगी पर अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद प्रभाव दिखाती हैं। रोग सम्बन्धी बात-चीत उससे न की जाये। चिड़चिड़े और चित्त को क्लेशकारक संवाद से हमेशा बचाया जाय। खुली धूप और स्वच्छ वायु उसको सैकड़ों औषधों से अधिक बल और शक्ति देती है। प्राकृतिक दृश्य, सुन्दर उपवन और तथा मनोहर फल फूलों से इसके चित्त को ताज़ेगी मिलती है।

# क्षय-चिकित्सा तथा सर्प

लेखक-प० अमरचन्द शर्मा त्रिपाठी 'हिन्दी विशेषज्ञ' 'आयुर्वेद-जिज्ञासु' भूषावर (भरतपुर राज्य)

प्रस्तुत पंक्तियों में 'क्षय रोग चिकित्सा-विषयक सर्पों के उपयोगों' का वर्णन किया जाता है। जिनसे विदित होगा कि क्षयरोग में सर्प कितना उपयोगी जीव है—

[अ] जापान प्रदेश में 'कैंडन' नामक नाग का समस्त शरीर रम नाम के मद्य पदार्थ में मिला कर पिलाने से यक्ष्मा में बड़ा लाभ होते देखा गया है।

[म] सर्प की खाद देकर उसमें इक्षु बोकर उसके गन्नों को क्षय रोगी को खिलाने से क्षय रोग दूर होता है। यक्ष्मा रोग के लिये सर्प से बढ़ कर लाभदायक औषधें कम हैं।

[र] गत महायुद्ध से पूर्व कई क्षय-ग्रस्त रोगी सर्प विष द्वारा आरोग्य कर दिये गये हैं।

[च] सर्पास्थि-भस्म ४ चावल परिमाण से १ रत्ती पर्यन्त, देश, काल, अवस्थादि के अनुसार १ सिरस बीज के चूर्ण के साथ मिलाकर मधु के संयोग से चटाने से आन्त्रक्षय दूर होता है।

[द] फणधर सर्प के मुख में १ तोला हरताल की डली रखकर मुख को सीं दें तथा उसके शिर को ६ ईंच के अन्तर से काट लें। पुनः रेशमी वस्त्र की तह करके उसमें इस शिर को बांधकर पृथ्वी में गाढ़ दें। १ पक्ष पश्चात् इस शिर को निकालकर सावधानता से उसमें से हरताल की डली को निकाल लें। इस हरताल को अमर-वेल (आकाशवल्ली) की लुगदी में रखकर एक गर्त में ५ सेर मेंगनियों में इसे रख अग्नि दें। यह हरताल भस्म को अभ्रक की भस्म के साथ मिलाकर राजयक्ष्मा रोगी को खिलाने से सफलता प्राप्त होती है। यह ज्वर को नाश करती है।

[ग] दक्षिण पूर्व एशिया प्रदेश, जापान, श्याम, तथा निम्न द्वीपों में जहां सर्प-मांस भक्षण का साधारण प्रचलन है वहां पर क्षय रोग कम होता है।

[भ] जापान आदि प्रदेशों में फणधर सर्प का रक्त विशेष विधियों से यक्ष्मा रोगियों को पान कराया जाता है। तथा लाभ प्राप्त होता है।

[प] फणधर-भस्म को उष्ण कर तैल निकालकर उसमें से ५ तोला तेल में ३ माशा केशर उत्तम मिलाकर इसे नाभि समीप आन्त्र व्रणों की शोथ दूर करने तथा व्रण भरने के लिये मलना लाभदायक है। यह आन्त्रक्षय तथा अस्थि क्षय वेदना पर लगाने से लाभ देता है।

# क्षय रोग चिकित्सा

लेखक—श्री पं० रघुवीरशरण जी शर्मा वैद्य, रसायनशाला, बुलन्दशहर।

मुझे अब तक फुफ्फुस क्षय और आन्त्रिक क्षय की चिकित्सा का ही अवसर मिला है अन्य प्रकार के क्षय का नहीं एवं मैंने अपने लेख में फुफ्फुस-क्षय का वर्णन किया है। अतः चिकित्सा भी इसी का लिख रहा हूं।

कुछ लिखने से पूर्व यह कहदूं कि चिकित्सक को यह ध्यान रहना चहिये कि रोगी को जो कुछ दिया जाय -वह बल मांस के बढ़ाने वाला, क्षुधा वर्धक, हृदय को बल देने वाला, स्निग्ध वातघ्न तथा सुपाच्य हो। अथवा यों समझिये वे पदार्थ मांसल स्निग्ध और खटिक वाले हों। जिनसे क्रमशःसहष्णुता प्रतिकार शक्ति, और खटिकाभरण की पूर्ती हो। इन्हीं तीन सूत्रों पर इसकी चिकित्सा अवलम्बित है, आवश्यकतानुसार इन तीनों ही की पूर्ति का प्रयत्न होना चाहिये। मान लीजिये आपको मांस की पूर्ति करनी है। इसके लिये भोजन में आप मांस दें। अथवा मांसल पदार्थ (प्रोटीन युक्त आहार) चिकनाई के लिये काडलीवर आइल दें। अथवा अजा घृत, बादाम रोगन, या मक्खन दें, कैलशियम की कमी को कौड़ी से या मोती से पूरा करें।

## चिकित्सा—

१—प्रातःकाल—एलादिमन्थ १ तोला १ पाव शृत-शीत अजा दुग्ध या गो दुग्ध से।

दोपहर को—ताप्यादि लोह ३-४ रत्ती, शुद्ध घी ३ माशा, २ माशे मधु से चाटें।

आज कल शुद्ध घृत और शुद्ध मधु नहीं मिलता इसलिये १ तोला शर्वत वांसा के साथ भी दे सकते हैं।

तीसरे पहर—वैक्रान्त भस्म ४ चावल, विषाण भस्म १ रत्ती, माणिक्य भस्म या पिष्टी १ रत्ती सितोपलादि १॥ माशा में मिलाकर शर्वत वांसा से दो।

शाम को—एलादिमन्थ १ तोला १ पाव दूध से दो।

रात को सोते समय—द्राक्षासव या भृङ्गराज आसव १ तोला, कर्पूरासव (भै० र०) ५ बूंद २ तो० जल में मिलाकर दो।

स्मरण रहे कि आसव खट्टे न हों अन्यथा हानिकारक होंगे।

उपरोक्त प्रयोग अच्छा लाभ करता है। जिसमें ताप्यादि लोह तथा भृङ्गराज आसव पुराने फुफ्फुसावरण प्रदाह में तो और भी अच्छा लाभ करता है।

२—सत्व गुडूची उत्तम १ माशा, वज्राभ्रकभस्म निश्चन्द्र १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १॥ माशा, प्रतिश्याय अधिक रहता हो या शीत ऋतु हो तो लवङ्गादि १॥ माशा (शा० ध०) प्रवालभस्म १ रत्ती ४ माशा मधु या १ तोला शर्वत वासा से दें। सवेरे शाम दिन में दो बार। दुपहर को भोजनोपरान्त भृङ्गराज आसव (ग० नि०) या द्राक्षासव (शा० ध०) १ तोला, कर्पूरासव ५ बूंद जल २ तोला में मिलाकर दें। रात को—च्यवनप्रश १ तोला, शंखभस्म २ रत्ती, प्रबाल भस्म १ रत्ती,

मिलाकर चाट लें ऊपर से १ पाव दूध भी लें।

३—सितोपलादि या लवङ्गादि (शा० ध०) १॥ माशा, मृगाङ्क रस १ रत्ती, सत्व गिलोय ४ रत्ती अभ्रक भस्म १ रत्ती प्रातः साय शर्वत वासा १ तोला से दें। दोपहर को ताप्यादि लोह ४ र०, वैक्रान्त भस्म ४ चावल, नीलम पिष्टी, माणिक्य पिष्टी या दोनों की भस्म ४-४ चावल, विषाण भस्म १ र० मधु से दें। रात को सोते समय १ पाव दूध से एलादिमन्थ दें।

यदि साथ में अतिसार हो तो विजय पर्पटी (भै० र०) १ र०, शंखभस्म ३ र०, जातिफलादि चूर्ण (शा० ध०) ३ माशा। इसकी ३ मात्रा करके दिन में ३ बार मधु से दें। तीन दिन बाद विजय पर्पटी की मात्रा बढाकर १ र० से २ र० कर दें, और सब पूर्वोक्त। ७ वें दिन विजय पर्पटी की मात्रा ३ र०. इस तरह बढाकर या हर दूसरे दिन आधी र० बढाकर ५ र० तक कर सकते हैं।

यदि रोगी ज्वर रहित हो या ज्वर का वेग मृदु हो या केवल दोपहर बाद ही थोड़ी देर के लिये ज्वरांश हो जाता हो, ऐसी हालत में अतिसार युक्त हो या अतिसार रहित हो तो आप "स्वर्ण पर्पटी" दीजिये बड़ा अच्छा लाभ होगा, यदि रोगी सम्पन्न हो तो "मृगाङ्क" और "स्वर्ण पर्पटी" मधु से पर्याय क्रम से दिन में ४ बार दें। इससे दिल और दिमाग भी पुष्ट होता है और विष भी दूर होता है। सुवर्ण विष दूर करने में प्रसिद्ध है।

यदि रोगी इतना खर्चा बरदास्त न कर सके तो सुवर्ण पर्पटी के साथ ही "प्रवाल भस्म" और "मुक्ता भस्म" ही मिला लें। प्रवाल, शंख, मुक्ता आदि खटिक पदार्थ हैं, जिनमें मुक्ता सर्वोत्तम है, कैलशियम का काम जीवाणुओं के चारों तरफ एक प्रकार की दीवार बनाकर बन्दी बनाना है, ये बन्दी जीवाणु कालान्तर में भूखे प्यासे नष्ट हो जाते हैं। मुक्ता में न केवल कैलशियम है बल्कि फासफेट भी है जो कि अस्थि और मस्तिष्क को दृढ़ बनाता है। मुक्ता की तरह प्रवाल में भी एक विशेषता है, इसमें ८७ प्रतिशत शर्करा है जो बल वृद्धि के लिये परमावश्यक चीज है। इसको "भारती भैषज्य तत्व" (यह पुस्तक बङ्गला भाषा में है) में इस प्रकार लिखा है कि—

"प्रबाल में सौ भाग में से ८७ भाग शर्करा बाकी १३ भाग में मेग्नेशियम् कार्बोनेट और लोह है।"

अतः इनको किसी न किसी रूप में देते रहना चाहिये।

## रक्तागम—

१—यदि कफ के साथ खून आता हो, तो सितोपलादि चूर्ण १॥ माशा, शुद्ध गैरिक चूर्ण ४ रत्ती, सफेद सुरमा की भस्म या पिष्टी १ रत्ती शर्बत वासा से दें। अथवा वासाधन सत्व ४ रत्ती जल से दें।

२—लाख पीपल का १॥ माशा चूर्ण शर्बत वासा से दें।

३—विशल्यकर्णी क्वाथ या विशल्यकर्णी का रस मधु से या विशल्य कर्णी का चूर्ण १-३ माशा जल से या शर्बत वासा से दें। (विशल्यकर्णी नहर के किनारे पर मिलती है) यदि रक्तातिसार हो तो भी विशल्यकर्णी का चूर्ण पानी से दो।

## वमन—

क्षय में वमन या वमनेच्छा ( जी मिचलाना ) प्रारम्भ से और अन्त तक रहता है। इसके लिये एलादि चूर्ण ४-६ रत्ती अनुपान शर्बत अनार मीठा १ तोला से दें। आवश्यकतानुसार दिन में १-२ बार, यदि रक्त वमन हो तो पूर्वोक्त रक्तागमन की चिकित्सा तथा अन्य ऊर्ध्वगत रक्तपित्त की चिकित्सा करें।

## रात्रि स्वेद—

क्षय में रात्रि को स्वेद होजाता है, इस पर शीघ्र ही ध्यान देना चाहिये अन्यथा कमजोरी बढ़ जाती है, जिससे रोगी शिथिल होने लगता है।

१—वृहन् कस्तूरी भैरव रस ( भै० र० ) १ रत्ती मुक्ता प्रवाल और यशद भस्म ४-४ चावल रात को मधु से दो।

२—या मकरध्वज आधी रत्ती, वृहत् कस्तूरी भैरव ४ चावल, यशद भस्म १ रत्ती, प्रवाल भस्म ४ चावल रात को मधु से दो।

३—अथवा प्रवाल भस्म और यशद भस्म समभाग दोनों को २-३ दिन खरल करके रख लो। इसमें से २ र० मधु से दो।

४—या त्रिवङ्ग ( वङ्ग, नाग, यशद ) २ र० मधु से दो।

५—अथवा केवल यशद ही १ र० को मधु से दो तो भी स्वेद रुक जायगा।

"भारतीय भैषज्य तत्व ( वङ्गला भाषा ) के लेखक डा० कार्तिकचन्द्र वसु ने यशद भस्म को संकोचक, बलकारक और जीवाणु नाशक लिखा है।

५१—कस्तूरी ३ माशा को बरान्डी ५ तोला की शीशी में भरकर ५-६ दिन तक रख दो, इसको छान कर फिर शीशी में भरकर रख लो। मात्रा—१-३ माशा तक, १ तोला जल में मिलाकर दो।

बस ये ही कुछेक प्रयोग हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार समय २ पर वैद्यगण वर्तते हैं, वैद्यत्व इसमें है कि इनका समय पर सदुपयोग कर ले, सच तो यह है कि क्षय का सन्देह होते ही बहुमूल्य मृगाङ्क आदि ऊंची औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। जिससे लाभ हो अन्यथा रोग बढ़ने पर हाथ ही मलना पड़ता है।

स्वर्ण के सम्बन्ध में यह याद रहना चाहिये कि प्रयोगों के अतिरिक्त अकेला वर्तना हो तो इसकी मात्रा अधिक से अधिक १ चावल हो। अल्प मात्रा में देने से भूख बढ़ाता है। और जीवाणुजन्य विष को दूर करता है

उपरोक्त प्रयोगों की निर्माण विधि—

## ताप्यादि लौह—

५२—सुवर्ण माक्षिक भस्म लोह भस्म
शिलाजीत बड़ी हर्र का सूक्ष्म चूर्ण छिलका उतारे हुये
वायविडङ्ग का चूर्ण

—इन सबको सम-भाग लेकर ३-४ घण्टे खरल कर रख लो।

## एलादि चूर्ण—

५३—छोटी इलायची छोटी पीपल
सूखा पोदीना पिष्टी जहर मोहरा

—प्रत्येक समभाग लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके रखलो।

## श्वेत सुरमा-

५४-बढ़िया सफेद सुरमा को अर्क गुलाब में २-३ दिन घोट लो, इसका नाम पिष्टी है। इस पिष्टी को गजपुट में रख कर १-२ बार फूंक लो यही भस्म हो जायगी।

## एलादिमन्थ-

५५-छोटी इलायची अजमोद
हर्र का बकल बहेड़े का बकल
आमला नीम की छाल
खैर की छाल ( अभाव में करथा सफेद )
विजयसार की छाल साल की छाल
वायविडङ्ग ( छिलका उतार कर )
शुद्ध भिलावा चित्रमूल त्वक्
दूधिया वच सोंठ मिरच
पीपल नागरमोथा सफेदफिटकरी

—प्रत्येक वस्तु सम भाग लेकर कुछ कूट कर कलई का बर्तन या साफ लोहे की कढ़ाई में रात को १८ सेर पानी में भिगो दो, सवेरे काढ़ा कर लो चतुर्थांश जल रहने पर कपड़े में छान लो, छने हुए काढ़े में १ सेर गौ का घी डालकर फिर पकाओ घृत मात्र शेष रहने पर इस घी को छानकर तौल लो, जितना घी हो उससे दूना मधु और वंशलोचन का सूक्ष्म चूर्ण ३० तोला, मिश्री का सूक्ष्म चूर्ण ३० छटांक मिलाकर थोड़ा सा मंथ दो ताकि दोनों चूर्ण और मधु मिल जाय।

## मृगाङ्क-

५६-शुद्ध पारद १ तोला
शुद्ध गन्धक २ तोला
सुवर्ण भस्म या पत्र १ तोला
मुक्ता भस्म या पिष्टी २ तोला
*शुद्ध टङ्कण १ तोला*

विधि—पहिले पारद गन्धक को घोटकर निश्चन्द्र कज्जली करलो फिर सुवर्ण तथा टङ्कण को एक जगह घोट लो। फिर इसमें मुक्ता मिलाकर घोटो, इन तीनों के घुटने पर कज्जली मिलाकर घोट लो, इसके बाद कांजी (अभाव में फटे हुये मट्ठे में) घोटकर टिकिया बना कर छाया में सुखा लो, इस टिकिया को सरैया (शराब) में रखकर ऊपर से एक सरैया रखकर वज्रमुद्रा ( नमक राख से ) करके तीन कपरौटी की हुई हांडी में लगभग आध सेर सांभर नमक भर कर उसके ऊपर इस सरैया को रख दो फिर इस सरैया के ऊपर आध सेर सांभर नमक और भर दो, इसके बाद इस हांडी को चूल्हे पर रखकर १२ घंटे की आंच दो, ठंडा होने पर निकाल कर २-३ घंटे खरल में घोटकर रखलो मात्रा १-२ रत्ती। अनुपान शहद पीपल या रोग के अनुसार।

## पथ्य—

सबसे पहिली बात तो यह है कि क्षय जन्य ज्वर में रोगी को लंघन नहीं कराना चाहिये। (सुश्रुत)

दूसरी बात यह है कि आवश्यकता होने पर बकरी का ही घी दूध सेवन कराना चाहिये, ऋषि काश्यप[1] ने तो केवल बकरी के ही दूध की आज्ञा दी है।

तीसरी बात निवास स्थान की है, वह ऐसा हो जिसमें सूर्य का प्रकाश खूब रहता हो धूप खूब आती हो, शुद्ध वायु का संचार अबाध गति से होता हो,

१ यक्ष्मीणं त्रिदोषघ्न दद्यात्स्निग्ध समं सह।

वहां पर धूम (धुआं) धूल बिल्कुल न हो ऐसा मकान हो जिस मकान में दो चार बकरियां भी अवश्य रहती हों। सौ दवा एक तरफ और बकरी की हर चीज एक तरफ समझ लेना।

## भोजन—

भोजन में पुराने चावल, मूङ्ग की दाल, गेंहू का दलिया, रोटी, बैंगन, गाजर, लशुन, प्याज, टमाटर आदि। फलों मे केला, सेब, नारियल की गिरी, खास चीज है अंगूर किशमिश आदि। इनके अलावा मक्खन घी दूध। यदि मांस खाते हों तो बकरी या खरगोश का मांस आदि खासकते हैं।

## वर्जनीय—

क्रोध, व्यायाम, चिन्ता, खटाई, तेल विशेष कर मैथुन तो उनको भी नहीं करना चाहिये जिनको कि आराम हो चुका हो यदि विवाहित है, तो मैथुन त्याग का संकल्प कर लेना चाहिये। अविवाहित हो तो जीवन पर्यन्त अविवाहित ही रहना चाहिये। अन्यथा फिर क्षय के शिकार होंगे।

लेख समाप्त करने से पूर्व मैं दो मन्त्र अथर्ववेद के प्रस्तुत कर रहा हूं। जिन पर वैद्यों को विचार करना है।

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्ना विष्टस्तमु देवा अवीवरन्।

अथर्व का ६ सू० ८५।

मन्त्र में शरीर में घुसे हुए क्षय को दूर करने वाली औषधि का नाम 'वरण' है। जिसका आचार्य सायण, क्षेमकरण त्रिवेदी और जयदेव जी इन तीनों ही टीकाकारों ने वरुण का (वरना) अर्थ किया है। जयदेव जी ने वरण, वरुण और पालिधा के भेद से तीन प्रकार का लिखा है।

अपामार्गोमाष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः।
अपाहयातु धानी रय सर्वा अराप्यः॥

अथर्व का ४ सू० १९।

सायण—अपामार्गाख्या औषधिः क्षेत्रियं क्षेत्र माता पितृ शरीरम् तस्मकाशादागतं सांक्रामिकं क्षय कुष्ठ पस्मारादिकं रोगं अपमाष्टु अस्मत्तोऽगमतु।

इस मन्त्र में अपामार्ग को क्षय कुष्ठादि नाशक कहा है। किन्तु क्षय रोग में वरना और अपामार्ग दोनों ही अप्रसिद्ध हैं। समस्त यजुर्वेद में सिर्फ ३ मन्त्र १२ वी अध्याय मे क्षय के सम्बन्ध में मिलते हैं तथा १६ वीं अध्याय मे क्षय से बचने की प्रार्थना का एक मन्त्र है। मेरी इच्छा है वैद्यगण इधर भी ध्यान दें।

# क्षय की सरल चिकित्सा

लेखक—श्री शिवकुमार जी वैद्यभूषण, अध्यक्ष—श्री शिव चिकित्सालय रावतपाड़ा, आगरा।

अनुलोम विलोम भेद से यह दो प्रकार का होता है। किन्तु हम अपनी चिकित्सा की सुविधा के लिये इसे पांच विभाग में विभक्त करते हैं, जिसमें

प्रथमावस्था में—

बुखार की शिकायत ज्यादा रहती है और शरीर दिनानुदिन दुर्बल होकर सूखता चला जाता है

द्वितीयावस्था में—बुखार और खांसी दोनों विशेष मात्रा में रहती हैं तथा शरीर की शक्ति दिनानुदिन क्षय होती जाती है।

तृतीयावस्था में—बुखार, खांसी, यकृत और विष्टम्भ आदि की शिकायतें रहती हैं।

चौथी अवस्था में—बुखार, खांसी, पतले दस्त आना, आंतों में दर्द होना, गुड़गुड़ाहट आदि शिकायतें होती हैं।

पांचवां प्रकार—ज्वर, कास, अतिसार, पुरुष को वीर्य स्राव तथा स्त्री को प्रदर भी साथ में जारी रहते हैं।

## प्रथमावस्था की चिकित्सा—

५७—सितोपलादि चूर्ण १ माशे से १॥ माशे तक, गुर्च सत्व ४ रत्ती से १ माशे तक। दोनों को मिलाकर दिन भर में ३ मात्रा शहद या शर्बत बनफशा के साथ दें। विशेष जरूरत होने पर—शुद्ध खूबकला क्षीरपाक की विधि से दूध बना कर प्रातः सायं २ माशे से ६ माशे तक देवें। इससे हाथ पैर की जलन, दिनानुदिन शारीरिक शक्ति का ह्रास होना आदि दूर होते हैं।

खूबकला की शुद्धि—

जौ की दो मोटी रोटी कच्ची बनाकर दोनों के बीच में खूबकला को रखकर बन्द कर दें। रोटी को तवे पर सेक लें। रोटी ठण्डी हो जाने पर खूबकला को निकाल लें, और ३-४ बार हाथों से रगड़ २ कर पानी से धो डालें फिर सुखाकर रखलें और काम में लावें।

## द्वितीयावस्था में—

५८—वृ० सितोपलादि चूर्ण, कासगज केसरी ये दोनों औषधें १-१ माशे लेकर दिन भर में ३ बार शहद या शर्बत बनफशा से देवें।

आवश्यकता होने पर बकरी दूध के साथ खूबकला भी दे सकते हैं।

## वृ०सितोपलादि चूर्ण बनाने की विधि

५९—छोटी पीपल छोटी इलायची के दाने

| | | |
|---|---|---|
| छोटी पीपल | छोटी इलायची के दाने | |
| श्वेत जीरा | मुलैठी | सफेद चन्दन |
| नाग केशर | मखाना | धनियां |
| दालचीनी | —प्रत्येक १-१ तोला | |
| वंशलोचन | =॥ तोला | |
| काला जीरा | तालीसपत्र | सफेद मिर्च |
| केशर काश्मीरी | —प्रत्येक ६-६ माशे | |
| गुडूची सत्व | ३ तोला | |
| देशी मिश्री | १५ तोला | |

—सबको कूट पीस कपड़छान कर चूर्ण तैयार कर लें।

## कासगज केसरी–

| | |
|---|---|
| ६०–तेजपात | १ माशे |
| दालचीनी | २ माशे |
| वड़ी इलायची | ३ माशे |
| तगर | ४ माशे |
| चन्दन सफेद | ५ माशे |
| अनन्तमूल | ६ माशे |
| सोंठ | ७ माशे |
| मुलैठी | ८ माशे |
| कमलगट्टे कि मिंगी | ९ माशे |
| आंवले | १० माशे |
| अडूसा पत्र | ११ माशे |
| मिश्री देशी | ५६ माशे |

—सबको महीन चूर्ण कर तैयार करे।

## तृतीयावस्था में–

६१–निम्बादि चूर्ण १ माशे से ३ माशे तक, वृहत् सितोपलादि चूर्ण १ माशे से २ माशे तक, कम्बूक भस्म ३ रत्ती से ४ रत्ती तक और बढ़ादे साथ ही कुमारी आसव १ तोला से २ तोला तक दिन में २ बार अर्क सौंफ बराबर मिलाकर दे।

## चतुर्थावस्था में–

| | |
|---|---|
| ६२–ग्रहणी कपाट रस | लोह भस्म |
| कम्बुक भस्म | १–१ रत्ती। |
| कासगज केसरी चूर्ण | १–१ माशे |

—की मात्रा में प्रातः सायम् शहद में मिलाकर चटावे। यदि खांसी की आधिक्यता हो और रोगी ज्यादे कमजोर हो तो "पञ्चामृत पर्पटी" मिलाकर दें।

## पंचमावस्था में–

| | |
|---|---|
| ६३ वृ० सितोपलादि चूर्ण | १ माशा |
| कासगज केसरी चूर्ण | १ माशा |
| स्वर्ण वसन्त मालती | १ रत्ती |

—इनकी दो मात्रा बनाकर प्रातः सायम् शहद के साथ चटावो। आवश्यकता पड़ने पर पञ्चामृत पर्पटी १–१ रत्ती की मात्रा में दिन के ११ बजे और ७ बजे शहद से देना चाहिये। और—

| | |
|---|---|
| लोह भस्म | १ रत्ती |
| कम्बूक भस्म | १ रत्ती |
| ग्रहणी कपाट | १ गोली |

—तीनों मिलाकर रात को सोने से पूर्व शहद में मिलाकर चटावे। यदि पुरुष रोगी हो तो चन्द्रप्रभा वटी १ गोली और शुक्रमेहांतक दो माशे की मात्रा में मिलाकर बकरी दूध के साथ या बब्बूलारिष्ट अथवा च्यवनप्राशावलेह के साथ मिलाकर देवे।

## शुक्र मेहांतक चूर्ण–

६४–बबूल की पत्ती, बबूल का गोंद दोनों ५–५ तोला, मिश्री देशी दोनों के आधे मिलाकर पीस छानकर रखलें।

## प्रदरान्तक चूर्ण–

| | | |
|---|---|---|
| ६५–शुद्ध रसौत | धाय के फूल | कतीरा |
| बबूल का गोंद | सुर्मा सफेद | राल |
| नाग केशर | —प्रत्येक ६–६ माशे। | |
| मोचरस | ईसबगोल | लोध |
| पीपल की लाख | प्रत्येक १–१ तोला। | |
| माजूफल | | ५ तोला |
| चिकनी सुपारी | | ५ तोला |

—इन सब चूर्ण के आधी मिश्री मिलाकर तैयार कर रखलें।

इस चिकित्सा में जितने भी योग लिखे गये हैं सब अमृत तुल्य तथा सरल हैं। आशा है धन्वन्तरि के पाठकगण ( वैद्य ) इन प्रयोगों से लाभ उठायेंगे।

# क्षय पर चिकित्सानुभव

लेखक—वैद्यराज एन० जी पाठक, R M P श्री दुर्गा आरोग्य मन्दिर, डासरा।

इस चिकित्सानुभव में लक्षणों व निदानादि की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह आजकल प्रसिद्ध व्याधि के रूप में प्रकट हो चुकी है। इसलिये अनुभव मात्र ही लिखना ठीक है।

मेरी आयु २२ साल के लगभग थी स्वास्थ्य भी अच्छा था किन्तु आने की मील में काम को जाना पड़ता था। इस अवस्था में दैवयोगेन इस रोग से आक्रान्त होगया। शरीर का बल क्षीण होकर शरीर सूखने लगा। साथ में ज्वर कास केलक्षण भी उत्पन्न हो गये। कई योग्य वैद्य डाक्टरों को दिखाया सभी की राय में टी० बी० का निश्चय हो चुका। मन को निर्बलता बढ़कर वहम सवार हो गया और रात दिन चिन्ता में रहने लगा। अनेकों उपचार भी कराये परन्तु कोई लाभ नजर न आया, जिससे निराशा और भी बढ़ने लगी। आखिर अपना केस अपने हाथ में लेकर निम्न प्रकार से औषधि व्यवस्था की। इस चिकित्सा से यह रोग कहां भाग कर चला गया इसका पता ही नहीं।

## खाने के लिये औषधि—

*रस सिंदूर, अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, शृङ्ग-*भस्म, गिलोय सत्व और लौंग, —सब १ १ तोला सुवर्ण भस्म ३ माशा, सितोपलादि चूर्ण ५ तोला सबको अच्छी तरह खरल में मिलाकर १० तोले शहद मिलाकर चाटने योग्य लेह बना लिया।

सेवन विधि—१ माशा दिन में तीन बार चाट कर ऊपर से निम्न क्वाथ पीने को शुरू किया।

| ६६—वासा के पत्र | हल्दी | धनियां |
|---|---|---|
| गिलोय | द्राक्षा | पीपल |
| माठ | मुलेठी | छोटीकटेरी की जड़ |

—सब समभाग लेकर जौकुट कर लिया। और ६ तोले लेकर क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर तीन भाग कर लिया जाता था।

भोजनोपरान्त—द्राक्षासव दोनों समय भोजन के आध घंटे बाद २ तोले में इतना ही पानी मिलाकर पीया जाता था।

रात्रि को सोते समय—च्यवनप्राश ६ माशे दूध से।

## शरीर पर मर्दनार्थ—

इस रोग में बलवर्धक तैलों की मालिश करना चाहिये। जैसे लाक्षादि तैल की मालिश करने से ज्वर की ऊष्मा का शमन होता है और निर्बलता दूर होकर बल वृद्धि होती है। इस लिये लाक्षादि तैल की मालिश करने लगा।

*बस यही क्षय की सफल चिकित्सा है।* इससे बढ़कर कोई भी योग मिलना असम्भव है। क्योंकि उपरलिखित योग में प्रत्येक वस्तु खूब सोच २ कर रक्खा गई है। इसलिये किसी भी अवस्था में फैल नहीं हो सकता है।

ऊपर आये हुये द्रव्यों का संक्षेपतः वर्णन्—

रससिन्दूर—पारद गन्धक का यह योग जन्तु जन्य क्षयादि रोगों में जन्तुओं का नाश कर बल की वृद्धि करता है।

अभ्रक—यह तो आयुर्वेद का अनुपम रत्न है। इसमें रसायन वाजीकरण गुण होने से धातु परिपोषण सुव्यवस्थित रूप से करता है।

स्वर्ण—इसमें जन्तुघ्न गुण है इसलिये क्षय के ऊपर इसका उपयोग अच्छा गुण करता है। रक्त की शुद्धी के साथ रक्त की वृद्धि भी करता है।

प्रबाल—कैलशियम गुण होने से धातुओं की वृद्धि करता है।

शृङ्ग—क्षय के जन्तुओं की वृद्धि को रोकना इसका मुख्य कार्य है।

लौह—जन्तुओं की वद्धि को रोकता है।

कथित द्रव्य—कफ का शोधन व ज्वर नाशक है।

सितोपलादि—क्षय के लिये परमोत्तम योग है।

द्राक्षासव—अन्न का पाचन कर रक्त वृद्धि करता है।

च्यवनप्राश—यह बल वर्धक योग क्षय के प्रत्येक उपद्रवों को दूर कर वजन को बढ़ाता है।

# क्षय रोग के निवारण में आध्यात्मिक और प्राकृतिक चिकित्सा महत्व।

लेखक-डा० दुर्गाशङ्कर जी नागर, सम्पादक "कल्पवृक्ष"

आजकल क्षय रोग के निवारणार्थ आरोग्याश्रम ( Sanatoriums ) तथा हस्पताल खोले जा रहे हैं। लेडी लिनलिथगो, भूतपूर्व वाइसराय की धर्म पत्नी के प्रशंसनीय उद्योग से ही क्षय पीड़ितों के लिए विशेष चिकित्सालय ( सरकारी तथा प्रजाकीय ) खुल गये हैं फिर भी गरीब क्षय पीड़ितों का तो आरोग्याश्रमों में प्रवेश ही होना कठिन हो रहा है। ये सब असुविधायें तो राष्ट्रीय सरकार बनने पर ही दूर हो सकती है। क्षय रोग के फैलाने वाले कारण जब तक दूर नहीं होते और जब तक इनका संहार नहीं होता, तब तक यह संक्रामक रोग भारत वासियों का पीछा नहीं छोड़ सकता और जन साधारण के स्वास्थ्य का रक्षा भी नहीं हो सकती।

बड़े - नगरों मे गरीबों को स्वच्छ वायु, प्रकाश धूप मिलना भी दुर्लभ हो रहा है। स्वास्थ्य नाशक गन्दे, तङ्ग मकानों में रहना पड़ता है, भाज्य पदार्थों मे आज कल अत्यधिक अशुद्धता हो रही है, पौष्टिक और प्राण युक्त भोजन का अभाव ही है, अति परिश्रम से जीविकोपार्जन हो रहा है। मद्यपान चाह, काफी, उत्तेजक विषाक्त पदार्थों का अति मात्रा मे सेवन हो रहा है, स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों की अज्ञानता, यही सब क्षय रोग के फैलाने वाले कारण हैं। जनता जब तक इस रोग का दमन करने के लिए कटिबद्ध न होगी तब तक क्षय रोग की समस्या का हल नहीं हो सकता।

क्षय मानव जाति का सबसे भयङ्कर शत्रु है। लोगों में यह भावना फैली हुई है कि क्षय का रोगी कभी बच नहीं सकता। यह गलत धारणा है। क्षय के कीटाणुओं का आक्रमण उन लोगों में अधिक होता है जो अत्यधिक भयभीत रहते हैं। ऐसा देखा गया है कि खांसी, ज्वर, पसली में दर्द या थूक में खून या अन्य लक्षण कुछ दिन बने रहे तो व्यक्ति अपने को क्षय रोग का शिकार समझ लेता है, उचित उपाय नहीं करता, न सद्वैद्य का परामर्श लेता है, घुलघुल कर मर जाता है। लोगों में यह अज्ञानता फैली हुई है कि वे बन्द मकान में रोगी को रखते हैं जिससे उसे हवा न लगने पावे। बिना आहार के हम पांच-सात सप्ताह जीवित रह सकते हैं, बिना पानी के कुछ दिन रह सकते हैं किन्तु हवा के बिना हम दस मिनट भी जीवित नहीं रह सकते। भोजन और जल से भी अधिक आवश्यक वायु है। खुली हवा में क्षय रोग के कीटाणु पनप नहीं सकते।

## वायु चिकित्सा—

"आवात वाति भेषजम्"

यह ऋग्वेद का मन्त्र है। 'हे वायो, तू औषधियों

वाला है।' इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में वायु द्वारा हमारे रोगों की चिकित्सा होती थी। जर्मनी के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डा० एजुस्ट वायु चिकित्सा द्वारा भयानक रोगों को दूर करने में समर्थ हुए हैं। यह समझना बिलकुल मूर्खता है कि शुद्ध वायु में कोई विशेषता नहीं है। अन्न, प्रकाश, जल, स्वच्छता और वायु जीवन के मुख्य आवश्यक आधार हैं, इन सबों में वायु ही सर्वोत्तम है। वायु शुद्ध निर्मल और निर्दोष होना चाहिये। सर्दी के डर से शुद्ध हवा से लोग वञ्चित रहना चाहते हैं। यदि दक्षिण ध्रुव की खुली वायु में काफी वस्त्रों को पहिन कर शुद्ध वायु का सेवन करें तो उसे भी सर्दी की बाधा नहीं होगी। दूषित हवा ही रोगों की जड़ है, विकृत वायु ही सब रोगों के उपद्रवों का मूल है इसलिये सदैव दूषित हवा का परित्याग करना चाहिये।

हम वायु का यथार्थ महत्व नहीं समझते। जाड़े जाड़े के मौसम में किसी शहर या गली में होकर निकलिये बन्द खिड़कियां अधिकतर घरों में मिलेंगी। ये लोग नहीं समझते कि ओषजन ( Oxygen ) प्राण वायु आरोग्य वृद्धि और स्वास्थ्य रक्षा के लिये कितनी आवश्यक है। बहुत से लोग तो हवा के झपाटे से डरते हैं कि जुकाम न हो जाय।

जुकाम क्या है ? शरीर यन्त्र हमारे शरीर की गन्दगी को जो भीतर भरी पड़ी है, बलगम के रूप में बाहर फेंकने का प्रयत्न करता है, हम इसी को जुकाम कहते हैं। रात की हवा और गीली हवा से भी बहुत लोग डरते हैं, परन्तु इससे भी डरने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इस हवा में उतना प्राण वायु नहीं रहता जितना सूर्य की किरणों द्वारा शुद्ध वायु में, फिर भी पर्याप्त मात्रा में ओषजन रहता है। गीली हवा और शुद्ध वायु में इतना ही भेद है कि गीली हवा में थोड़ा पानी रहता है, यह पानी फेफड़ों को हानि नहीं पहुंचाता किंतु धूल और धुआं की हवा को अपने अन्दर न जाने दो कि जिससे अधिक हानि पहुंचती है।

## शुद्ध वायु का चमत्कार–

पाश्चात्य देशों में क्षय निवारण के लिये खुली हवा का प्रचुरता से उपयोग किया जाता है। क्षय रोग को निर्मूल करने के लिये शुद्ध वायु का उपचार बहुत अधिक प्रचलित हो रहा है। स्वच्छ हवा में रोगियों को रखने के लिये नये २ आश्रम निर्माण हो रहे हैं। जो रोगी आश्रमों में जाकर नहीं रह सकते वे अपने घरों की छत पर रात दिन रहने की व्यवस्था कर सकते हैं। एक पत्र में मिस लारामेव का उदाहरण प्रकाशित हुआ है। इस क्षय-रोग से पीड़ित युवती ने अपने घर की छत पर खुली हवा में रात्रि को सोने का अभ्यास किया। आठ मास तक उसने छत पर सोने का प्रयोग नियमित रखा प्रारम्भ में उसका वजन ९० पौंड था, आठ मास में २७ पौंड वजन बढ़ा और उसकी व्याधि निर्मूल हो गई। जिन घरों में छत न होवे खुली खिड़कियों के पास बिस्तर लगाकर सोने का अभ्यास करें।

सुदृढ़ आरोग्य प्राप्ति के लिये शुद्ध हवा प्रत्येक श्वास द्वारा फेफड़ों में प्रविष्ट होना चाहिये। गर्मी सर्दी वर्षा सब ऋतुओं में खिड़कियां किवाड़ खुले रखना चाहिये और सोना चाहिये। यह आरोग्य रक्षा का महत्व पूर्ण साधन है। मिस मेव की स्थिति फुफ्फुस क्षय से अत्यन्त पीड़ित थी और उसकी हालत अत्यन्त शोचनीय थी किन्तु खुली

हवा में निरन्तर रहने से और सोने से उसने स्वास्थ्य लाभ किया, और फिर जितना बन सकता था वह खुली हवा में टहलती भी थी।

प्रत्येक मनुष्य इस बात की जाच कर सकता है रात्रि में किवाड़ों को बन्द करके सो जाओ, प्रातःकाल तन्द्रा आ घेरेगी। बिस्तर से उठने को जी न चाहेगा और दिन भर सुस्ती बनी रहेगी। खुली जगह में सो जाओ, प्रातः काल जागते ही सारे बदन में ताजगी, स्फूर्ति मालूम होगी और सारे दिन प्रसन्नता छाई रहेगी।

लाला हरदेव प्रसाद जी अग्रवाल, इटावा गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में अंग्रेजी मास्टर थे। उक्त मास्टर साहब के दो पुत्र थे। लाला शालिग्राम जी और बालमुकुन्द जी। बालमुकुन्द जी को ऐसा रोग हो गया कि खांसी के साथ कफ में खून की गाठें गिरने लगी, पांवों में सूजन चढ़ गई। इनके पिता जी स्वयं वैद्य भी थे, उन्होंने अपने पुत्र से कहा कि तुम ऐसा किया करो कि प्रातःकाल जब सो कर उठो तो लोटा, डोरी कपड़ा और पुस्तक लेकर जङ्गल में चले जाया करो। शौच, मुख मार्जन से निपट कर ११ बजे तक जङ्गल में खुली हवा में रहा करो फिर आकर कुछ भोजन करके पुनः जङ्गल में ही चल जाया करो। शाम को घर लौट आया करो। लाला बालमुकुन्द जी ने इस प्रयोग को तीन महीने किया, उनकी सब बीमारी आप से आप दूर हो गई।

उक्त उदाहरण से सहज ही में समझ में आ जाता है कि स्वच्छ वायु में, खुली हवा में रहने से और पैदल भ्रमण से कितना चमत्कारिक लाभ होता है।

## प्राणायामोपचार–

संसार में पैदा होते ही शिशु स्वाभाविक प्राणायाम की विधि का अनुसरण करता है। जब बच्चा पहली बार रोता है तो श्वास को अन्दर खींचता है और रोने की चिल्लाहट के साथ ही वायु धीरे २ बाहर निकालता है। बच्चों में श्वास प्रश्वास का व्यापार बड़ा ही स्वाभाविक होता है किन्तु ज्यों २ बड़ा होता है अस्वाभाविक श्वास क्रिया, रहन सहन विपरीत परिस्थिति में उसे रहना पड़ता है, श्वास लेते समय फेफड़े पूरे नहीं भरे जाते और प्रश्वास के समय फेफड़े पूरे २ नहीं खाली होते। दीर्घ श्वास प्रश्वास में बाधा पड़ने लगती है और श्वास छोटी उथली और अनियमित हो जाती है। शुद्ध वायु का फेफड़े में प्रवेश नहीं होता। कई प्रकार के रोग क्षय, निमोनिया के कीटाणु फेफड़ों पर हमला करते हैं और रोग नाशक प्रतिबन्ध शक्ति नष्ट हो जाती है अतएव प्राणायाम की क्रिया में बाधा पड़ने से ही हम भयङ्कर रोगों के शिकार हो जाते हैं। दीर्घ श्वास से वायु को फुफ्फुस में प्रवेश करना और दीर्घ प्रश्वास से उसे बाहर निकालना ही प्राणायाम है। इसे ही (Deep Breathing) दीर्घ श्वास प्रश्वास के क्रिया के नाम से सम्बोधन करते हैं। अमरीका में क्षय रोग निवारण के लिये शिक्षालयों में सभी बालकों व नौजवानों को यक्ष्मा प्रतिबन्ध के लिये दीर्घ श्वास प्रश्वास १०० बार नित्य करने के लिये आदेश किया जाता है। यह बड़ी सरल क्रिया है और हर कोई इसे कर सकता है। क्षय के विशेषज्ञ डा० मुथू क्षय रोगियों से दीर्घ श्वास प्रश्वास की क्रिया कराते हैं। इसके अतिरिक्त सारे अङ्गों को ढीला करके बिना लेट रहने या तकिये के सहारे

या आराम कुर्सी पर अङ्ग प्रत्यङ्ग शिथिल करके बैठे रहने से अच्छा विश्राम मिलता है। औषधि व्यवहार के पक्ष मे उनका मत नहीं है, जब वे जानते हैं कि दवा दिये बिना काम न चलेगा तो ही दवा देते है। क्षय की चिकित्सा में आजकल धीरे २ व्यायाम करना, टहलना, दीर्घ श्वास प्रश्वास की क्रिया प्राणायाम आदि की क्रियायें सावधानी से कराई जाती हैं। डा० ओटेब, वर्नर मकफडन एवं अन्य कई विशेषज्ञों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि दीर्घ श्वास प्रश्वास तथा प्राणायाम से कुछ दशाओं में क्षय रोग आराम हो सकता है। बड़े २ कुशल डाक्टर और वैद्य इस मर्ज में अधिक दवा देना व्यर्थ बताते हैं। प्रकृति के अनुकूल सात्विक आहार विहार व प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने से हजारों क्षय रोगी अच्छे हो जाते हैं।

## प्राणायाम विधि—

पालथी मारकर बैठजाओ, शरीर सीधा, छाती चौड़ी करके पेडू को भीतर की तरफ, हाथ घुटनों पर, आंखों को किसी बिन्दु या नासिकाग्र भाग पर लगाते हुए या नेत्र मूंदकर, मुंह बन्द करो।

१-दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नथने को बन्द करके बांए नथने से गहरी सांस खींचो।

२-इसी हाथ की तर्जनी से बांए नथने को पूरक ( श्वास भरने ) के बाद बन्द कर दो।

३-जितना भी सरलता से श्वास रोक सको रोक दो (कुंभक करो) और तदुपरांत दाहिने नथने से अंगूठा हटाकर धीरे २ सांस छोड़ दो।

इसी प्रकार बांया नथुना बन्द कर दाहिने श्वास खींचकर, शक्ति अनुसार रोककर शनैः २ बांए नथने से छोड़ दो। यह एक प्राणायाम हुआ। इसे लोग विलोम प्राणायाम कहते हैं। एक प्राणायाम से आरम्भ कर दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन इसी प्रकार २० से ३० प्राणायाम तक सरलता से अभ्यास कर सकते हैं।

## दीर्घ श्वास प्रश्वास की विधि—

खड़े होकर या किसी आसन से सीधे बैठकर धीरे २ श्वास लेते हुए प्रथम फुस्फुस के सबसे नीचे भाग को वायु से भर दो कि जिससे Diaphragm (डायफ्राम) उदर और हृदय के बीच का परदा नीचे दब जाय और उसके दबाव से पेट (Abdomen) स्वाभाविक रीति से जितना कुछ आगे बढ़े बढ़ने दो, न कि आंतों को अधिकतर फुलाओ। एक ही श्वास लेते हुए फुस्फुस के मध्य भाग और फिर ऊपर के भाग को वायु से भर दो, इसी क्रम से धीरे २ प्रश्वास द्वारा सांस को बाहर निकालते हुए पेट को मेरुदण्ड की तरफ जितना ले जा सको ले जाओ जिससे फेफड़ों की समस्त दूषित वायु बाहर निकल जाय, पुनः इसी प्रकार श्वास प्रश्वास की क्रिया जारी रखो। दस बार से इस क्रिया को आरम्भ करके १०० बार तक कर सकते है। इस क्रिया से खांसी, दम फुस्फुस और निमोनियां आदि रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। बदहज्मी, कब्ज, मन्दाग्नि एवं पाचन सम्बन्धी सब विकार दूर हो जाते हैं। फुस्फुस दृढ़ और बलवान बनते हैं और प्राण शक्ति का संचार अधिक होता है।

## प्राणायाम का निषेध—

१-जिन रोगियों का रोग अधिक बढ़ गया हो, उनको यह क्रियायें नहीं करनी चाहिये।

२-जिस रोगी का तापमान १०० डिग्री से अधिक हो उनको अभ्यास वर्जित है।

३-जिस रोगी के हृदय की गति तीव्र हो और घोर दमे से पीडित हो वह न करे।

४-जिस रोगी को खून की उल्टियां होती हों, वह भी इनका अभ्यास न करें।

५-जिन रोगियों का रक्तचाप बहुत बढा हुआ हो वह न करें।

दीर्घ श्वास प्रश्वास की क्रिया या प्राणायाम से कभी २ किसी का वजन घटने लगता है उससे भय न खावें, धीरे २ फिर वजन बढ जाता है। दीर्घ श्वास प्रश्वास तथा प्राणायाम की संख्या शक्ति बढने के साथ बढाई जा सकती है।

## सूर्य उपासना या सूर्य चिकित्सा से रोग निवारण-

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋग्वेद)

सूर्य अखिल चराचर का आत्मा है। सूर्य की शक्ति पर संसार के प्राणि मात्र वनस्पति एवं समस्त जीव अवलम्बित हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का प्राण सूर्य है। नार्मन डेवी सबसे प्रथम विज्ञान वेत्ता माना जाता है जिन्होंने सूर्य रश्मियों की उपयोगिता का अनुभव किया है। वेदों में हजारों वर्ष पूर्व सूर्य को जीवनदाता और बुद्धि का प्रेरक बतलाया गया है। नार्मन डेवी सूर्य को संसार का सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक मानता है। उसका कथन है कि सूर्य ही समस्त रोगों को भगाने वाला महावैद्य और सबका जीवन दाता है। १८ अप्रैल १९३८ के 'टाइम्स' में उसके मेडिकल संवाददाता ने लिखा है कि इंग्लैण्ड और वेल्स की मृत्यु संख्या औसत १९३८ में १०-१ प्रति शत रही है। इतनी कम मृत्यु संख्या इंग्लैण्ड में पहिले किसी भी वर्ष नहीं हुई थी, क्योंकि इससे अधिक सूर्य प्रकाश भी इंग्लैण्ड में और किसी भी वर्ष नहीं मिला। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य संसार को निश्चयात्मक रूप से जीवन शक्ति दाता है।

यह तो बात विदेश की है जहां शीत ऋतु भर सूर्य के दर्शन भी उन्हें प्रतीत नहीं होते और गर्मी में भी सूर्य अधिकतर छिपे रहते हैं। किन्तु हमारे भारतवर्ष में प्रत्येक ऋतु में भगवान भास्कर दर्शन देते हैं फिर भी हम उसकी संजीवनी किरणों का उपयोग नहीं करते। आज समस्त संसार में क्षय, राजयक्ष्मा, न्यूमोनिया, दमा, खांसी, जुकाम, फेफडों के रोग, दाद, खाज, चर्मरोग, एकजीमा, फोड़े फुन्सी त्वचा के रोग फैले हुए हैं। इन सब रोगों को दूर करने की सूर्य रश्मियों में विलक्षण क्षमता और शक्ति है और निश्चय से ये सब रोग अच्छे किये जा सकते हैं। रिकेटस (सूखा रोग,) बच्चों को कुछ मास धूप में बिठाने से शीघ्र लाभ होने लगता है हाथ पांव की हड्डियों का फूलना कंठमाला आदि रोग दूर होते हैं। किसी अङ्ग से रक्त स्राव हो रहा हो तो उस पर सूर्य किरणें पड़ने से बन्द हो जाता है। सूर्य केवल बाहरी ही नहीं अन्दरूनी बीमारियों को भी दूर कर देते हैं। क्षय रोगी नित्य थोड़ा २ पांव से लेकर वक्षस्थल तक अङ्ग को वस्त्र हीन करके सूर्य ताप में थोडी देर तक खुला रखे। इस समय को क्रमशः बढावें। सूर्योदय से ९ बजे तक और सूर्यास्त के समय सूर्य ताप के लिये अत्यन्त गुणकारी है। अमेरिका के डा० बेबिट, सूर्य प्रकाश और रङ्ग सिद्धांत Principles of Light and Colour पुस्तक के लेखक लिखते हैं

कि फेफड़ों पर पीले कांच के द्वारा सूर्य प्रकाश डालने से क्षय रोग के कीटाणुओं का शीघ्र नाश होता है। लाल कांच के प्रकाश डालने से सूजन कम होती है। हरे कांच के प्रकाश डालने से समस्त चर्म रोग दूर होते हैं। घाव आदि पर नीला और हरा प्रकाश गुणकारी होता है। सूर्य किरणें अमृत के समान लाभकारी हैं, किन्तु इसका भी दुरुपयोग हो सकता है, इसलिये सावधान रहकर उपचार करना चाहिये। सूर्य किरणों में रोग विनाशक अद्भुत शक्ति है। मस्तिष्क का कोई रोग हो तो प्रातःकाल तथा सूर्यास्त के समय बैंगनी रङ्ग के कांच से सूर्य किरणों को सिर पर डालना चाहिए।

डा० सेलिमी का कथन है कि बच्चों को वस्त्र रहित करके सूर्य की धूप १५ मिनट से आध घण्टे तक सेवन कराओ, इस से बच्चे के रक्त में फास्फेट तत्व उत्पन्न होता है। सूर्य किरणों में विटामिन'डी' खाद्य प्राण है। हृदय रोग, धातु क्षीणता, मस्तिष्क के, मज्जा तन्तु के दुर्बलता के रोग, उन्माद, अपस्मार हिस्टीरिया, मूर्छा, अनिद्रा नीले रङ्ग के कांच से प्रकाश डालने से दूर होते हैं। संधिवात, कंठमाला पक्षाघात रोगों पर लाल कांच से प्रकाश डालने पर बड़ा लाभ होता है। सूर्य की किरणों मे रासायनिक तत्व लोहा. चूना और मेगनेशिया और फास्फेट विद्यमान हैं। लोहा से रक्त शुद्ध होता है, चूने से दांत और हड्डियां दृढ़ होती है और बनती हैं। मेगनेशिया मांस पेशियों के लिये गुणकारी है। रुग्ण शरीर को धूप में खुला रखने से कभी २ रोगों का उभाड़ होता है, वे उग्र रूप धारण कर लेते हैं। इससे डरना नहीं चाहिये क्योंकि कभी २ नाजुक प्रकृति वालो का रक्त जम जाता है, सिर दुखने लगता और गर्मी बढ़ जाती है, कुछ समय पश्चात् यह दशा दूर हो जाती है।

## सूर्य उपासना—

भारत में आज से तीन हजार वर्ष पूर्व ही नहीं किन्तु वैदिक काल से ऋषि महात्मा प्रातःकाल शीतल जल से स्नान करके सूर्य की उपासना करते थे। मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सूर्य की पूजा करते थे। आजकल के लोग इस पद्धति को मिथ्या विश्वास मानें किन्तु वर्तमान के विज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि सूर्य की किरणों का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

हृद्रोगं मम सूर्य्य हरिमाणं च नाशय। (ऋग्वेद)

खुली हवा मे ऐसे स्थान पर बैठ जाओ जहां सर्व प्रथम सूर्योदय की किरणें तुम्हारे शरीर पर पड़ सकें। शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग को शिथिल कर लो। नेत्र मूद लो। सूर्य का ध्यान करो और प्रार्थना करो। हे सूर्यदेव! मेरे हृद्रोग का नाश करो, अपने अविनाशी, अमृतमय, आरोग्यद किरणों का मेरे शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों मे, रोम २ मे संचार करो, जिससे आयु, उत्साह आरोग्य और आनन्द की वृद्धि हो। मत्स्य पुराण में लिखा है, "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' अर्थात् सूर्य से ही आरोग्य की आकांक्षा करो।

## मानसिक और आध्यात्मिक चिकित्सा

मानसिक और शारीरिक दशा का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहावत है कि स्वस्थ्य मन स्वस्थ्य शरीर में रहता है। गहरे मानसिक धक्के से, बड़े शोक से या किसी प्रकार की आर्थिक हानि से, भयङ्कर शारीरिक रोग होजाते हैं। एक

युवक टी० बी०, टी० बी० की भावना, अर्थात् मैं क्षयरोग से ग्रस्त हूं, भ्रमपूर्ण भावना में इतना डूब गया कि उसका २० पौंड वजन कम हो गया था कोई बार २ जोर देकर किसी बात को नित्य रटता रहे तो वह बात प्रत्यक्ष में सत्य प्रतीत होने लगती है। मानस शास्त्र का यह एक नियम है कि जो बात बार २ मन में चला करे वह विश्वास रूप में बदल जाती है।

उस युवक के मस्तिष्क पर बार २ आटोसजेशन, आत्म सूचना द्वारा यह भावना अंकित की गई कि उसके शरीर के अवयव निरोग हैं। उससे भी वही वाक्य दुहराये गये कि वह पूर्ण स्वस्थ है, बलवान एवं प्रसन्न है, युवा है, निरोग है इसी प्रकार उसके मन का भावना बदल गई और उसका ३० पौंड वजन बढ़ गया। जो अपने को आरोग्य, सुन्दर, युवा, प्रसन्न और बलवान मानता है वह निरोग, सुन्दर, बलवान और युवा बन जाता है। और जो अपने को सदा रोगी, निर्बल, बदशक्ल, वृद्ध, दुख्या, और हीन मानता है वह वैसा ही बन जाता है। सद्वैद्य महानुभाव सदैव ध्यान रखें कि रोगियों को कभी भूलकर भी भयङ्कर व्याधि की सूचना न दें क्योंकि उनके कोमल अन्तःकरण पर बहुत बुरा असर पड़ जाता है जिसे दूर करना बड़ा कठिन हो जाता है।

लन्दन के क्षय विशेषज्ञ डाक्टर ने पता लगाया है कि गिरी हुई मानसिक दशा के कारण क्षय रोग बड़ी प्रबलता से उत्पन्न होता है। क्षय विशेषज्ञ डा० सुथू का भी यही कथन है कि क्षय उतना क्षय के कीटाणुओं से नहीं होता जितना निर्धनता, मानसिक गिरी हुई अवस्था के कारणों से उत्पन्न हुई मानसिक चिन्ता, अशान्ति, क्षोभ, उद्विग्नता, निराशा और क्लेशों के कारण होता है। जब तक मानसिक भावनायें शरीर को जीर्ण शीर्ण करने वाले कीटाणुओं के आक्रमण को रोकने के योग्य नहीं हो सकती तब तक लोग पनप नहीं सकते। इसका सारांश यह है कि मानसिक दशा की खराबी ही सब रोगों की जड़ है। मन को सदैव स्वस्थ, प्रसन्न, शांत, रखने का प्रयत्न करो। क्षय रोग के प्रति—

## आध्यात्मिक चिकित्सा—

औषधि खाऊं न बूटी खाऊं न कोई वैद बुलाऊं।
पूरणवैद मिले अविनाशी, वाहीको नवज दिखाऊं॥

आयुर्वेद में मान्त्रिक चिकित्सा का भी महत्व बतलाया गया है। प्राचीन चिकित्सक मानसिक और आध्यात्मिक उपचार को अपनी चिकित्सा पद्धति के साथ २ उपयोग में लाते थे। रोगी स्वयं इसका प्रयोग करे या वैद्य या उपचारक सोने के पूर्व रोगी पर यह उपचार करे। यदि रोगी दूर हो तो सोने के समय उपचार करे।

रोगी को यह आदेश दें कि सोते समय अपने सब अङ्ग प्रत्यङ्ग शिथिल कर लें, ढाले करले, नेत्र मूंद लें, मुह बन्द करके दीर्घ श्वास प्रश्वास की क्रिया २० बार करे।

## आत्म समर्पण—

अपने मन और शरीर को सर्वथा भगवान को समर्पण करदें। जो कुछ भी हो रहा है भगवान की इच्छा से हो रहा है, हानि लाभ, जीवन, मरण, आरोग्य, रोग, सब दशाओं का स्वामी परमात्मा है। मिथ्या आहार विहार, मिथ्या विचार से मेरा शरीर विषाक्त हो गया था, अब मेरा शरीर

पूर्ण स्वस्थ हो रहा है। मन निर्मल और शुद्ध होरहा है। परमात्म तत्व सर्वत्र भरा हुआ है, वही भीतर बाहर सब जगह भरा हुआ है, मैं उसकी शरण में पहुंच गया हूं। शोक, भय, चिन्ता, क्लेश से मुक्त होगया हूं। परमात्मा के सिवाय रोग निवारण करने वाली दूसरी शक्ति कोई नहीं है। ॐ आरोग्यम् ॐ आनन्दम् का जप करते २ सारे विश्व का जीवन, सारे विश्व का आरोग्य, सारे विश्व की प्रसन्नता और सारे विश्व की शान्ति का अनुभव रोगी अपने में करे, तथा उपचार रोगी में इनका अपने मन में ध्यान करें और इस भावना में सराबोर हो जाय, डूब जाय। सब रोम कूपों से, इन्द्रियों से यह आरोग्य तत्व उसके शरीर में प्रवेश कर रहा है, ऐसी भावना करे। भगवान धन्वन्तरि के इस मन्त्र पर श्रद्धा रखते हुए हृदय से उच्चारण करते हुए इसके अर्थ और तत्व का चिन्तन करते हुये उस आध्यत्मिक प्रदेश में पहुंच जाओ जहां रोग व्याधि, चिन्ता, भय, शोक, भ्रम, आदि का रूप एक क्षण भी नहीं ठहर सकता।

> अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारण भेषजात् ।
> नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—

"अच्युत आनन्द गोविन्द परमात्मा के नाम का अखण्ड चिन्तन अव्यर्थ औषधि है। इस अमृतमयी दवा से सब रोग नष्ट होते हैं, सत्य कहता हूं, सत्य कहता हूं।" यही आध्यात्मिक चिकित्सा का अन्तिम सत्य है।

---

# क्षय पर दुग्ध कल्प

लेखक—श्री० डा० कृष्णविहारी राय जी चौधरी, डुमरांव ( सी० पी० )

भिन्न २ मनुष्यों में भिन्न २ प्रकार की उन्नति देखी जाती है। किसी की शारीरिक उन्नति विशेष होती है, किसी की मानसिक और किसी की नैतिक। मानसिक प्रवृति वाला अपने फुस्फुस द्वारा ही शक्ति लेता है। ऐसे मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि उसका फुस्फुस काफी मजबूत हो, इसी तरह शारीरिक बल वालों के लिये आंतें और नैतिक बल वालों के लिये ग्रन्थियों का स्वस्थ्य रहना अत्यन्त आवश्यक है, जिन पर जननेन्द्रिय की शक्ति निर्भर करती है। मानसिक प्रवृति के मनुष्य को फुस्फुस का क्षय होने पर अच्छा होना कठिन है क्योंकि उसके सबसे मजबूत भाग पर रोग का आक्रमण हो जाता है। ऐसी बीमारियां जो फुस्फुस तक नहीं पहुंची है वे चाहे जितनी भी भयङ्कर दीखती हो अच्छी चिकित्सा से अवश्य अच्छी हो जायगी। वैसी बीमारियां जो फुस्फुस का हो अर्थात् यक्ष्मा आदि ऐसे रोगी के लिये घातक सिद्ध होती हैं। इसी तरह शारीरिक शक्ति प्रधान व्यक्तियों के लिये पेट का रोग और नैतिक प्रवृति वालों के लिये जननेन्द्रिय का रोग घातक होता है। अब मैं क्षय रोग की चिकित्सा लिखता हूं। जिससे अनेक रोगी इस भयङ्कर रोग से रोग मुक्त हुए हैं।

## क्षय पर दुग्ध कल्प

यह बात निर्विवाद सत्य है कि क्षय के जीवाणु वहीं सुगमता से रह सकते जिनके शरीर में कैलसियम की कमी रहती है। भले ही A. P. treatment कुछ हद तक सफलीभूत हो परन्तु रोगी के शरीर में कैलशियम अधिक से अधिक पहुंचाना ही चिकित्सक का प्रधान कर्तव्य है। अमेरिका के डा० माकफेडेन ने हजारों क्षय के रोगियो को केवल दुग्ध चिकित्सा द्वारा रोग मुक्त किया है। प्राकृतिक चिकित्सालय इलाहाबाद में ऐसे अनेक रोगी स्वस्थ हुए जो अपने जीवन से निराश हो चुके थे। वास्तव में यदि कहा जाय कि दुग्ध चिकित्सा ही राजयक्ष्मा रोग की एक मात्र चिकित्सा है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह भी काया कल्प है और इसमें वे ही सब अक्षरशः नियम पालन करने पड़ते हैं जो चरक संहिता के काया कल्प के प्रकरण में लिखा हुआ है परन्तु इसमें औषधियां नहीं पड़ती और चिकित्सक को केवल प्रकृति का ही सहायता लेनी पड़ती है।

अब मैं दूध के कल्प से पूर्व यह बतला देना चाहता हूं कि आखिर केवल दूध से असाध्य से असाध्य रोग विना किसी औषधि के कैसे अच्छे हो जाते हैं! डा० मैकफेडेन ने लिखा है कि—

"दूध के अन्दर जो खनिज पदार्थ होते हैं उनमें गन्धक, फास्फोरस, क्लोरिन, सोडियम, पुटाशियम कैलसियम, मैगनीज, लोहा और आयोडीन पाये जाते हैं, जो मस्तिष्क और स्नायुओं को बल देते हैं। तथा दांत और हड्डियों के लिये आवश्यक हैं।"

नीचे लिखे कोष्ठक से यह मालूम हो सकती है कि औसत दूध में विभिन्न तत्व प्रकाशित किस परिमाण म होते हैं—

| दूध | प्रोटीन | चर्बी | कार्बोज | पोटा० | सोडि० | कैल० | मैग० | लोहा | फास० | गन्ध० | क्लोरो० | सिली० | विटामिन |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मनुष्य | १ ६० | ३.६५ | ६.२५ | ११.१३ | ३.१६ | ५.८० | ०.७५ | ०.०७ | ७.८४ | ०.३३ | ६.३८ | ०.०७ | × × × |
| गाय | ३.५५ | ३.७० | ६.८८ | १३.७० | ५.३४ | १०.२४ | १.६९ | ०.३० | १५.७९ | ०.१७ | ८.०४ | ०.०२ | × × × |
| बकरी | ४.३० | ४.५० | ४.४० | १५.६० | ३.४५ | १३.९० | २.३० | ०.६० | २९.०५ | ०.२० | १३.५० | ०.७० | × × × |

इनके सिवाय आयोडीन, संखिया, कुचला, सोना, ताम्र आदि धातुएं भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में पाई जाती हैं, दूध में बिल्कुल नहीं होता। डा० हेग का मत है कि सारे की रोगों जड़ Uric acid है। अतः दूध द्वारा मानसिक रोगों को छोड़ कर सभी रोग अच्छे हो सकते हैं। अब मैं क्षय रोगियों के लिये दुग्ध चिकित्सा लिखता हूं जिससे कभी कभी आशा से अधिक हमें सफलता मिली है। परन्तु यदि रोगी संयमी नहीं हो, चिकित्सा में पूर्ण विश्वास न हो, चिकित्सा के सभी साधन न हो, बल और मांस क्षीण होगये हों, पाचन शक्ति अच्छी और आर्थिक स्थिति उत्तम नहीं हो तो ऐसे क्षय रोगी के लिये दूध का कल्प उपयुक्त नहीं होता।

दूध पिलाने के दो सप्ताह पूर्व से क्षय रोगी के भोजन में केवल क्षारमय पदार्थ देना चाहिये। प्रातः काल धारोष्ण दूध और संतरा, दोपहर को चोकर सहित आटे की रोटी, मक्खन, टमाटर, पपीता, परवल आदि की तरकारी काफी मात्रा में और प्याज तथा पोदीना की चटनी olive oil थोड़ा डाला हुआ देना चाहिये। भोजन के १० मिनट बाद थोड़ा गाय का मठा बिना घी निकाला हुआ दोषानुसार सोंठ अथवा पीपल डालकर देना होगा। तीसरे पहर संतरा का एक ग्लास रस और रात्रि में पुनः रोटी, तरकारी मक्खन आदि तथा भोजन को आधे घण्टे बाद मुनक्का डाला हुआ दूध देना चाहिये। भोजन के साथ रोगी को जल नहीं पीना चाहिये। नित्य प्रातः काल १५ मिनट तक सूर्य का किरण समस्त शरीर पर लेनी चाहिये। भोजन और स्वास्थ सम्बन्धी सभी नियमों को पालन करने से रोग शीघ्र नष्ट होजाता है। दिन में नीली गहरी बोतल का जल Calcari phos 6x और Ferrum phos 6x के साथ ४ बार देना चाहिये। यदि रोगी को कब्ज मालूम हो तो एक भाग पीली बोतल का जल मिला देने से कब्ज दूर हो जायगा। क्षय रोगी को दुग्ध चिकित्सा के लिये ग्रीष्म ऋतु अच्छी नहीं होती है। अतः रोगी को गर्मी में पहाड़ पर जहां गर्मी बिलकुल नहीं हो ले जाना चाहिये अन्यथा दुग्ध चिकित्सा से पूर्ण लाभ नहीं होगा।

दूध का कल्प आरम्भ करने के पूर्व रोगी को संतरे के रस पर कम से कम ३ दिन से ७ दिन तक रखना चाहिये। दोनों समय पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी देकर केवल १ नीबू का रस डाले हुए शुद्ध गुनगुने जल को बस्ती

देना चाहिये । रसाहार के पश्चात् रोगी को सिर्फ दूध के आहार पर कम से कम डेढ़ महीने तक रखना चाहिये। ५ बजे भोर से ६ बजे शाम तक डेढ़ २ घण्टे के अन्तर पर रोगी को आठ २ औंस दूध रोगी को पिलाना होगा। तीसरे दिन एक घंटा २० मिनट के अन्तर पर उतना ही दूध देना होगा। इसी तरह नित्य पाच मिनट का समय घटाते २ उतना ही आठ औंस दूध जब रोगी आध २ घंटे पर पीने लगेगा तब दिन भर में वह ६ सेर से ऊपर दूध सुगमता से पचाने लगेगा। यदि रोगी की पाचन शक्ति अच्छी हो तो दूध और बढ़ाया जा सकता है। अमेरिका में ३२-३३ सेर दूध रोगियों को पिलाते देखा गया है। परन्तु भारतवर्ष में साधारणतः ७-८ सेर दूध काफी होता है। दूध बराबर रोगी को ताजा, स्वस्थ, बछड़े वाली, नई काली गाय का होने से विशेष लाभ होता है। अत. चरक आदि ग्रन्थों में शुद्ध दूध का वर्णन है।. उसको यथा शक्ति पालन करने की चेष्टा करनी चाहिये। दूध धीरे २ पीकर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। इस चिकित्सा से नित्य एक पौंड वजन बढ़ता है।

मैंने इलाहाबाद में एक रोगी को देखा जो काफी दूध पचाता था परन्तु जिस दिन पूर्ण विश्राम नहीं करता था उस दिन उसका वजन नहीं बढ़ता था। दुग्ध चिकित्सा में एक खास विचित्रता है कि विश्राम नहीं करने से कभी २ पतले दस्त आने लगते हैं। कुछ लोगों को चिकित्सा के आरम्भ में कब्ज रहने लगता है। अत: कब्ज को दूर करने के लिये दूध और बढ़ा देना चाहिये। मेरा अनुभव है कि दूध देने से कब्ज के बदले पतले दस्त आने लगते हैं। कभी २ रोगी को अरुचि और पेट में गुड़गुड़ाहट या वायु उत्पन्न होजाती है। एक दो नीबू चटाने से ये उपद्रव स्वयं शान्त होजाते हैं। रोगी को नित्य सूर्य स्नान करा देना जरूरी है। इस स्नान का महत्व दुग्ध चिकित्सा में बहुत अधिक समझा जाता है। क्योंकि इससे Nerves का relaxation खुद होता है। चिकित्सा काल में कभी २ नवीन रोग भी दृष्टिगोचर हो सकते हैं जो उमड़ कर स्वयं चले जाते हैं। दूध से साधारण भोजन पर धीरे २ आना चाहिये। लेख बड़ा होने के भय से सारी बातें विस्तार से नहीं लिखी जा सकती। अतः table turn करने में बाद भी कुछ काल तक कम से कम ३ सेर दूध नित्य रोगी को पिलाना होगा। क्योंकि शीघ्रता से आया हुआ वजन कभी २ घटने लगता है। अतएव आये हुए वजन को कायम रखने से क्षय रोग से मुक्त होने में पूर्ण सहायता मिलती है। किसी २ रोगी को तीन २ बार ठहर २ कर दुग्ध चिकित्सा करनी पड़ती है। इस चिकित्सा से शरीर पूर्ण पुष्ट होकर मुख मण्डल गुलाब जैसा खिल जाता है। यदि चिकित्सक क्षय रोग नाशक औषधियां ८ गुणा मात्रा में गाय को खिलाये तो विशेष लाभ दृष्टिगोचर होता है।

मुझे पटना में अनेक रोगियों में जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी और जो पूर्ण संयमी थे आशा से अधिक इस तरह सफलता मिली है। क्षय रोग से मुक्त होने के पश्चात् भी तुला हुआ भोजन जिसमें प्राकृतिक

[ शेषांश पृष्ठ २३८ पर देखें ]

# क्षय रोग और मनोविज्ञान

लेखक- श्री० बलदेव जी शर्मा आयुर्वेदाचार्य, मेंबर अन्तर्राष्ट्रीय साइकोअनेलिटिल सोसाइटी ( वियाना )

पाठक इस बात से भली भांति परिचित हैं कि मानसिक उद्वेग या आघात, यदि उनका प्रभाव चिरस्थाई रहे तो घुण की तरह शरीर को खोखला कर देते हैं। शरीर का यह शोषण—

"दुर्बलं स्वति क्षीण मांस शो,णितमल्प लिङ्गमप्यजातारिष्ट मपि वहु लिङ्ग मेव जातारिष्टमेव विद्यात"

चरक के इस वाक्य के अनुसार ज्वर, कासादि लक्षणों के न होते हुए भी क्षय के ही अन्तर्गत होता है। प्रत्युत चरक के अनुसार लक्षणों के प्रादुर्भाव के बिना ही यह दशा क्षय की असाध्य दशा बन जाती है। इसके विपरीत—

"अपरिक्षीण मांस शोणितो बलवान् सर्वैरपि शोष लिङ्गैरुपद्रुतः साध्योज्ञेयः"

इस चरक के वाक्य से स्पष्ट है कि क्षय के सारे लक्षणों और उपद्रवों के होते हुए भी शरीर का शोषण न हुआ हो और रोगी का बल सुरक्षित हो तो साध्य है।

विचारणीय यह है कि मानसिक कारणों से जिनका शरीर शोषण हो रहा हो और परीक्षा करने पर उनके शरीर मे व्याधि का लक्षण कोई न मिल सके तो उनकी चिकित्सा चिकित्सक क्या करेगा? कोई पौष्टिक औषधि युक्त आहार विहार जलवायु परिवर्तन, इत्यादि के अतिरिक्त सम्भवतः कुछ नहीं। परन्तु इनमें से कोई उपाय मूल व्याधि की चिकित्सा नहीं है।

'दिल को खुश रखिये' 'चिन्ता दूर कीजिये' इत्यादि आदेशों से मानसिक उद्वेग का निराकरण हो जायेगा, यह आशा करना भी निर्मूल है। क्योंकि रोगी स्वयं ही चिन्तादि से दूर भागना चाहता है, परन्तु चिन्तादि जो मानसिक व्यथा उसे घेरे हुए हैं, वही उसका पीछा नहीं छोड़ती।

हां, मनोरञ्जन, या मन की व्यथा को भुलाने के लिये मन को किसी रुचिकर कार्य मे लगाना, देशान्तर पर्यटन, खेल इत्यादि कई अवस्थाओं में चिकित्सा का कार्य कर सकते हैं। परन्तु सब अवस्थाओं में नहीं। विशेषकर ऐसी अवस्थाओं में तो जहां व्यथा इतनी चिरस्थायिनी और गम्भीर मूल वाली हो कि क्षय को उत्पन्न कर चुकी हो, वहां मनोरञ्जन के साधन पहिले ही निष्फल प्रमाणित हो चुके होंगे। नहीं तो रोगी इस दशा को न पहुंच चुका होता।

इच्छा शक्ति या संकल्प शक्ति, जिसे मानसिक संयम या सुधार के लिये काम मे लाया जाता है, अवश्य ही हितकारी साधन है। इसी शक्ति से मन्त्र द्वारा, श्रद्धा द्वारा, विश्वास अथवा प्रार्थना द्वारा मन की उच्छृंखल वृत्तियों को वश मे लाया जा सकता है। भय से आक्रांत रोगी को बार २ यह प्रेरणा देकर कि 'तुम निर्भय हो' 'अब तुम्हें कोई भय न लगेगा' कई रोगी भले चंगे हो सकते हैं। हिपनौटिज्म विल पावर सजेशन इसी साधन के

## मनोविज्ञान–

परन्तु इनमें से कोई साधन मनोविज्ञान के अन्तर्गत नहीं है। मनो विज्ञान का कार्य क्षेत्र वह है जहां इनमें से कोई साधन सफल नहीं हो सकता अथवा यदि किसी अंश में सफलता हो भी तो चिरस्थायी प्रभाव नहीं रहता। और ऐसे रोगी भी होते हैं, जिनकी मानसिक व्याधि किसी भी उपाय से शान्त नहीं होती और फलस्वरूप उनकी दशा इतनी गिर जाती है कि क्षय रोग में परिणत हो जाती है। केवल मनोविज्ञान ही उन्हें स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है।

यह मनो विज्ञान उन मानसिक उद्वेगों को जो हमारे अन्तःकरण में छिपे हुए अर्धजागृत अवस्था में रहते हैं, ज्ञान के प्रकाश में लाने की एक विशेष प्रक्रिया है। यही साधन वैज्ञानिक रूप से चिकित्सोपयोगी प्रमाणित हो चुका है। चिकित्सा क्षेत्र में इसे ही मनोविज्ञान कहा जा सकता है।

यद्यपि चरक में सूत्ररूप से इस विज्ञान के सारे अङ्गों का वर्णन है, परन्तु उनका क्रियात्मक रूप से विनियोग न करने से हमने कुछ वैज्ञानिक अनुभव या सफलता प्राप्त नहीं की।

प्रचलित पाश्चात्य मनोविज्ञान "साइको अनैलिसिस" इस क्षेत्र में इतनी उन्नति कर चुका है कि योरप अमेरिका में सैकड़ों चिकित्सक इसी विज्ञान के विशेषज्ञ के रूप में केवल इसी चिकित्सा कार्य को करते हैं।

इस विज्ञान के विस्तृत अनुभवों से मानव अन्तःकरण का एक महत्व पूर्ण रहस्य प्रकाश में आया है वह यह है कि अर्ध जागृत चित्त की दबी हुई भावनायें जागृत मन पर अपना प्रभाव और आधिपत्य इस प्रकार जमाये रखती हैं जैसे कोई तान्त्रिक अपनी शक्ति से किसी व्यक्ति को अपने इशारों पर नचाता है, अथवा एक हिप्नोटिस्ट अपने प्रभाव मुग्ध व्यक्ति से जो चाहे करवाता है। मन्त्र मुग्ध या प्रभाव मुग्ध व्यक्ति यह नहीं जानता कि वह अमुक कार्य किसी बाह्य प्रभाव के कारण कर रहा है। परन्तु वास्तविक कारण न जानते हुये भी वह व्यक्ति उस कर्म अथवा मन में उत्पन्न हुई भावना के सम्बन्ध में अपनी ही ओर से कोई युक्ति या समाधान सोच लेता है कि मैं यह इस उद्देश्य से कर रहा हूं। मेरी चेष्टा अकारण नहीं है। मैं इसका कारण स्वयं ही हूं। अर्थात् उसका अर्ध जागृत मन प्रभाव के वश में है और उसकी बुद्धि उसी मन की अनुगामिनी हो जाती है।

ऐसे ही जो क्षीणकाय रोगी चिरकाल से चिंता शोक, भय, ईर्षा, द्वेष, उत्कण्ठा आदि किसी मानसिक आधि से पीड़ित है और घुण की तरह खाये

---

[ पृष्ठ २३६ का शेषांश ]

लवण स्टार्च, प्रोटीन, फोक इत्यादि मौजूद हो देना चाहिये। जितने स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम हैं उनको पालन करने से पुनः रोग के आक्रमण का भय नहीं रहता। शुद्ध भोजन, ब्रह्मचर्य और प्राणायाम द्वारा रोग के शत्रु हैं। गर्मी में शीतली और शरद में सूर्य भेदन प्राणायाम करना चाहिये। इतना ही लिख लेख समाप्त करता हूं कि यदि देश की दरिद्रता दूर होजाय और युवकों में प्राणायाम की सच्ची लगन लग जाय तो काल स्वरूप भी राजयक्ष्मा रोग उन्हें नहीं हो सकता।

जा रहे हैं, उनका अन्तःकरण अवश्य उसी अर्ध-जागृत मन के अन्धेरे शासन से आच्छादित है। और उनका जागृत मन और बुद्धि उसी के प्रभाव में मन्त्र मुग्ध की भांति विवश है।

उनकी चिकित्सा उस अर्ध जागृत मन की विचार ग्रन्थि को जागृत करने से ही होसकती है।

जागृत हो जाने पर चिकित्सा कैसे हो जायेगी, यह जानना कठिन नहीं है। बड़े से बड़े दारुण शोकादि स्वयमेव समय पाकर प्रभाव हीन हो जाते हैं। माता के हृदय से पुत्र की मृत्यु का शोक शनैः शनैः दूर हो जाता है। पति की मृत्यु का शोक भी समय पाकर पीछा छोड़ देता है।

जागृत अर्थात् जाने हुए उद्वेग चिरस्थायी प्रभाव इसलिये नहीं रखते कि कई प्रति क्रियात्मक प्रभाव उनके प्रभाव को स्वाभाविक प्रक्रिया से शांत कर देते हैं। जैसे अपना ही विवेक, जीवन की अन्य व्यग्रतायें, आवश्यकतायें तथा रुचियां और अन्य लोगों की बातें, नई २ इच्छायें और प्रवृतियां इत्यादि।

जो उद्वेग अज्ञात ही हो यानी जो शत्रु सामने ही न हो उसका प्रतीकार ही कैसे हो सकता है? उस उद्वेग पर वाह्य प्रभावों का कोई प्रति क्रियात्मक फल नहीं हो सकता।

जिन उद्वेगों का प्रभाव अस्वाभाविक रूप से प्रबल हो अथवा चिरस्थायी रह जाय, उनके मूल में अवश्य कोई अन्य अर्ध जागृत दबे हुये सोए हुये उद्वेग होते हैं। चिकित्सा कार्य के लिये मनोविज्ञान का लक्ष्य उन्हीं अर्ध जागृत अज्ञात उद्वेगों को जागृत करना अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में लाना है।

१ रोगी का उदाहरण लीजिये। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद यह रोगी शोक से पीड़ित रहने लगा। यह शोक अस्वाभाविक तौर से प्रबल था और पर्याप्त समय बीतने पर भी कम होता न दिखाई देता था। फल स्वरूप रोगी का स्वास्थ्य क्षीण होने लगा। लोग भी उसे समझाते थे, वह भी अपने मन को समझाता था कि "आखिर लोगों की भी स्त्रियां मरती हैं; तुम्हारी कोई अनोखी नहीं मरी" लोग भी अपनी स्त्रियों से बहुत प्रेम करते हैं। तुम्हारा ही कोई अद्वितीय प्रेम नहीं था" इत्यादि।

परन्तु न जाने उसका मन इस शोक से पीछा न छुड़ा सका। दूसरे विवाह की बात या मनोरंजन के साधन उसे कोई अपनी ओर न खींच सके। धीरे २ उसकी शारीरिक और मानसिक अवस्था दयनीय हो गई। पौष्टिक औषधियां कमलपत्र पर जल की तरह प्रभाव हीन प्रमाणित हुईं।

मेरे पास वह रोगी लाया गया। तीन सप्ताह तक नित्य प्रति उसके दबे हुए विचारों का अनुशीलन और विश्लेषण करने पर यह रहस्य प्रकाश में आया कि उसे स्त्री के मरने का शोक नहीं सता रहा है। उसे वास्तव में दुख इस बात का है वह स्वयं ही अपनी पत्नी की मृत्यु का कारण बना। वो अर्ध जागृत मन में अपने आप को हत्यारा खूनी समझता था। इस भयानक जघन्य विचार का कारण भी था। पत्नी की रुग्णावस्था में उसे एक दो बार विद्युत् की क्षणिक रेखा की तरह उत्कण्ठा सी हुई थी कि यदि यह पत्नी मर जाय तो कोई बहुत सुन्दर सी स्त्री से विवाह करूंगा। और उसे यह भी अब ख्याल आता है कि उसने पत्नी के औषधोपचार में कुछ ऐसी असावधानियां की जिन

के परिणाम स्वरूप ही सम्भवतः उसकी मृत्यु हो गई।

परन्तु पाठकों को यह बात अवश्य जान लेनी चाहिये कि यह प्रसुप्त उद्वेग यदि उसके मन में स्वयं जागृत करवाने से पहिले उसे बताया जाता तो उसे वह नहीं मान सकता था। वो यही कहता कि नहीं मुझे ऐसे विचार कभी नहीं आए।

पत्नी की मृत्यु के बाद उसके ये विचार बिलकुल ही दब गये। जिस मन को हत्यारेपन का विचार सहन नहीं हो सकता था, उसने इस विचार को अपने शासन से बाहर निकाल फेंका। अर्थात जागृत मन से यह विचार दबाया जाने पर अर्ध-जागृत रूप में अन्तःकरण में घर कर गया। वहां यह विवेकादि प्रति क्रियात्मक शमनकारक प्रभावों से वञ्चित होकर स्थायी रूप में स्थित रहने लगा और जागृत मन को छद्म रूप में आच्छादित करने लगा।

यही उस रोगी के रोग का कारण था। यही उसे घुण की तरह खा रहा था और शोषण कर रहा था। इसके जागृत हो जाने पर रोगी कुछ ही काल में स्वास्थ्य लाभ करने लगा।

अर्ध जागृत विचार ग्रन्थि के विश्लेषण तथा जागृत करने की विधि प्रस्तुत विषय नहीं है।

एक आवश्यक बात यह जान लेनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति के मन पर इस प्रकार पत्नी की मृत्यु का ऐसा प्रभाव नहीं हो सकता था, यद्यपि पत्नी मृत्यु का वह स्वयं ही जिम्मेवार हो। कई लोगों के मन पर स्वयं वध करने के बाद भी कोई उत्ताप या उद्वेग उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक प्रभावुकता तथा विचार शक्ति का स्थूल होना अपना २ होता है। पाप पुण्य के, स्वर्ग नरक के, सुकर्म दुष्कर्म के सिद्धांत भी भिन्न २ होते हैं। मन की निर्बलता या सबलता बचपन में ग्रहण किये प्रभाव इनके अनुसार ही अन्तःकरण की चेष्टाय तथा भावनायें होती हैं।

मैंने केवल सङ्केत रूप से ही विषय प्रतिपादन किया है।

वास्तव में मनोविज्ञान चिकित्सा का आधा भाग है। भारतवर्ष में इसका सर्वथा उपेक्षण किया जा रहा है। रोगियों की बडी भारी संख्या इस विज्ञान के अभाव से दुख भोग रही है और मृत्यु की ओर जा रही है।
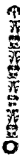
# प्राकृतिक चिकित्सा

लेखक-श्री० डा० गुलाबचन्द जी जैन, आरोग्यमन्दिर, गोरखपुर।

क्या आपने कभी इस बात का विचार किया है कि आपके स्वस्थ, खेलते कूदते हुए बच्चे को भी कभी क्षय हो सकता है ? क्या उसे कई दिनों से थोड़ी खांसी आ रही है ? क्या बहुत भूखे की तरह भोजन करने बैठने पर भी वह बहुत थोड़ा ही खा पाता है ? शायद आपने इन सब बातों पर कभी विचार भी नहीं किया होगा और अगर कोई संदेह आपके मन में उठा भी हो तो आप यह जानकर कि आपके कुटुम्ब में या आपके अड़ोस पड़ोस में किसी को भी यह रोग नहीं है आप निश्चित होंगे। यदि सारे कुटुम्ब इसी तरह संतुष्ट होते तो शायद मानव जाति नाशक इस घातक रोग की इतनी वृद्धि न हुई होती। क्षय से सब से अधिक संख्या में बच्चों तथा युवकों की ही मृत्यु होती है। ११ से २९ वर्ष तक की अवस्था तक ही अधिकतर लोग इसके शिकार होते हैं।

## सभ्यता का रोग-

क्षय एक सभ्यता का रोग है। घनी आबादी, प्रकाश एवं स्वच्छता रहित मकान, भोजन तथा रहने की अस्वास्थ्यप्रद दशायें, भोजन तत्वों के ज्ञान की कमी और अर्थोपार्जन आदि के कारण उत्पन्न विविध मानसिक चिंतायें अच्छे से अच्छे स्वस्थ मनुष्य के भी स्वास्थ्य को नष्ट कर देती हैं और स्वास्थ्य नाश के साथ ही साथ यह रोग भी आक्रमण कर बैठता है।

क्षय के दो भेद किए जा सकते हैं। एक तो प्रारम्भिक क्षय जो कि बहुधा बच्चों में पाया जाता है तथा जीर्ण क्षय अथवा क्षय का पुनाराक्रमण जो कि तीस वर्ष की उम्र से ऊपर वाले व्यक्तियों में होता है।

## लक्षण-

धीरे २ वजन का कम होना, प्रातः काल तथा भोजनोपरान्त खांसी आना तथा छाती में दर्द होना, संध्या को हलका ज्वर हो जाना, खांसी के ठसके के साथ कभी २ रक्त मिश्रित बदबूदार कफ निकलना, क्षुधा नाश, अपच, रात्रि को सोते हुए खूब पसीना निकलना, शरीर का पीलापन और कमजोरी तथा जीवन शक्ति की क्षीणता आदि इस रोग के विशेष लक्षण हैं। फुफ्फुसों से रक्त स्राव, जुकाम और खांसी आदि साथ चलते हैं। बदबूदार पीला कफ निकलता है और मुख की कांति नष्ट होकर शरीर पीला पड़ता जाता है। कभी २ उरस्तोय भी इसके साथ हो जाता है, यद्यपि क्षय के साथ इसका कोई भी सम्बन्ध अभी तक के वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं हो सका है। और इन्हीं बढ़े हुए लक्षणों के साथ मनुष्य को अपने रोग का ज्ञान होने पर वह किसी चिकित्सक या किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान की ओर दौड़ता है।

प्रारम्भिक क्षय की तसवीर कुछ दूसरी ही रहती है। रोगी स्वस्थ दिखाई देता है। अधिक खांसी

भी नहीं आती। बच्चा खूब खेलता है। भूख भी खूब लगती है तथा शरीर में पीलापन भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस दशा में हम कैसे अनुमान कर सकते हैं कि बच्चा कभी क्षय का भी शिकार हो सकता है किन्तु भूल यहीं से जम कर भविष्य में क्षय का रूप ले लेती है।

## कारण-

क्षय रोग के मुख्य दो कारण हैं—क्षय के जीवाणु तथा साधारण स्वास्थ्य एवं शरीर की रोगों से अपनी रक्षा करने की शक्ति की कमी। इन कारणों में कीटाणुओं को बीज मानें तो साधारण स्वास्थ्य नाश तथा शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति की कमी को भूमि मानना आवश्यक होगा। हम इससे यह प्रकट करना चाहते हैं कि उपरोक्त दोनों कारणों में जिस तरह बीज प्रधान होते हुए भी बिना अच्छी और उचित भूमि के ठीक उपज नहीं होती है उसी तरह बिना साधारण स्वास्थ के नष्ट हुए एवं रोग प्रतिरोधक शक्ति के क्षीण हुए कीटाणु रोग उत्पन्न न कर सकेंगे। स्वास्थ और रोग प्रतिरोधक शक्ति के क्षीण होने पर ही रोगों का आक्रमण होता है।

रोग प्रारम्भिक एवं अज्ञात अवस्था में लसीका ग्रन्थियों में निष्क्रिय रूप में पड़ा रहता है तथा अन्य सजीव तन्तुओं को इससे कोई हानि नहीं पहुंचती। वे फेफड़ों तथा श्वास मार्ग की झिल्लियों में जो कि रक्त तथा वायु के कारण संक्रमण के मुख्य स्थान हैं, भी रह सकते हैं। उनका वहां से निकलना उनकी शक्ति तथा प्रबलता पर नहीं किंतु हमेशा शरीर की जीवनीय शक्ति तथा रोग निवारक शक्ति पर निर्भर है।

लगभग हर प्रकार के कीटाणु मानव शरीर में हर समय उपस्थित रहते हैं किन्तु जब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है, और उसकी शारीरिक रोग निवारक शक्ति क्षीण नहीं होती, जीवाणु निष्क्रिय पड़े रहते हैं, एवं रोग उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं। ये ही जीवाणु दुर्बल, अस्वस्थ, अस्वच्छ और अपौष्टिक भोजन करने वाले व्यक्ति के शरीर में शीघ्र ही रोग उत्पन्न कर देते हैं। क्षय पीड़ित मृतों की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनमें से ८० प्रतिशत अपने जीवन में कई बार क्षय जनक कीटाणुओं के संसर्ग में आकर भी अपने सुस्वास्थ्य और शारीरिक रोग प्रतिरोधक शक्ति के कारण ही रोग के शिकार न होने पाये। क्षय रोग के जीवाणुओं के साथ शरीर सफलता पूर्वक युद्ध करता और विजय प्राप्त करता रहा किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य एवं रोग निवारक शक्ति के नष्ट होने के साथ ही उसे हार उठानी पड़ी और वह रोग के चुङ्गल में फंस गया।

इससे स्पष्ट है कि अन्य विशेष लक्षण चाहे न भी प्रकट हों किन्तु स्वास्थ्य और रोग प्रतिरोधक शक्ति के नाश के साथ ही रोग का आक्रमण होजाता है और जीवाणु शरीर में अपने पैर जमाकर विभिन्न तन्तुओं, सन्धियों, अस्थियों, ग्रन्थियों, आंतों अथवा फुफ्फुसों को अपना निवास स्थान बना लेते हैं। सम्पूर्ण प्रारम्भिक लक्षण तथा शारीरिक परिवर्तन जीवाणुओं के स्थान को निर्देशित करते हैं। अतएव यह जान लेना आसान है कि रोग कहां पर स्थित है। श्रम, तापक्रम का बढ़ना, वजन कम होना आदि लक्षण बताते हैं

कि शरीर जीवाणुओं की वृद्धि रोकने तथा उन्हें नष्ट करने के लिये डटकर प्रयत्न कर रहा है रोग प्रतिरोधक शक्ति के अशक्ति हो जाने के बाद ये लक्षण साधारण अवस्था में ही रोगी को नष्ट कर देते हैं।

शारीरिक विरोध को नष्ट कर जीवाणुओं के प्रविष्ट होजाने पर भी शरीर उनसे मुक्त होने के लिये प्रयत्न करता रहता है और यह कहना ठीक ही होगा कि वह अधिकतर सफल नहीं होता है। अस्वस्थ व्यक्ति अनजाने ही प्रकृति द्वारा स्वस्थ कर दिया जाता है क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखना शरीर की प्रकृति है। विज्ञान कहता है कि जीवाणु के शरीर में प्रवेश पा जाने पर शरीर उसे नष्ट करने के लिये एक सुसंगठित तरीका काम में लाता है। जीवाणु के चारों तरफ एक दीवाल खड़ी करदी जाती है और यदि वह इसमें सफल होगया (जैसा कि बहुधा होता है) तो रोग का मार्ग बन्द होजाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि शरीर रक्षा करने में असमर्थ रहा तो जीवाणु सारे शरीर में फैल जाते हैं। शारीरिक प्रतिरोध घटने के साथ ही रोग बढ़ता जाता है।

## निदान-

क्षय रोग की ठीक २ परीक्षा एक्सरे द्वारा चित्र खिंचवाने से हो जाती है। चित्र द्वारा यह भी ज्ञात हो जाता है कि रोग का आक्रमण किस स्थान पर हुआ है और वह अभी तक कितना बढ़ पाया है।

निदान की दूसरी उत्तम विधि टयूबरकुलीन नाम का एक इन्जेकशन है। इसका त्वचागत इन्जेकशन दिया जाता है। यदि व्यक्ति में यक्ष्मा के जीवाणु उपस्थित होते हों तो १४ से ४८ घण्टे के भीतर वह स्थान रक्त वर्ण हो जाता है। यह बहुत ही साधारण परीक्षण है तथा उत्तम एवं भय रहित समझा जाता है।

क्षय पैतृक रोग नहीं है फिर भी यह पीढ़ियों में चलता है। ६०० कुटम्बों में जिनमें एक २ मृत्यु क्षय रोग से हो चुकी थी, खोज करने पर वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि सिर्फ १० प्रतिशत सन्तानों में ही यह रोग उपस्थित है। यह संख्या साधारण से ३४ गुनी है। रोगी से सम्बन्ध रखने वाले मित्रों तथा भृत्यों में यह साधारण से १४ गुना अधिक पाया गया। साधारणतः यह ३४५ व्यक्तियों में से एक में पाया जाता है।

### जीवाणुओं को दोष देना व्यर्थ है—

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से क्षय रोग की चिकित्सा में जीवाणुओं को किसी भी तरह की प्रधानता देने की आवश्यकता नहीं है। औषधियों तथा अन्य साधनों से सिर्फ जीवाणुओं को ही नष्ट करने के पीछे पड़ जाना एक मूर्खता पूर्ण पद्धति है। यह असली चीज को छोड़कर नकल को पकड़ना है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में पूर्ण निश्चयात्मक शब्दों में लिखा है।

लाक्षणिक चिकित्सा कुछ शांति भले ही दे, पूर्ण लाभ नहीं पहुंचा सकती है। विशिष्ट चिकित्सायें भी जो कि रोगों को रोकने तथा नष्ट करने में अद्वितीय होने का दम भरती हैं कुछ रोगों एवं उनकी अवस्थाओं में सहायक होने पर भी निराशाजनक ही सिद्ध हुई हैं। रोग निवारक शक्ति मानव शरीर यन्त्र की महान स्वाभाविक शक्ति है तथा

बहुत से रोगों में रोगी को जीवनानुकूल परिस्थितियों में छोड़ देने पर वे स्वयं स्वस्थ हो जाते हैं। डाक्टर टिल्डन ने रोग की तीव्रावस्था और उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भाषण देते हुए एक बार कहा था कि यदि मुझे क्षय हो जाय तो मैं अपने आप को एक क्षुद्र वनवासी प्राणी में परिवर्तित कर लूंगा। वे दवाओं से दूर रहते तथा खुली हवा और प्राकृतिक भोजन का सेवन करते हैं।

## चिकित्सा–

रोग के दो कारणों की तरह जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं इस रोग से बचने के भी दो ही प्रधान मार्ग हैं।

१—शारीरिक स्वास्थ्य का सुधार, जिससे शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति की वृद्धि होकर वह रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ हो सके।

२—पूर्ण स्वच्छता जिससे कि रोग का संक्रमण न हो और वह फैलने न पाये।

## पोषण की आवश्यकता

शरीर की रोग प्रतिरोधक और रोग नाशक शक्ति विशेषकर शरीर के पोषण पर निर्भर करती है अत क्षय की चिकित्सा में पोषण पर पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है। यह तो हम जान ही चुके हैं कि यह एक शहरी जीवन का रोग है और दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि सार्वजनिक उन्नतियों के साथ दिनो दिन हमारी भोजन ज्ञान सम्बन्धी अवनति हो रही है। वैज्ञानिक उन्नति के साथ मशीन से पिसे आटे, मैदा व चीनी का बढ़ा हुआ उपयोग रोगोत्पादन में विशेष सहायक हो रहा है। यह पदार्थ स्वास्थ्य के शत्रु हैं मित्र नहीं। तीक्ष्ण खाद्य द्वारा उत्पन्न किये गये अनाज, फल, शाक अपनी रोग नाशक शक्ति खो बैठते हैं। दुर्भाग्य से अभी तक हमने भोजन की पोषण सम्बन्धी दिशा में पूर्ण कदम नहीं उठाया। जो भी व्यक्ति स्वस्थ रहना एवं अपनी शारीरिक रोग प्रतिरोधक शक्ति को जीवित रखना चाहता हो उसे पूरा अध्ययन कर अनुभव से सिर्फ उन ही खाद्यों को लेना चाहिये जो वैज्ञानिक नई पद्धतियों द्वारा बने और अप्राकृतिक न कर दिये गये हों। उसका भोजन सिर्फ उन्हीं पदार्थों का होना चाहिये जो अभी भी अपनी प्राकृतिक अवस्था में ही हों। कुछ वर्षों पहिले लोगों का विश्वास था कि प्रोटीन, स्टार्च तथा वसामय अन्न ही सब कुछ है तथा स्वास्थ्यप्रद सलाद (कच्ची शाक तरकारियों, फलों व मेवों का मिश्रण कर बनाया गया एक प्राकृतिक खाद्य), फल व तरकारियों को बिलकुल ही छोड़ दिया था जिसका दुखद परिणाम आज हमारे सामने है।

## प्राकृतिक खाद्यों की विशेषता–

प्राकृतिक खाद्य अपनी स्वाभाविक अवस्था में शारीरिक रोग प्रतिरोधक शक्ति के निर्माण के लिए आवश्यक और साथ ही साथ पर्याप्त भी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रोटीन, स्टार्च और वसा युक्त खाद्य अनावश्यक हैं किन्तु फल और तरकारियों से अच्छी मात्रा में पाये जाने वाले विटामिन तथा खनिज क्षारों के बिना पोषण के कार्य में वे अधूरे ही रह जाते हैं। क्षय रोगी के लिये यह आवश्यक है कि उसे एक अच्छी मात्रा में शाक तरकारियां तथा फल प्राप्त हों जिससे प्रकृति शक्ति प्राप्त कर शरीर में रोगों के विरुद्ध किले बन्दी करने में सफल हो सके।

केवल उचित भोजन ही क्षय रोग निवारण के लिये पर्याप्त नहीं हैं। हमें भोजन के पाचन, सात्मीकरण और विसर्जन की क्रियाओं पर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिये। इन क्रियाओं से सम्बन्धित अङ्ग प्रत्यङ्गों का अच्छी एवं कार्यकर स्वस्थ अवस्था में होना जरूरी है। क्योंकि क्षीण पाचन तथा सात्मीकरण ही शारीरिक रोग प्रतिरोधक शक्ति की क्षीणता का कारण है। अच्छा प्राकृतिक भोजन भी ठीक २ पाचन तथा सात्मीकरण न होने पर कोई भी लाभ नहीं पहुंचाता वरन् हानि ही करता है।

## महान् सत्य–

शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं के पीछे पाया जाने वाला महान् सत्य स्नायुविक शक्ति है। अतएव क्षय के रोगियों को अपनी स्नायुविक शक्ति शाशक आदतों का पूर्ण परित्याग कर देना चाहिये। यही कारण है कि जो इस रोग में अधिक से अधिक आराम करने पर जोर दिया जाता है और वह भी सिर्फ शारीरिक ही नहीं शारीरिक और मानसिक दोनों। दोनों प्रकारों के आरामों को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन योग की शिथिलीकरण नामक क्रिया है। यह तो सर्व विदित ही है कि तीव्र रोगों मे रोगी को असमर्थ होकर आराम करना पड़ता है और उसी आराम के सहारे प्रकृति अपनी रोग नाशक स्नायुविक शक्ति की वृद्धि कर रोग का नाश करने में सफल होती है। पाचन व सात्मीकरण की कमजोरियों से भी आराम की उतनी ही जरूरत महसूस होती है और अगर शरीर एवं उसके अङ्ग, प्रत्यङ्गों को ऐसी अवस्था में बुद्धिमानी पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक आराम, उपवास प्राप्त हो सके तो प्रकृति शरीर को साधारण कार्यकर अवस्था में अवश्य ही लौटा लावेगी।

स्वच्छ वायु और खुले स्थान में रहने का क्षय चिकित्सा से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि उसके बारे में लिखने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। क्षय रोगियों के लिये जन संमर्द शहर और कस्बों का जीवन तो मृत्यु का द्वार ही है और रोग की हर दशा में यह सत्य है। उन व्यक्तियों को जिनके कौटुम्बिक इतिहास में क्षय हो हमेशा ऐसे व्यापार या उद्योग करना चाहिये जिससे उन्हें अधिक से अधिक खुले वातावरण में रहना पड़े। उन्हें शहरी धूल-धक्कों से हट कर प्रकृति समीपवर्ती खुले स्थानों वनों, पर्वत आदि स्वास्थ्यप्रद स्थानों में अपना जीवन बिताना चाहिये।

क्षय रोग की चिकित्सा साधारण काम नहीं है एक्सरे आदि साधनों द्वारा रोग के निदान आदि के झगड़ों में पड़कर व्यर्थ समय नष्ट न कर शारीरिक रोग निवारक शक्ति की क्षीणता जिसके लक्षण पहिले ही से प्रकट होने लगते हैं, का आभास मिलते ही चिकित्सा स्वास्थ्य वर्धक साधनों का उपयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये। अगर पूर्ण निदान की ही इच्छा हो तो वह चिकित्सा काल मे में भी किया जा सकता है।

क्षय रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है। यह जानकर रोगी को प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांतों की ओर भी दृढ़ हो जाना चाहिये। चिकित्सा करते समय यह बात निश्चित् रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि प्रकृति निरन्तर क्षय को अच्छा करने मे लगी हुई है और नित्य प्रति असंख्य के जीवन को चला रही है। प्रकृति तन्तु प्रतिक्रिया

शारीरिक रोग नाशक क्षमता की वृद्धि तथा नष्ट अवयवों की पूर्णता द्वारा यह कार्य करने में समर्थ है। विवेक पूर्ण सहयोग द्वारा हम प्रकृति की उस के रोग नाशन कार्य में प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा मदद कर सकते हैं। इस तरह रोगी प्रकृति की स्वास्थ्य लौटा लाने वाली शक्तियों के ज्ञान के साथ अपने खोये हुए स्वास्थ्य को भी पुनः प्राप्त कर सकेगा।

इस बात पर पुनः ओर डालना आवश्यक जान पड़ता है कि इस रोग की चिकित्सा में रोगी के समीपवर्ती सम्पूर्ण वातावरण में परिवर्तन करना बहुत ही आवश्यक है। यह एक पौधे को उस भूमि से जहां कि वह अच्छी तरह बढ़ नहीं रहा हो उखाड़ कर अन्य स्थान में जहां कि वह नवीन आहार और जीवन प्राप्त कर सके, लगा देने की तरह है। उसका भोजन पान सम्बन्धी आदतों में धीरे २ परिवर्तन करना चाहिये। प्रति दिन की जीवन शक्ति को क्षीण कर देने वाली आदतों का भी परिवर्तन आवश्यक है जिससे स्नायविक शक्ति और भी अधिक क्षीण न हो सके।

मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन में भी उसका पूर्ण विवेचन कर आवश्यक परिवर्तन कर देने में न चूकना चाहिये। प्रत्येक रोग की चिकित्सा में रोग के कारणों के साथ उस रोगी और उसके समीपवर्ती वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण एवं विवेचन ही चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने की कुंजी है।

अब मैं यहां स्वास्थ्य के कुछ साधारण नियमों का निर्देश करूंगा जिसका पालन कर प्रत्येक व्यक्ति क्षय रोग से स्वतः अपनी तथा अपने सम्बन्धियों की रक्षा कर सकेगा।

१—बहुत भीड़ वाले स्थानों में बैठना, शरीर, मकान और अड़ोस-पड़ोस की अस्वच्छता, अति मैथुन, अति चिन्ता तथा पर्दा प्रथा आदि जीवन शक्ति नाशक कार्यों का त्याग करो।

२—अधिक से अधिक समय, यथा शक्य, स्वच्छ वातावरण तथा सूर्य प्रकाश में व्यतीत करो, घर में रहते समय सम्पूर्ण दरवाजे तथा खिड़कियां खुली रखो। सोते समय मुंह मत ढको, मच्छरों से बचने के लिये मसहरी का उपयोग करो।

३—खूब दूध पियो, ताजे फल व तरकारियों का अधिक मात्रा में सेवन करो। जितना पौष्टिक भोजन पचा सको उतना अवश्य करो।

४—प्रतिदिन नियमित व्यायाम और स्नान करो, स्वस्थ रहने के लिये गहरी सांस लेने की आदत डालो।

५—शरीर सीधा रखो, सिर ऊपर को उठा हुआ, पीठ की हड्डी सीधी और सीना आगे निकला हुआ, कमर झुका कर मत चलो, यह अस्वस्थता की निशानी है।

६—अपने रहने के स्थान को हमेशा स्वच्छ रखो तथा धूल और मक्खियों से बचते रहो। इधर उधर हर जगह मत थूको। इस गन्दी आदत से कई बामारियां फैलती हैं।

७—पुस्तक के पन्ने उलटते समय अंगुलियों में थूक मत लगाओ, पेंसिल व होल्डर कभी भी मुंह में मत डालो क्योंकि अस्वच्छ होने पर ये उपसर्ग का कारण हो सकती हैं।

[ शेषांश पृष्ठ २४८ पर देखें ]

# क्षयरोगोपशमन-व्रत-विधान

लेखक श्री॰ पं॰ अमरचन्द शर्मा त्रिपाठी 'हिन्दी-विशेषज्ञ' 'आयुर्वेद-जिज्ञासु' भूसावल (भरतपुर राज्य)

## रोगों का कारण और व्रतों का महत्व

किसी जन्म में अधिक पाप हो जाने से नारकीय दुःख भोगने के पश्चात् भी मनुष्य योनि में उसका दुःखदायी फल रोग के रूप में भोगना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य पाप नहीं करते, बल्कि पथ्य भोजन, इन्द्रिय-रक्षण, सदाचार-पालन, गो द्विज देवादि की भक्ति और स्वधर्म में निरत रहते हैं, वे चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम या अवस्था के हों उन्हें कोई रोग नहीं होता। वास्तव में रोगों के मूल कारण पाप हैं। और पापों का प्रायश्चित्त करने से पाप तथा रोग दोनों क्षीण होते हैं। प्रायश्चित्त में स्नान, दान, व्रत, उपवास, जप, हवन और उपासनादि है। पाप—उपपातक, महापातक और अतिपातक रूप से तीन प्रकार के होते हैं। उपपातक से यकृत, प्लीहा, शूल, श्वास, छर्दि, अजीर्ण, विसर्पादि। महापातक से कोढ़, अर्बुद, संग्रहणी, तथा राजयक्ष्मा (क्षय) आदि तथा अतिपातक से जलन्धर, भगन्दर, नाशूर आदि रोग होते हैं। देह में वात, पित्त, कफ तीन 'महादोष' हैं। ये जब तक समान रहें तब तक कोई उपद्रव नहीं होता इनमें विषमता आने से दुःखदायी रोग होते हैं। वे चाहे सह्य हों वा असह्य उनसे रोगी को क्लेश होता ही है *। आयुर्वेद में स्वाभाविक, आगन्तुक, कायिकान्तर और कर्म दोपज ÷ ये चार प्रकार = के रोग बतलाए हैं। इनमें भूख, प्यास, निद्रा, जरा-मृत्यु आदि स्वाभाविक काम क्रोध लोभ मोह भय लज्जा, दीनता, ईर्ष्या, शोक, अपस्मार, पागलपन, भ्रम, मूर्च्छादि आगन्तुक, पांडु, अन्त्रवृद्धि, जलोदर तथा प्लीहादि 'कायिकान्तर' हैं। और पूर्व जन्म-कृत पाप जन्य सभी रोग 'कर्म दोपज' हैं। अथवा जो रोग दीखने में सरल साध्य किन्तु बड़े २ उपायों से भी न छूटें, वृद्धि को ही प्राप्त हों या बहुत भयङ्कर अथवा असाध्य होकर भी साधारण से उपाय से शान्त होजाय वे 'कर्मदोपज' होते हैं। वास्तव में पूर्व-जन्म के पापों की जब तक निवृत्ति नहीं होती तब तक कोई भी 'कर्म दोषज' रोग उपाय करने पर भी घटते नहीं, बढ़ते ही हैं। और जब सदनुष्ठानादि के द्वारा पापों की निवृत्ति होजाती है। तब वे बढ़ते नहीं घटते हैं। अतएव पापों की निवृत्ति निमित्त में 'पापसम्भूत सर्वरोगार्त्तिहर व्रत' अवश्य ही आरोग्यप्रद और श्रेयस्कर हैं। उपर्युक्त विवेचन से पाठक रोगों का कारण तथा व्रतों का महत्व समझ गये होंगे।

राजयक्ष्मोपशमन—व्रत—

## यक्ष्मान्तक स्वर्ण-कदली-दान व्रत—

राजयक्ष्मा के रोगी को चाहिये कि वह अपनी

---

* रोगास्तु दोष वैषम्यं दोष साम्यमरोग्यता। रोगा दुःखस्य दातारो ज्वर प्रभृतियो हि ते॥ (वाग्भट्ट)

÷ यथाशास्त्रं तु निर्णीतो यथाव्याधि चिकित्सतः। न शमंयाति यो व्याधिः स ज्ञेयो कर्मजो बुधैः॥ (भावप्रकाश)

= स्वाभाविकागन्तुककायिकान्तरारोगाभवेयुःकिलकर्मदोपजाः। (शार्ङ्गधर)

सामर्थ्यानुसार सुवर्ण का कदली वृक्ष बनवाये। जिसमें फल पत्ते और मुकुल (फूल की डोडी) यथावत् हों। यदि सामर्थ न हो तो साक्षात् कदली वृक्ष मंगवाये। और शुभ दिन में शौचादि से निवृत्त होकर शुभासन पर पूर्वाभिमुख आसीन होकर 'ममजन्मान्तरीय पापजनित प्राणान्तकराजयक्ष्मोपशमनकामनया श्री परमेश्वर प्रीत्यर्थे सुवर्ण कदली (ससुवर्ण कदलीवा) दानं करिष्ये।' यह संकल्प करके विनिर्मित वा लिखित कदली वृक्ष को वस्त्रादि से विभूषित कर पूजन करे तथा जप, तप, होम तथा व्रत आदि सम्पूर्ण कर्म समाप्त हुए पीछे आत्मा को जानने वाले, धर्मप्राण, दयावान, व्रतधारी तथा पूजनीय पण्डित को सुपूजित कदली का दान दे। उस समय—

'हिरण्यगर्भ पुरुष परात्पर जगन्मय।
रम्भा दानेन देवेश क्षयक्षय मे प्रभो॥

का उच्चारण करे। तत्पश्चात् विद्वान् ब्राह्मणों से पुण्याहवाचन कराकर उनको भोजन कराये और फिर शिष्ट तथा इष्ट मनुष्यों को भोजन कराकर व्रत समाप्त करे। इस प्रकार करने से राजयक्ष्मा परमेश्वर की कृपा से शान्त होता है।

(सूर्यारुण)

## यक्ष्मान्तक दान व्रत (सूर्यारुण)-

औषधोपचारादि से यदि यक्ष्मा शान्त न हो तो ज्योतिष-शास्त्रोक्त शुभ दिन में प्रातःकालीन कृत्य से निवृत्त होकर अपनी सामर्थ्यानुसार गो पृथ्वी, सुवर्ण मिष्ठान्न, वस्त्र, जल, फल, लोह, तिल, इन सब का यथा विधि दान करे। यदि यह न बन सके तो लोहे के घड़े में तिल भर कर गन्धपुष्पादि से पूजन करके उसे सत्पात्र प्रतिग्राही को दे। अथवा 'आतेरौद्र॰' सूक्त के जप करके उसकी प्रत्येक ऋचा से आहुति दे और फिर शिवजी का उत्थान करके—

'त्र्यम्बकंयजामहे सुगन्धिम्पुष्टि वर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बंधनान्मृत्यो मुक्षीयमाऽमृतात्॥
त्र्यम्बकंयजामहे सुगन्धिम्पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिवबन्धनादितो मुक्षीयमाऽमुते –॥

का एक मास तक जप करे। इससे भी रोग शान्त होता है।

## यक्ष्मान्तक सानुष्ठान-व्रत–

राजयक्ष्मा वाले रोगी को चाहिये कि वह सत्पात्र ब्राह्मण को बुलवाकर उससे त्र्यम्बक मन्त्र का पुरश्चरण करने की प्रार्थना करे और उसके स्वीकार करने पर दृढ़ व्रत के साथ यह आशा करे कि 'मैं इससे अवश्य आरोग्य लाभ करूंगा।

[ पृष्ठ २४६ का शेषांश ]

८—क्षय के लक्षणों से पीड़ित व्यक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध मत रखो। उसके साथ एक ही कमरे में मत सोओ और न एक ही साथ भोजन करो।

९—यदि तुम्हें अपने शरीर में क्षय का कोई भी लक्षण दिखलाई पड़े तो शीघ्र ही अपने स्वास्थ्य को सुधारने का उद्योग करो एवं किसी अच्छे चिकित्सक से सलाह लो।

— प्रथम मन्त्र ही 'महामृत्युञ्जय' कहलाता है इसे सविधि शिव पूजन करके जप करने से अपमृत्यु निवारण निस्सन्देह होता है। और इस मन्त्र से यह भी विदित होता है कि मुक्त होकर पुन संसार में नहीं आता। इस इस मन्त्र १२ दिन तक जप कर वह की १०० आहुति दे तो १०० वर्ष जिए। (रुद्राष्टाध्यायी अ॰ ६-२-१०२)

तत्पश्चात् सदनुष्ठानी ब्राह्मण शिवजी के मन्दिर में बैठे तथा पार्थिक मूर्ति निर्माण करे। पुनः उसका पंचोपचार पूजन करके त्र्यंबक मन्त्र का एक सहस्र जप करे। अथवा—

'ॐ जूं सः अमुक पालय पालय सः जूं ॐ'

मन्त्र का १० सहस्र जप करे। जप करते समय शिव मूर्ति का अपलक दर्शन करता रहे और यह प्रार्थना करे कि—

'हे मृत्युञ्जय ! जिसके निमित्त मैं जाप करता हूं उसका राजयक्ष्मा से कोई अनिष्ट न हो'

तत्पश्चात् पूजन के गन्ध पुष्प तथा बिल्व पत्र लेकर रोगी के नेत्र ललाट और हृदय में लगाकर सिरहाने रख दे। इस प्रकार प्रतिदिन नवीन पत्र सिरहाने रखता रहे और पुराने निकाल कर नदी इत्यादि के प्रवाही जल में डलवाता रहे। इस प्रकार करने से शीघ्र ही आरोग्य होता है।

[ कल्याण ]

उपर्युक्त अनुष्ठानों पर पूर्ण आशा तथा विश्वास रखना परमावश्यक है। बिना श्रद्धा, आशा, विश्वास के कुछ लाभ नहीं होता। आशा विश्वास और श्रद्धा से ही लाभ होता है। क्योंकि—

आशा की है अमितमहिमा धन्य है देवि आशा।
जिसने छूके मृत होते प्राणियों को बचाया॥

—प्रिय-प्रवास

आज हम पाश्चात्य सभ्यता के मोह जाल में बद्ध होकर अपनी प्राचीन, सादा जीवन, उच्च विचार वाली सभ्यता को भूल गए और नित्य-प्रति नवीन व्याधियों को मोल ले रहे हैं। हमारा अपनी प्राचीन सिद्धान्तावलियों पर विश्वास नहीं रह गया है। हम विनाश पथ की ओर तीव्र तम गति से अग्रसर हो रहे है।

हमें अपनी प्राचीन सभ्यता पर पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास रखना चाहिये। तभी हम कुछ लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

आशा है कि सृष्टि-प्रारम्भ से धर्म प्रिय तथा आशावादी भारतीय जनता, परम पिता परमात्मा की कृपा से राजयक्ष्मा रोग में उपर्युक्त व्रतों का सम्यक् रीति से अनुष्ठान करके अपूर्व लाभ प्राप्त करेगी।

---

# क्षय और यज्ञ चिकित्सा

लेखक-कवि० श्री०पं० युगलकिशोर जी द्वारिकाप्रसाद शर्मा दधिमथ, दधिमथि आयुर्वेद भवन, पो० राजगांगपुर (सिंहभूमि)

भारत वर्ष में अनेक घोर अत्याचार हो रहे हैं, जिनका जिक्र करना यहां अप्रासङ्गिक ही होगा। इधर लोगों की धार्मिक धारणा बिल्कुल नष्ट होगई है। यह वही देश है जहां एक दो नहीं प्रत्युत दस दस तक अश्वमेध यज्ञ होते रहे हैं। सौ सौ पाठ दुर्गा के और सौ-सौ पारायण श्री मद्भागवत के होते थे। यज्ञ करते थे, वेद पाठ होता था, संध्या होती थी, दान धर्म का प्रचार था। इस प्रकार धार्मिक जीवन व्यतीत होता था। सब सदाचारी थे, नित्य नियम के पक्के थे, साधारण जीवन व्यतीत करते थे, तब आज के समान विकराल रोग भी उत्पन्न न होते थे। क्योंकि बहुतों के जीवाणुओं को हवन का धुआं ही नष्ट कर देता था, जहां यज्ञ का धुआं रोग नाशक है तहां अन्य गैसें रोगोत्पादक भी हैं। भारतवर्ष ही क्या अपितु सारा संसार क्षय, उपदंश, प्रमेह, इत्यादि भयङ्कर व्याधियों से पीड़ित है। क्षय मनुष्य जाति में ही है सो नहीं वरन आज यह रोग पशु पक्षी और चौपायों तथा उद्भिद् वनस्पति तक में भी पाया जाता है जैसे कि—गौओं का क्षय के जीवाणु बहुत होते हैं यह उसकी खांसी से विदित होता है। सील में रहने के कारण अच्छा घास न मिलने से जूठन खिलाने से गौ को यह रोग बहुत अधिक पाया जाता है। इसका प्रमाण अथर्ववेद में "गवा यक्ष्म (८-७)" यो गोषु यक्ष्म: पुरुषेषु यक्ष्म: (१३-२-१) इन मन्त्रों में आया है। कि पुरुषों के समान गौओं में भी यक्ष्मा होता है।

पाठकों के समझ के लिये यज्ञ चिकित्सा का भी संक्षिप्त में वर्णन करता हूं।

क्षय के समय रोगी के फेफड़े विशेषतया 'आक्रान्त' होजाते हैं। ऐसी दशा में जो औषधि मुंह द्वारा खाई जाती है, वह पचने पर रक्त बनने के पश्चात् फेफड़ों तक पहुंचती है, परन्तु अग्नि में जलाई हुई औषधि सूक्ष्म परमाणु के रूप में श्वास द्वारा सीधे फेफड़ों पर पहुंचकर स्थाई प्रभाव करने में समर्थ हो जाती है। किसी दूसरे तरीके से इतनी सुगमता के साथ शीघ्र औषधि फेफड़ों तक पहुंच नहीं सकती। इसलिये निर्विवाद सिद्ध है कि "यज्ञ चिकित्सा' से क्षय के रोगी का अवश्य ही आराम हो सकता है। प्राचीन आर्य ग्रन्थों में भी इस 'यज्ञ चिकित्सा' के अनेक प्रमाण पाये जाते है। यथा—

> "मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय ।
> अज्ञात यक्ष्मात राजयक्ष्मात् ग्राहि ॥
> जग्राहियद्येत देव तस्या इन्द्राग्नी प्रमुक्तमेनम्।"
>
> अ० का० ३ सू० ११ मं० १

अर्थ—हे व्याधिग्रस्त (त्वा) तुमको (कम्) सुख के साथ (जीवनाय) चिरकाल तक के लिये (अज्ञात यक्ष्मात्) गुप्त यक्ष्मा रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात) सम्पूर्ण प्रकट राजयक्ष्मा रोग से (हविषा) आहुति द्वारा (मुंचामि) छुड़ाता हूं। (यदि) जो (एतत्) इस समय में (एनम्) इस प्राणी को (ग्राहि) पीड़ा ने या पुराने रोग ने (जग्राहि) ग्रहण किया है (तस्या)

इससे ( इन्द्राग्नि ) वायु तथा अग्नि देवता इसको अवश्य ही छुड़ावें।

इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि वेद भगवान प्रत्येक प्रकार के क्षय की चिकित्सा वायु और अग्नि द्वारा बतलाते हैं। और आहुति द्वारा रोग मुक्त होने का आदेश करते हैं। यथा--

यया प्रयुक्तया चेष्टया—राजयक्ष्मा पुरोजितः।
तां वेद विहितामिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत ॥

—चरक चि० स्था० अ० ८ श्लोक १८४

अर्थ—जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन काल में राजयक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था, उस वेदविहित यज्ञ को रोग दूर करने के लिये अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार शत पथ ब्राह्मण में भी आया है कि सर्व प्रकार के रोगों की निवृत्ति विधिवत् यज्ञ करने से होती है। होम करने के जो द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उनसे धुआं और भाप उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको छिन्न-भिन्न कर देना है। अग्नि द्वारा सूक्ष्म किये हुए परमाणु वायु के संयोग से पेट में पहुंच कर शीघ्र अपना प्रभाव करते हैं।

युरुप के कई विद्वान आविष्कर्ता डाक्टरों ने इस बात की पुष्टि अनेकों प्रमाण और युक्तियों द्वारा की है कि अधिक निर्बल रोगियों को खिलाने के स्थान में औषधि को केवल सुंघाने का यदि उपयोग किया जाय तो विशेष लाभदायक होगा। उन्होंने शरीर शास्त्र के ऐसे अनेक प्रमाणों से यह प्रमाणित किया है कि मेदे के अतिरिक्त जिह्वा और मुंह में ऐसे अनेक भाग हैं जो औषधि के प्रभाव को अति शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं और नाक का भीतरी भी शीघ्रता के साथ प्रभावान्वित हो जाता है। औषधि का सब से अधिक प्रभाव सूंघने और श्वांस लेने से होता है। बुद्धिमान मनुष्य इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि सूक्ष्म वस्तु तो स्थूल में प्रवेश करती है, परन्तु स्थूल वस्तु सूक्ष्म में नहीं घुस सकती। जैसे आटे मे मिली हुई शक्कर के सूक्ष्म परिमाणुओं को मनुष्य की अंगुली पृथक २ नहीं कर सकती, परन्तु चींटी का सूक्ष्म मुंह उसको पृथक २ करने में सर्वथा समर्थ है। औषधियों का वह सूक्ष्म तर भाग जो यज्ञ अग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म औषधियों के परमाणु तैयार कर चुका है वह नासिका व वायु द्वारा पेट में पहुंच कर क्षय के कीड़ों को सुगमता से मार कर रोगों को दूर कर सकता है।

क्षय का कीड़ा इतना सूक्ष्म होता है कि डाक्टरों के मत से पचीस हजार कीड़ों के लिये एक इञ्च स्थान पर्याप्त होता है और वह इतने हलके होते हैं कि यदि उनको तोला जाय तो एक खसखस के दाने पर करोड़ों कीड़े चढ़ जावेंगे। इतने सूक्ष्म से सूक्ष्म कीड़ों को मारने या दूर करने के लिये स्थूल कण वाली औषधियों की बड़ी मात्राओं में पहुंच होना अति दुस्तर कार्य है। यही कारण है कि क्षय के रोग को प्रायः वैद्य, डाक्टर असाध्य रोग कहकर परित्याग कर देते हैं।

## क्षय रोगी का इलाज-

क्षय रोगी को सर्वथा एकान्त स्थान में जहां का वायु जल पवित्र और निरोग हो रखना चाहिये। यथा—

"सूर्य उद्यन्नादित्य क्रमीन्हन्तु विम्रोचनहन्तु रश्मिभिः"

( अथर्व )

आधुनिक पाश्चात्य डाक्टर भी सूर्य किरणों द्वारा जीवाणुओं का विनाश होना मानते हैं। जैसे- एन्थ्रेक्स जावाणु के स्पोर जो कई वर्षों के शुष्कीकरण से भी नहीं मरते वह सूर्य प्रकाश से १।। घंटे में मर जाते हैं। आंत्रिक ज्वर तथा राजयक्ष्मा के जीवाणु भी सूर्य प्रकाश में मर जाते हैं।

जहां तक हो सके प्रति पन्द्रहवें दिन रोगी का प्रत्येक सामान बदल देना चाहिये। भोजन, देश काल, समयानुसार विचार कर बलाबल के अनुसार देना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि धनवान रोगियों की मृत्यु भोजन की असावधानी से कभी २ हो जाती है।

प्रति दिन दो बार हवन करने के लिये शास्त्रों की आज्ञा है। अग्नि में आहुति देने वाली सामिग्री से ही हवन की उपयोगिता का पता चलता है। हवन सामिग्री में चार प्रकार की चीजें शामिल हैं।

१-सुगन्धित पदार्थ जैसे-केसर, कस्तूरी, अगर, चन्दन, इलायची, जायफल, तगर, गुग्गुल और कपूर आदि।

२-पुष्टि कारक पदार्थ जैसे-घी, दूध फलादि।

३-मीठे पदार्थ जैसे-बादाम, पिस्ता और किशमिश आदि।

४-रोग नाशक पदार्थ जैसे सोमलता, तुलसी आदि।

यह सब चीजें भिन्न २ ऋतुओं में न्यूनाधिक प्रमाण में हवन में जलाई जाती है। उपर्युक्त सब सामिग्री घी में मिलाकर उपयोग में लाई जाती है। घी के बिना अकेली आहुति देना ठीक नहीं। इस वनस्पति आदि की सामिग्री में रहने वाले तैल, जन्तु नाशक होते हैं। इस प्रकार की सामिग्री जलाने से वायु में रहने वाले जन्तुओं का नाश होकर वायु शुद्ध हो जाती है।

रोगी के स्थान में प्रति दिन गूगल का हवन करना इस रोग में बहुत उपयोगी है। अथर्व वेद में लिखा है—

> "नतं यक्ष्मा अरुंधते नैनं शपथो अश्नुते।
> यं भेषजस्य गुग्गुलो सुरभिर्गन्ध अश्नुते ॥ १ ॥
> विश्वचतस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वाइवेरते।
> यद् गुग्गुलसैन्धववद् बाप्यसिसमुद्रियम् ॥ २ ॥
> अथर्व १९-३८।

जो पुरुष गूगल की सुगन्धित गन्ध को सूंघता है उसको यक्ष्मा नहीं सताते और हरेक प्रकार के कीटाणु इसकी गन्ध से मृगों के समान भागते हैं।

*यहां पर एक अनुभूत हवन सामिग्री लिखी जाती है-*

६७-मंडूक पर्णी ब्राह्मी पानड़ी
इन्द्रायण की जड़ मोथा शतावर
असगंध नेत्रवाला बिधारा
शालपर्णी पृश्निपर्णी मकोय
अडूसा गुलाब के फूल अगर
तगर रासना वंशलोचन
सफेद इलायची क्षीर काकोली
जटामांसी पराडरी गोखरू
लाल मखाना पिस्ता बादाम
मुनक्का जायफल लौंग
इलायची बड़ी हर्रे आंवला
जीवन्ती पुनर्नवा निर्गन्ध
बावड़ी चीड़ का बुरादा बच
खूबकला बालछड़ जावित्री
छाल छबीला कपूर कचरी
लता कस्तूरी

—इन सब औषधियों को समभाग लेकर कूट छान कर तैयार करना चाहिये। गिलोय, तुलसी गूगल और लोहवान को चार भाग लेना चाहिये, केशर, कपूर और देशी शहद को ½ भाग लेना चाहिये। शकर दस भाग, इन सब को खूब बारीक कूट छानकर शुद्ध पवित्र गाय का घी इतना मिलाना चाहिये कि घी के साथ सब सामिग्री के लड्डू बन जावें। इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सामिग्री खुश्क न रह जावे। जितनी आवश्यक हो उतनी साठी के चावलों की खीर नित्य ताजी बनानी चाहिये। यज्ञ में नित्य प्रति तीन आहुतियां पड़नी चाहिये–एक सामिग्री की, दूसरा साठी के चावलों की, तीसरी घी की।

इस प्रकार से रोग नाशक औषधियों को विधिवत् कूट छानकर विशेष घी मिलाकर हवन करने से रोगी को अवश्य आराम होता है क्योंकि उन रोग विनाशक औषधियों के उन छिन्न भिन्न से सूक्ष्म परमाणुओं से मिश्रित वायु को रोगी के श्वास द्वारा तथा अन्य लोम छिद्रों द्वारा रोगी के शरीर में प्रवेश कराने से अवश्य ही यक्ष्मा के कीटाणु मर जावेंगे और रोगी को आराम हो जावेगा। रोगी को रखने तथा यज्ञ करने के लिये शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चीड़ का जङ्गल अथवा बांस के घने जङ्गल में बैठकर यज्ञ करना चाहिये। ऐसा करने से ही विशेष हितकर हो सकता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त के पूर्व दोनों समय यज्ञ करना चाहिये। शीतकाल में प्रातःकाल की अपेक्षा लगभग १० बजे भी करना मुनासिब है। समिधायें आम तथा ढाक की खूब सूखी होनी चाहिये, जिनसे कि धुआं न होने पावे, यज्ञ की अग्नि खूब प्रदीप्त होनी चाहिये। यज्ञ के समय रोगी साधारण वस्त्र पहिन कर खूब उच्च स्वर से वेद मन्त्र उच्चारण करे और जहां तक हो सके बहुत हलका भोजन करे, यही नहीं जो मनुष्य दुर्बलेन्द्रिय हैं उनको यदि किसी भी प्रकार का रोग नहीं है तो भी स्वस्थ अवस्था में इस सामिग्री से हवन करना विशेष लाभदायक है। मैंने अपने कई वर्षों के अनुभव के पश्चात् यह निश्चय किया है कि जो महा रोग औषधि भक्षण करने से दूर नहीं होते वह वेदोक्त विविध यज्ञों के द्वारा दूर हो जाते हैं।

## यज्ञ भस्म–

मस्तक और शरीर पर भस्म (यज्ञ-हवन की राख) मलने की प्रथा हिन्दुओं में बहुत पुरानी है। अधिकांश साधू लोग आज भी शरीर पर भस्म रमाते हैं। भस्म के अन्दर सहस्रों प्रकार के पौष्टिक पदार्थों के लवण और तत्व मौजूद रहते हैं। जिनके त्वचा द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट करने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। भस्म को आधुनिक डाक्टर कृमि नाशक सिद्ध करते हैं। अस्तु, इसके प्रयोग से त्वचा सम्बन्धी रोग नहीं होते। प्राचीन ऋषि मुनि जङ्गलों में रहा करते थे वहां मच्छर पिस्सू आदि भांति २ के जीव प्रचुरता के साथ पाये जाते हैं। वे लोग इनसे बचने के लिये भस्म का व्यवहार करते थे। आप आज भी इनका अनुमान कर सकते हैं।

# क्षय रोग पर आर्ष वाक्य और यज्ञ चिकित्सा

लेखक—राजरत्न श्री० प० दुर्गाप्रसाद जी शास्त्री सम्पादक 'विजय' साप्ताहिक, अजमेर।

भैषज्य यज्ञ के लिये देश काल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। इसमें शारीरिक ज्ञान और निदान मिला देने से ही पूरा आयुर्वेद बन जाता है। शारीरिक निदान, त्रिदोष-नाड़ीज्ञान और अन्य ऐसी ही अनेक बातें हैं जो व्यक्ति व्याधि से सम्बन्ध रखती हैं, जिनका वेदों मे विस्तार मे वर्णन आता है। किन्तु हम यहां केवल क्षय रोग और उसकी यज्ञ चिकित्सा का ही वेद और आर्ष वाक्यों द्वारा वर्णन करना चाहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण मे आया है कि—

भैषज्य यज्ञा वाएते। ऋतु सन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतु सन्धिषु प्रयुज्यन्ते।'

अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओ की सन्धि में व्याधियां पैदा होती हैं। अतएव इनका प्रयोग ऋतु सन्धियों में होता है। आगे छान्दोग्य उपनिषद् मे लिखा है कि—

"भैषज कृतो हवाएष यज्ञो यत्रैव विद् ब्रह्मा भवति'

अर्थात् जिनमें वैद्यक शास्त्रज्ञ ब्रह्मा होता है वे भैषज्य यज्ञ हैं। इन दोनों प्रमाणों मे ऋतु सन्धि और भैषज्य वर्णन है अतएव वनस्पतियों के गुण और देश काल समय तथा स्थान का भी ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

"यस्य देशस्य यो जन्तु' तज्जतायौषध हित"

अर्थात् जो प्राणी जिस देश मे जन्म लेता अथवा निवास करता आया है उसके लिये वहां की ही औषधियां हितकर होती हैं। ऋग्वेद मे आया है कि-

यत्रौषधी समग्मत राजान समिताविव।
विप्र सउच्यते भिषग्रक्षो हामी वचातन॥

अर्थात् जिसके पास नाना प्रकार की अनेक औषधियां राजा की सभा की भान्ति खूब सजी हुई इकट्ठी रहती हैं। वही रोगों को दूर करने वाला भिषक है। इसी प्रकार अथर्ववेद में लिखा है कि—

'त्व भिषग् भेषजस्यासिकर्ता'

अर्थात्—औषधियों का बनाने वाला तू वैद्य है। इससे स्पष्ट होगया कि यज्ञों द्वारा रोगों को निवृत कराने वाले भैषज्य यज्ञों के लिये ऐसे वैद्यों की आवश्यकता है, जो देश काल और पदार्थों के गुण जानते हों और हवनीय औषधियां अपने पास रखते हों। भैषज्य यज्ञों में जिन औषधियों की आवश्यकता होती है वे बहुत हैं। वेदों तथा आर्ष ग्रन्थों मे रोग निवारक अनेक औषधियों का वर्णन है। परन्तु हम तो यहां केवल क्षय निवारक औषधियों और उनकी विधियों का ही वर्णन करेंगे।

## क्षय रोग के कारण

अन्य कारणों के अतिरिक्त मानव समाज का शुद्ध धर्माचरण का न होना भी क्षय रोग का एक कारण है। विलास, शृङ्गार, कामुकता, भोग विलास, अनेक प्रकार के फैशन, परस्पर का द्वेष,

स्पर्धा, कलह, और अशान्त वातावरण, दुष्काल और महामारी आदि इसके पूर्ण साधन हैं।

जब हम भारतीय विद्यार्थी और अपने को शिक्षित कहने वाली सुधारक देवियों की ओर दृष्टिपात करते है तब अधिकांश में उनके चेहरों पर वेस्लीन और पाउडर दृष्टि गोचर होता है। आंखें निस्तेज, भुजायें शिथिल और शरीर पतले दुबले तथा निर्बल दीख पड़ते हैं। चारित्र्य, आत्म विश्वास, आत्म बल, इन्द्रियसंयम, स्वदेशानुराग, जातीयता, तथा आत्मत्याग आदि उनमें लेश मात्र भी दृष्टि गोचर नहीं होता। यह सब कुछ विदेशी भाषा, विदेशी फैशन, विदेशी भाव, आचार विचार और विदेशियों द्वारा उगला हुआ विष चाटकर अपने को बड़ा बनाने वालों की देन मात्र है। फिर ऐसे गृहों में क्षय रोग जैसा संक्रामक वायु के समान वेग वाला क्यों न अतिथि बनकर रहेगा। डा० थर्स्टन साहब जो अमेरिका की सेना में दस वर्ष तक मेजर रहे उनका कहना है कि निरंकुश विषयभोग से स्त्रियों के ज्ञानतन्तु अत्यन्त निर्बल हो जाते है। असमय में ही बुढ़ापा आजाता है शरीर रोगों का घर बन जाता है, स्वभाव चिड़चिड़ा और उत्पाती होजाता है। ऐसे स्त्री पुरुष और उनकी संतानें क्षयरोग का शिकार होते हैं।

संसार में आज जो दरिद्रता है, शहरों में जो घने और गरीब मुहल्ले हैं, वे मजदूरी न मिलने के कारण नहीं हैं, किन्तु आज की वैवाहिक स्थिति से पोषण पाये हुये निरंकुश विषय भोग के कारण हैं।

तङ्ग सीने और सूखे शरीर वाले तो इस रोग के चङ्गुल में आसानी से आ ही सकते हैं परन्तु असावधानी रखने से बड़े २ हृष्ट-पुष्ट भी इस रोग का शिकार हो जाते हैं। विलासी पुरुष स्त्रियां जो अत्यन्त विषय भोगों में रत रहते हैं। हस्त मैथुन करने वाले प्रेमी के वियोग में प्रेमिका का, और प्रेमिका के वियोग में प्रेमी का दिन रात चिन्तित रहना, अर्थात् अत्यन्त शोक और चिन्ता तथा भयातुर रहने से भी इस रोग का आक्रमण होता है। स्त्रियों के प्रतिवर्ष प्रसव का होना और उनको पौष्टिक सामिग्री न मिलना। जो स्त्री पुरुष अंधेरे शील वाले गन्दे मकानों में रहते है जहां वायु और प्रकाश कम पहुंचता है, जो स्त्रियां अधिक समय तक बच्चों को दूध पिलाती हैं। जिनके गन्दे मकानों में जाले-मकोरे तथा थूक, रेंट, टट्टी पेशाब पड़े रहते हैं और जो मैले कपड़ों में रत रहते हैं अथवा जो स्त्री पुरुष शक्ति से अधिक परिश्रम करते हैं अथवा वे स्त्री पुरुष जो पौष्टिक पदार्थ खाकर कुछ भी पुरुषार्थ एवं परिश्रम नहीं करते केवल तकिया के सहारे पड़े २ तकिया बने रहते हैं।

प्रायः ऐसी स्त्रियों को भी यह रोग होता है जो अधिक परदे मे रहती हैं, अथवा मदिरा पान करती है, तथा जिनको प्रदर और गर्भाशय के रोग होते हैं। अथवा वे स्त्री पुरुष जो मल मूत्र छींक आदि प्राकृतिक वेगों को बार २ रोकते हैं, कभी २ उन पर भी इस रोग का आक्रमण होता है। ऐसे बड़े २ नगरों में जहां छोटी २ कोठरियों में कई २ स्त्री पुरुष मिल कर सोते हैं। तथा इस प्रकार के रोगियों के मल-मूत्र-थूक और वस्त्रों से जो सम्बन्ध रखते हैं। अधिकांश में यह रोग उन्हीं स्त्री पुरुषों और नवयुवकों को होता है जो प्रकृति के विरुद्ध

युद्ध करते हैं। और अपने जीवन को नियम विरुद्ध बिताते हैं।

प्राचीन समय का इतिहास बतलाता है कि उस समय के नवयुवकों के मस्तिष्क ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता था, और उनके शरीर भुजाएं और वक्षःस्थल सुदृढ़, विशाल और हृष्ट पुष्ट होते थे। उस समय यह रोग नाम मात्र को था, परन्तु अर्वाचीन समय में विलासिता, फैशन, भोग, और मानसिक चिन्ताओं के कारण यह रोग दुर्भाग्य वशात भारतवर्ष में तो सर्वत्र ही सर्प की तरह फैला हुआ है। अमेरिका, युरुप और एशिया के समस्त उन्नत देशों में जहा इस रोग की अधिकता भी नहीं हैं, जहा मनुष्यों की स्वास्थ्यरक्षा विषयक नित्य नये २ आविष्कार किये जाते हैं। वहां पर प्रतिवर्ष प्रत्येक देश में करोड़ों रुपया 'सेनोटोरियम" में खर्च किये जाते हैं। वहा पर रोगियों को प्रत्येक प्रकार की सुविधायें प्राप्त हैं। और जो रोगी अच्छे होकर आते हैं उनका शीघ्र ही उनके घरों पर नहीं भेजा जाता। अपितु परीक्षार्थ कुछ समय तक अन्य सुरक्षित स्थानों में रखा जाता है। भारत निवासियों के लिये "भैषज्य यज्ञ" हा एक बडा भारी "सेनोटोरियम" था जिससे क्षय के अतिरिक्त अनेक प्रकार के रोग दूर होजाते थे।

एक बार "दी इण्डियन रिव्यू" में पश्चिमीय वैज्ञानिकों के हवन के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित हुये थे। उसमें लिखा था कि हवन का करना एक ऐसी साइन्स की बात है कि इसके विरुद्ध आजकल कोई भी विद्वान नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा था कि—

"एक सेर चीड़ की लकड़ी के धूम्र में फीसैंकड़ा ३२ अंश, शाह बलूत की लकड़ी में फी सैंकड़ा ३५ अंश तथा शुद्ध खाड में फी सैंकड़ा ७० अंश "एलडिहाइड" के होते हैं अतः हवन में शुद्ध खाड को जलाने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शारीरिक तथा रासायनिक होता है। आगे कहते हैं कि हवन करने से "कार्बनडाईअक्साईड" कभी भी अधिक उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि हानि के भय की सम्भावना हो। प्रत्युत बड़ी भारी सुगन्ध फैलती है जो कि सर्वथा रोग निवारक है।

सुगन्धित द्रव्यों का हवन किया हुआ सुगन्धि को सर्वत्र फैला देता है। जिससे मस्तिष्क आनन्द अनुभव करने लग जाता है। हवन करने से निस्सन्देह "ओजून" और आक्सीजन की वृद्धि होती है।

होम्यापैथिक चिकित्सा के आविष्कर्ता महात्मा डाक्टर हैनीमन साहब अधिक निर्बल रोगियों को खिलाने के स्थान में केवल औषधि सुंघाने का परामर्श देते हैं। उन्होंने लिखा है कि मेदे के अतिरिक्त जिह्वा और मुह में ऐसे भाग हैं जो औषधि के प्रभाव को अति शीघ्र ग्रहण करते हैं। और नाक का भीतरी भाग भी शीघ्रता से प्रभावान्वित होता है। औषधि का सबसे अधिक प्रभाव सूंघने और श्वास लेने से होता है। वैज्ञानिक लोग इस बात को जानते हैं कि सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रवेश कर जाता है परन्तु स्थूल पदार्थ सूक्ष्म में नहीं घुस सकते। जैसे यदि आटे में पिसी हुई शक्कर (बूरा) मिला दिया जाय तो उसको मनुष्य की स्थूल अंगुली उस सूक्ष्म बूरे को आटे से पृथक नहीं कर सकतीं। परन्तु यदि चींटयों को उसमें छोड़ दिया जाय तो चींटियों का सूक्ष्म मुंह आटा और शक्कर को

अलग २ कर देगा।

यूरुप के विज्ञान वेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि क्षय रोग का कीड़ा अति सूक्ष्म होता है यदि तीस करोड़ कीड़ों को एकत्रित किया जाय तो उनके लिये केवल एक इन्च ही स्थान पर्याप्त है। अब पाठक इसकी सूक्ष्मता पर विचार करें कि कीड़ा कितना बारीक होता है। इसके आगे बतलाते हैं कि यह "जर्मस" इतना हलका होता है कि १ खसखस के दाने पर सहस्रों कीड़े चढ़ सकते हैं। इस प्रकार के हलके और बारीक कीड़ों के पास स्थूल कण वाली औषधियों की पहुंच देर से हो हो सकती है क्योंकि मनुष्य जो कुछ खाता पीता है उसका समयान्तर से ही असर होता है। इसी प्रकार से वर्तमान वैज्ञानिकों ने रसायन शास्त्र का एक नवीन शब्द "इन्जेकशन" तैयार किया है।

इन औषधियों के अतिरिक्त ऋषियों ने सबसे श्रेष्ठ 'भैषज्य यज्ञ' को माना है। जिस मे ऋतु अनुसार रोग नाशक औषधियां कूटकर विधिवत् घृत मिलाकर हवन करना चाहिये। क्योंकि घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न (चावल गेहूं उड़द जौ) पुष्टिकारक पदार्थ हैं सुगन्धित पदार्थ यदि बिना घृत के मिलाये अग्नि में जलाये जांय तो उनकी सुगन्धि में तीव्रता और रूखापन अधिक रहने से जुकाम ( प्रतिश्याय ) आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। प्राचीन काल के आयुर्वेदज्ञ विद्वानों का यह विश्वास था कि हवन के द्वारा औषधियों से मिश्रित जो वायु रोगी के श्वास प्रश्वास द्वारा तथा अन्य लोम और छिद्रों द्वारा रोगी शरीर है प्रवेश करने से अवश्य ही क्षय रोग को लाभ पहुंचेगा। क्योंकि महात्मा "हैनीमन" के सिद्धांतानुमार औषधियों का वह सूक्ष्म भाग जो यज्ञ की अग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न होकर सूक्ष्म परमाणु के स्वरूप में बन जाता है। वह सुगमता से शीघ्र ही रोग के कीड़ों को मारकर रोगों को दूर कर सकता है। और यह असम्भव है कि नियमानुमार औषधियों द्वारा किए हुए यज्ञ के परमाणु रोग के कीड़ों तक न पहुंच सके।

प्राचीन शास्त्रकारों का यह भी विश्वास है कि इस रोग में रोगी के फेफड़े विशेषतया आक्रान्त हो जाते हैं यही कारण है कि स्थूल औषधि जो खाई जाती है उसका प्रभाव देर से होता है। प्रत्येक वैद्य इस बात को जानता है कि जो औषधि मुंह से खाई जाती है वह हजम होने पर रस रक्त बनने के पश्चात् फेफड़ों तक पहुंचती है। परन्तु अग्नि में जलाई हुई औषधि सूक्ष्म परमाणु के रूप में श्वास द्वारा सीधी फेफड़ों तक पहुंच सकती है। इस अग्नि के द्वारा जितनी शीघ्र औषधि का भाग फेफड़ों तक पहुंचाया जा सकता है सम्भव है दूसरे तरीकों से उतना शीघ्र न पहुंच सकता हो।

## भैषज्य यज्ञ के लिये वेद भगवान

का आदेश

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शत क्रतो यूयमिमं मे अगदं कृत॥

यजुर्वेद १२—७६।

हे अम्ब ! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम हजारों प्रकार से उगती हो तुम मेरे यज्ञ में आओ और आरोग्यता प्रदान करो।

अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्त मिदं विवृहामिते॥

ऋगवेद १०—१६३-६।

अर्थात् मैं अपने आत्म बल से अङ्ग २, जोड़ २, रोम रोम से यक्ष्मा को निकाल बाहर करता हूं।

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृत भ्रजे।
तां त्वा वयं खनामस्योषधि शेप हर्षणीम्॥

अथर्व वेद ४-४-१।

अर्थात् जिस औषधि को मृत वरुण के लिये गन्धर्व ने खोदा था। उसी वाजीकरण औषधि को मैं खोदता हूं।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात
ग्राहिर्जग्राह यद्येत देन तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम॥
इन्द्रो यथैनं शरदो न यात्याति विश्वस्य दुरितस्य पारम॥

अथर्ववेद ३-११-३।

अर्थात्-हे मनुष्य तुझे मैं हवन के द्वारा अज्ञात महामारी रोग से और क्षय रोग से सुखरूप जीवन के लिये छुडाता हूं। इस रोगी को असाध्य रोग ने पकड़ रक्खा है। इसलिये हे इन्द्र और अग्नि आप इसे आरोग्य करें। मैंने इस हवनीय हविष को सेकड़ो गुणदायक और आयु बढाने वाली औषधियों को डालकर तैयार किया है। इसलिये हे यज्ञपति इन्द्र आप इस संसार में फैले हुए रोग को हटाकर इस बीमारी को सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

अथर्व वेद १९-६३-१।

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते उठो और यज्ञों से देवताओं को जगादो, जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति और राजा की उन्नति हो।

त्र्यम्बक यजा महे सुगन्धिम्पुष्टि वर्द्धनम्।
उर्वारुक मिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात॥ यजुर्वेद

अर्थात् सुगन्धित और पुष्टि के बढाने वाली तीनों अम्बिकाओं को हवन करता हूं। जिससे मृत्यु के दुख से उसी तरह छूट जाऊं जिस तरह पका हुआ फल अपने बन्धन से अनायास छूट जाता है। परन्तु मोक्ष से न छूटूं।

अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका ये तीनों नाम एक ही वृक्ष द्वारा उत्पन्न औषधियों के हैं। अन्वेषण करने पर यह भी पता लग चुका है कि इनके पर्याय नाम अमुक २ हैं।

प्राणाय स्वाहा-पानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके मामा नयति कश्चन॥

यजुर्वेद ३-५७।

अर्थात् हे अम्बे, अम्बिके तुम्हारा प्राण, अपान-व्यान के लिये हवन करते हैं कि जिससे भयङ्कर रोगों से मुक्ति हो। इसी प्रकार चरक शास्त्र के निर्माता लिखते हैं।

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजित।
ता वेद विहिता मिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत॥

चिकित्सा स्थान।

अर्थात् जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन काल में राजयक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था उस वेद विहित यज्ञ को रोग दूर करने के लिये करना चाहिये।

## यज्ञ करने का विधान–

सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों समय यज्ञ करना चाहिये। शीतकाल में प्रातः १० बजे से और सायंकाल ५ बजे से प्रारम्भ करना चाहिये। वैदिक मन्तव्यानुसार चीड़ अथवा आम के जङ्गल में बैठ कर यज्ञ करना रोगी के लिये विशेष हितकर है। अपितु देश कालानुसार स्थान नियत कर लेना चाहिये। यज्ञ की अग्नि खूब प्रदीप्त हो, आम

अथवा ढाक या पीपल की सूखी समिधायें हों जिन से धुआं न उठने पावे। सामिग्री में उत्तम गाय का घी मिलाकर लड्डू जैसे बना लेवे। रोगी अपने बलाबल के अनुसार उच्च स्वर में स्वाहा शब्द का उच्चारण करे जिससे यज्ञ का सुगन्धित वायु मुंह, नासिका और अन्य जननेन्द्रियों द्वारा प्रवेश हो। प्रत्येक ऋतु में काल भेद से सामिग्री भिन्न २ होती है।

हम यहां पर केवल स्थानाभाव के कारण १२ मास यानी प्रत्येक ऋतु की सामिग्री न लिखकर केवल माघ-फाल्गुन की लिखे देते हैं। सामिग्री पर जितने श्लोक लिखे गये हैं उनके लिये भी पर्याप्त स्थान चाहिये अतः भावार्थ मात्र लिखते हैं इस विषय में जिन महानुभावों को आवश्यकता हो वे पत्र व्यवहार द्वारा प्रत्येक ऋतु की सामिग्री तथा प्रमाण मालूम कर लेवें।

६८—अखरोट कचूर वायविडङ्ग
गाल मुण्डी मोच रस
गिलोय मुनक्का काला तिल
तज कस्तूरी केसर
चन्दन चिरायता छुहारे
तुलसी के बीज गुग्गुल चिरोंजी
काकड़ासिंगी सतावर दारु हल्दी
शङ्खपुष्पी पद्माख कौंच के बीज
जटामांसी भोजपत्र

—इनके साथ गूलर अथवा बड़ की समिधा होनी चाहिये।

६९—मंडूकपर्णी ब्राह्मी असगंध
इन्द्रायण की जड़ विधारा मकोय
शालपर्णी अडूसा गुलाब के फूल
तगर वंसलोचन क्षीर काकोली
जटामांसी गोखरू पिस्ता
बादाम जायफल लौंग
हरड़ बड़ी आमला खूबकला
चीड़ का बुरादा —प्रत्येक समभाग।
गिलोय गुग्गुल चार भाग
केशर कपूर देशी ½ भाग
शक्कर दसवां भाग

—साठी के चावलों की खीर पृथक बनाई जावे।

इस प्रकार दोनों समय यज्ञ करने से रोगी की निर्बलता, खांसी, क्षय, मन्दाग्नि, ज्वर आदि रोग दूर होकर स्वास्थ्यता प्रदान होती है।

# उरःक्षय चिकित्सा

लेखक-श्री० रामेशवेदी, हिमालय हर्बल इन्स्टिट्यूट, बादामी बाग, लाहौर।

| ७०-सितोपलादि | २ माशा |
|---|---|
| अभ्रक भस्म | १ रत्ती |
| प्रवाल भस्म | २ रत्ती |
| स्वर्ण मालती वसन्त | ½ रत्ती |

—सुबह शाम शहद से चटाकर ऊपर से दूध पिला दें।

उरःक्षय के अनेक रोगियों को इसका प्रयोग करा के मैंने रोग को समूलोन्मूल नष्ट किया है। रोगी को पूर्ण विश्राम होना आवश्यक है। हल्की, सुपच तैल, मिरच मसालों से रहित खुराक पर रखना चाहिये। दूध, हरी सब्जियां, गेहूं का दलिया या फुलका, फल आदि पथ्य पर रखें। ताजी हवा में उसका विस्तर रहे।

खासी और पसलियों में दर्द तो जल्दी बन्द हो जाते हैं। पिप्पली, दालचीनी और इलायची अच्छे क्षुधा उत्तेजक होने से इसके सेवन से रोगी को कुछ ही दिनों में अच्छी भूख लगने लगती है। इनमें जो उड़नशील तैल विद्यमान हैं वे फेफड़ों में कृमि नाश करने का काम भी करते हैं। पिप्पली और वंशलोचन रसायनद्रव्य का काम करते हैं। *रोगी के लिये आवश्यक कैल्शियम, सम्भवतः वंशलोचन से पहुंचती रहती है।* अभ्रक और स्वर्ण मालती वसन्त क्षय के जीवाणुओं को मारते हैं और इसलिये तापमान को वश में करते हैं। अभ्रक फेफड़ों को विशेष रूप से बल देता है।

जब भूख चमकने लगे तो भोजन में मक्खन का थोड़ा सा समावेश कर देना चाहिये, और अल्प मात्रा में च्यवनप्राश भी दिन में दो बार तक देना आरम्भ कर देना चाहिये। अधिक परिमाण में दिया गया च्यवनप्राश रोगी की भूख को मार दिया करता है। इसलिये इसकी मात्रा के निर्धारण में ध्यान रखना चाहिये।

तापमान साधारण तक पहुंचने में कुछ मास लग सकते हैं। खासी और पसलियों की दर्द न रहे, तापमान साधारण आजाय, रोगी खुराक अच्छी ले रहा हो और उसे हज्म कर रहा हो, भार बढ़ रहा हो, वह स्वयं अपने को स्वस्थ अनुभव करता है तब भी कुछ समय तक यह औषधि क्रम जारी रखें।

खासी अधिक कष्टकर हो तो निम्न लिखित क्वाथ उपर्युक्त दवा चाटने के बाद पिलायें।

| ७१-मुलेहठी | ६ माशा |
|---|---|
| बनफशा का पञ्चाङ्ग | ६ माशा |
| लसूड़िया | ९ दाने |
| गावजवान | ६ माशे |
| उन्नाव | ६ दाने |
| मुनक्का | ५ दाने |

—सर्दियों में इसके अन्दर ६ माशा छोटी कटेरी का पञ्चाङ्ग भी मिला लिया जाता है। क्वाथ

[ शेषांश पृष्ठ २६७ पर देखें ]

# अनुलोम क्षय और उसकी चिकित्सा

लेखक—कविराज श्री० हरदयाल जी वैद्य वाचस्पति आयुर्वेदाचार्य K. R, A. V., M. A. S.,
प्रिंसीपल दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर।

बीसवीं सदी के बहु संख्यक उपहारों में से एक उपहार अनुलोम क्षय भी है। इस रोग का पर्याप्त विस्तार हुआ है। इसके वास्तविक कारणों से भिन्न प्रज्ञापराध भी एक प्रधान कारण है।

अपने अनुभव के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि ६०% प्रतिशत रोगी चिकित्सा वैषम्य के कारण इस महारोग के शिकार बनते हैं।

क—निमोनियां, टाइफाइड तथा इसके अतिरिक्त सान्निपातिक रोगों के आरम्भ, मध्य और अन्त में अनुचित चिकित्सा तथा उपचर्या करने से निश्चय ही रोगी अनुलोम क्षय का पात्र बन जाता है।

ख—इन्जेक्शन चिकित्सा ने भी इस रोग की वृद्धि में पर्याप्त सहायता की है। हमारे ऐलोपैथी भाई सन्निपात की चिकित्सा में कभी २ व्याकुल होकर सन्निपातोद्भव उपद्रवों की शांति के लिये पकेबाद दीगरे इन्जेक्शन करते जाते हैं। इस प्रकार भिन्नार्थ साधक तत्व सूचिवेध द्वारा एक ही समय पर शरीर में संचित होकर, परिणाम स्वरूप भविष्य में शरीरस्थ रोग प्रतिहारिणी शक्ति को नष्ट कर देते हैं। इस शक्ति के नष्ट होने से शरीर का पोषण और वर्द्धन सम्यक् रूपेण न होकर शरीर दुर्बल होता जाता है। अन्त में परिणाम स्वरूप क्षय रोग का चतुर्भुज प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

ग—ऐलोपैथी भाईयों की प्यारी सखी 'कुनीन' ने भी इस रोग की संख्या वृद्धि में अच्छा हाथ बटाया है। सम्भव है पाठक उक्त पंक्ति को पढ़ कर चञ्चल हो उठें परन्तु वास्तव में यह विषय विचारणीय है।

निःसन्देह कुनीन का मात्रावत् प्रयोग क्षय का उत्पादक नहीं है। परन्तु थोड़ा विचार कर देखिये व्यवहार का सत्यरूप क्या है?

रोगी आता है। निश्चय होता है "मलेरिया-ज्वर"। व्यवस्था होती है, मग्नेशिया का घोल और कुनीन, दोनों औषधें अपना २ प्रभाव करती हैं। ज्वर यदि अन्येद्युः है तो विजयश्री डाक्टर और कुनीन गले का हार बनजाती है। यदि ज्वर संतत अथवा अविसर्गी होता है तो, पूर्वप्रदत्त दोनों औषधें आयुर्वेद की इस उक्ति को चरितार्थ करती हैं।

'शोधनं शमनीयं च करोति विषम ज्वरम्।"

इस सरिणी से लगभग ३०% प्रतिशत रोगी क्षय रोग के शिकार प्रज्ञापराध के कारण होते हैं। १०% प्रतिशत अन्य कारणों से सीधे इसके चंगुल में फसते हैं।

१—प्रमेही माता पिता की सन्तान को प्रायः इसका भय रहता है।

२—संक्रामक रोग ग्रस्त माता पिता की संतान भी इस दशा को प्राप्त होती है।

३—चित्रपटों का भी इसमें समावेश होता है।

४—बाल्यकाल से ही अत्यन्त प्रवृद्ध स्वप्नदोष का भी इसमें भारी योग होता है।

५—स्वाभाविक वा रोगोपरान्त सहजमन्दाग्नि रोग इसका सर्व प्रथम कारण है।

## उत्पत्ति क्रम और स्थान—

शरीर में मुख से लेकर गुद पर्यन्त स्थिति नलिका को महास्रोत कहते हैं। इसी महास्रोत में भिन्न २ स्थानों पर भिन्न २ कार्य साधक अवयव अपना २ कार्य करते हुए शरीर का अहर्निश पोषण और वर्द्धन करते रहते हैं।

इस क्षय रोग में सर्व प्रथम इसी महास्रोत में अवस्थित अवयवों की क्रिया का क्षय (क्रियाहीनता) होता है। इसी अवस्था का वर्णन भगवान धन्वन्तरि—"क्रियाक्षय करत्वाच्च क्षय इत्युपदिश्यते" के द्वारा करते हैं। स्वस्थावस्था में भुक्त आहार महा स्रोत से चलता हुआ स्थानीय अनेक अवयवों से पाचक रसों को लेता हुआ एवं जाठर रस और विविध पाचकाग्नियों की सहायता से पचता हुआ तथा आन्त्रगति से मथित होता हुआ इस योग्य बनता है कि वह रस ग्राहक अकुरों द्वारा आचूषित हो सके। उचित रसाकर्षण होने से ही शरीर का पोषण और वर्द्धन होता है। तद्भिन्न दशा में शरीर क्षयाभिमुख अग्रसर होता है। महास्रोतस्थ अवयवों की क्रिया का नाश ही इस रोग को उत्पन्न करता है। एवं यह कफ प्रधान तथा मन्दाग्निजन्य रोग "अनुलोम क्षय" के नाम से प्रसिद्ध प्राप्त कर रहा है।

सर्व प्रथम रस धातु का क्षय आरम्भ होकर तदुत्तरोत्तर रक्तादि धातुओं का क्षय आरम्भ होने से शरीर का वर्द्धन अवरुद्ध हो जाता है। यह बहु व्यापी रोग है। प्रारम्भ में शनैः २ महा स्रोत के अवयवों की क्रिया का एकोत्तर ह्रास होने लगता है। तदनु वर्द्धितावस्था में मस्तिष्क तथा फुफ्फुस भी रोगाक्रान्त होने से विशेष लक्षणों की उपलब्धि होती है। प्रारम्भ में निश्चय ही यह समझ लेना कि अनुलोम क्षय आरम्भ हो रहा है यह बड़ा ही कठिन है। पर्याप्त समय के पश्चात क्रम २ से इसके लक्षणों में वृद्धि होती है। इसका कारण यह है कि जैसे २ महास्रोतस्थ अवयवों की विकृति होती जाती है वैसे २ ही लक्षणों में वृद्धि होने लगती है।

## लक्षण—

प्रारम्भ में अरुचि, भोजन में वास्तविक स्वाद

---

[ २६० का शेषांश ]

सेर पानी में उबाल कर दो छटांक बच रहने तक इसे पकायें। मल कर कपड़े में छान लें। रोगी चाहे तो इसमें थोड़ा शहद मिला दें।

थूक में खून आता हो या रक्त वमन होती हो तो वासावलेह १ माशे का चम्मच भर दिन में दो बार दें। निम्नलिखित हिम भी मैंने उपयोग किया और लाभदायक पाया है।

७२—बासे के पत्ते नागरमोथा गिलोय
तीनों ६-६ माशा

—तीन छटांक पानी में रात को मिट्टी के कोरे कुल्हे में भिगो कर सुबह मलकर कपड़े में छान कर पिलायें। साथ ही पहली दवा में आधी रत्ती प्रवाल भस्म भी मिला देता हूं। इस उपचार से खून बन्द होजाता है।

का अभाव, मुखस्राव, कफ वृद्धि, प्रतिश्याय, शिरोगुरुत्व, पेट फूलना, भोजन का भली प्रकार पाक न होना; मलावरोध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं।

कुछ समय तक इसी दशा में रहने से धीरे २ यकृत यन्त्र सिकुड़ जाता है। इसी तरह क्रिया सभी संकु- होजाता है। स्वाद पिण्ड छोटा हो जाता है। आंतें सिकुड़ कर बारीक होजाती हैं। शरीर की त्वचा पाण्डुप्रभ तथा पतली हो जाता है। कभी २ ज्वर प्रतीति होती है। केश सम्वर्द्धन रुक जाता है। नेत्रों की कान्ति मलीन हो जाती है। उसमें तेज वा चमक नहीं रहती।

दुर्भाग्य के कारण यदि दशा में परिवर्तन न हो तो दुर्लक्षण बढ़ जाते हैं। इसमें रोगी हिलने चलने में असमर्थ हो जाता है। हाथ पांव सूख जाते हैं। पेट सिकुड़ जाता है। शरीर का मांस क्षीण होकर अस्थि चर्म मय का ढांचा दीखने लगता है। अन्त में रोगी अत्यन्त कृश होकर पोषण के अभाव से मृत्यु मुख में चला जाता है। अनेक रोगी कितने ही दिन ऐसी ही दशा को भोगते रहते हैं। और कितने ही उचित पथ्योपचार तथा औषधादि के प्रयोग से एवं कर्म दोष क्षय होने से सुधर भी जाते हैं। परन्तु ऐसे सुधरने वाले प्राय बार २ इसके चंगुल में फंसते ही रहते हैं। कितनी ही वार कई रोगी उपचारोप न्त बिलकुल चङ्गे भले और मोटे ताजे दीखने लगते हैं किन्तु वर्ष के पश्चात् सहसा उन पर फिर इस रोग का आक्रमण होता है और पुनः उन्हें उसी अथवा उससे भी निकृष्ट दशा में पहुंचना पड़ता है।

## चिकित्सा—

यह रोग वंशपरम्परा से सम्बन्ध नहीं रखता संक्रमण शृंखला भी इसे पसन्द नहीं परन्तु—

"दुर्विज्ञेयो दुश्चिकित्स्यो शोषो व्याधिर्महाबलः"

यह सब बातें इसमें पूर्ण रूप से घटित होती है। इसीलिये इसके चङ्गुल में फंसे रोगी सहसा छुटकारा नहीं पाते। इस महा रोग से रोगी को मुक्त करने के लिये माधवोक्त सम्प्राप्ति का यह सूत्रोपदेश सर्वदा स्मरणीय है।

'कफ प्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रस वर्त्मसु''

इस स्वर्णोपदेश की विद्यमानता में चिकित्सा क्षेत्र शृंखलित हो जाता है। एवं विधि हेतु विपरीत चिकित्सा से इस रोग को दूर किया जा सकता है। वर्तमान में प्रायः ही इसकी चिकित्सा का मार्ग व्याधि विपरीत स्थिर करके, ऐसे कृश रोगियों को बृंहण चिकित्सा आरम्भ की जाती है। जिसका परिणाम विपरीत प्रकट होकर रोगी को और भी कष्ट में डाल देता है। पाचकाग्नि सबल होने से ही बृंहण चिकित्सा फलवती हो सकती है। इस रोग में जठराग्नि आरम्भ से ही अत्यन्त मन्दीभूत होने से गुरु भोजनों को पचाने में नितान्त असमर्थ होती है।

प्रायः यह देखने में आता है कि अनुलोम का रोगी अविश्वासी हो जाता है। इसका कारण इससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकता कि वह दीर्घ काल से रोगी है और उसने अपने उद्धार के लिये अनेक चिकित्सकों के परामर्श को अपनाया है एवं अनेक औषधों का श्रद्धा और विश्वास से सेवन किया है। परन्तु परिणाम वही ढाक के तीन पात। ऐसी अवस्था में चिकित्सक को सर्व प्रथम उसे अपने विश्वास में लेना चाहिये। रोगी का अटल विश्वास चिकित्सा [illegible]

लगा देता है। समूलतः व्याधि नष्ट करने के लिये इस रोग में अधिक औषधों की भरमार न करके रसायन औषधों का प्रयोग अतिशय लाभकर सिद्ध हुआ है। एक २ ही औषधि विधिवत् प्रयुक्त हुई उचित पथ्योपचार परिचर्यादि से युक्त अनुलोम क्षय को नष्ट कर देती है। पृथक् २ रोगियों का ब्यौरे वार वर्णन कागज के दुर्भिक्ष काल में उचित नहीं। एतदर्थ संक्षेप तथा संकेत के साथ हम अपने हाथों अनेक रोगियों पर व्यवहृत औषधों का नीचे उल्लेख करते हैं।

भगवान धन्वन्तरि जी का आदेश देखने योग्य है—

"रसोनयोग विधिवत क्षयार्त्तं वीरेण वा नागबलाप्रयोगम्।
सेवेत वा मागधिका विधान तथोश्मयोगजतुनोऽश्मजस्य॥

अनुलोम क्षय नाशार्थ उक्त श्लोक में ४ औषधों का नमोचारण किया गया है।

१—लशुन २—नागबला
३—पिप्पली ४—शिलाजतु

अब क्रमशः चारों रसायन औषधों पर विचार किया जायगा।

## १ लशुन प्रयोग—

जब अनुलोम क्षय के रोगी में वातादिक लक्षणों के प्राबल्य के साथ २ आन्त्र कूजन, आध्मान आटोप, शूल तथा मलावरोध उपस्थित हो तो लशुन का सेवन कराना चाहिये।

क—आयरलैण्ड के Dr Minchen क्षय रोग के प्रसिद्ध चिकित्सक हैं। यह लशुन से एक प्रकार का तैल निकाल कर अनुलोम क्षय के रोगियों को अमोघास्त्र के रूप में व्यवहार करते हैं। विज्ञान का यह युग भी महर्षि के निर्दिष्ट द्रव्य का आमतौर पर व्यवहार करता है। आयुर्वेद में क्षय रोग हर इस का गुण बताया गया है। क्षय रोगार्थ इसके अनेक कल्प ग्रन्थों में आए हैं। एतदर्थ नावनीतक (१७ वीं सदी में लिखित) पराशर संहिता तथा वाग्भट्ट को देखना चाहिये।

ख—पदार्थ विश्लेषण से लशुन में उड़नशील तैल एलाइल, प्रोपाइल आदि गन्धक के यौगिकों का परिचय मिलता है। उक्त पदार्थ स्वभावतः तीक्ष्ण होने के कारण आमाशयिक रस वर्द्धक, दीपन, पाचन, स्रंसन, अनुलोमन, कफ निःसारक, आन्त्र-गति वर्धक तथा आध्मान हर होते हैं। ऐसे ही विशिष्ट गुण सम्पन्न औषध अनुलोम क्षय में लाभ कर सिद्ध होते हैं।

प्रयोग विधि—तुष रहित लशुन की मोटी २ तुरियां ऽ८ लेकर विशुद्ध शिला पर अति सूक्ष्म पेषण करके, इस कल्क को स्वच्छ पात्र में संचित कर लेवे। तदनु १॥ तोला गव्य घृत इसमें डालकर तक्र मन्थनवत् मथित करे। फेन सदृश होने पर सिद्ध औषधि को उसी पात्र में पड़ा रहने देवे।

सेवन काल—प्रातः खाली पेट। मात्रा-४ माशा चाटकर ऊपर से २ छटाक उष्ण दुग्ध पान करे एवं विधि दिन रात्री में ४ बार औषध प्रयोग करे। इस प्रकार २-३ दिन व्यवहार करने से रोगी की क्षुधा बढ़ती है। जैसे २ क्षुधा वृद्धि हो वैसे २ दुग्ध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। अधिक आवश्यकता होने पर सायंकाल मूंग की पतली दाल के साथ थोड़ी २ रोटी भी दी जा सकती है। परन्तु अनुपान दुग्ध ही रहेगा।

वस्तु अत्यन्त साधारण है और विधि भी बहुत ही सरल है, परन्तु कुछ काल सेवनोपरांत रोगी और चिकित्सक दोनों आश्चर्य चकित होंगे।

## २ नागबला-

पित्त प्रधान लक्षणों वाले अनुलोम क्षय में जब कि मल भेद अवस्था उपस्थित हो तब इसका प्रयोग विधेय हो सकता है। चूंकि इस रसायन औषधि का प्रयोग हमने अनुष्ठान विधान से किसी रोगी को नहीं कराया। इसलिये व्यर्थ लेखनी घर्षण सिद्धांत विरुद्ध है। जिन चिकित्सकों ने किया हो वे लिखने की कृपा करें।

## ३-मागधी प्रयोग-( वर्द्धमान पिप्पली विधान )

पिप्पली जगत् प्रसिद्ध औषधि है। इस दिव्य रसायन औषधि के अनन्त दिव्य गुण समुदाय को देखकर आश्चर्य होता है। यह अनुलोम क्षय की अचूक औषधि है। हमने सैकड़ों रोगियों को इस का अनुष्ठान कराया है। न केवल अनुलोम क्षय, अपितु-कास, श्वास, प्रतिश्याय, मन्दाग्नि, अजीर्ण, पाण्डु, रक्तहीनता, पुराण विकृत विषम ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर, संग्रहणी, आमवात, वातरक्त, रक्तचाप न्यूनता आदि में नित्य व्यवहार करते हैं। वर्द्धमान पिप्पली पर हमारे शिष्यों द्वारा किए गए अनुभव और भी प्रसन्नता के कारण हैं। यह समझना भारी भूल है कि पिप्पली तीक्ष्ण होती है और वर्द्धमान क्रम से अधिक मात्रा में हानि करती है। इसके प्रयोग के द्वारा होने वाले लाभ शीघ्र होते हैं और चिरस्थायी रहते हैं। जो चिकित्सक इससे लाभ उठावें वे अपने अनुभव धन्वन्तरि द्वारा अवश्य प्रकट करें जिससे इसके महत्व पर प्रकाश पड़े और आयुर्वेद की प्रतिभा को सब देख सकें।

प्रयोग विधि—यह योग चरक का है। वहां इसे ५, ७ और १० पिप्पलियों से आरम्भ किया गया है। परन्तु हम २ पिप्पली से आरम्भ करते हैं। यह स्मरण रहे कि एतदर्थ पुरानी पीपल लेनी चाहिये। काली पीपल के स्थान पर जो छोटी छोटी पिप्पलियां सम्प्रति व्यवहार में आ रही हैं, इनका अनुष्ठान हमने नहीं कराया।

प्रथमतः २ पिप्पली से प्रयोग आरम्भ करना चाहिये। प्रातःकाल २ पीपल लेकर स्वच्छ शिला पर पेषण करे। थोड़ा २ जल छोड़कर एक घण्टा पीसना चाहिये। पुनः इस कल्क को एकत्रित कर के कलईदार कटोरी में डाल दें। शिला को थोड़े जल से प्रक्षालन करके इस जल को भी कटोरी में डाल दें। तदनु शृतोष्ण गो दुग्ध इसमें थोड़ा सा डालकर भली प्रकार मिलाकर पान करे। ऊपर से २ वा ३ छटांक दुग्ध का पान करे। दूध में खांड़ या मिश्री मिलालें।

औषधि पान करने के पीछे अपने कार्य में लग जाना चाहिए। तदनु ४-५ घण्टा के पश्चात् जब क्षुद्बोध हो तो पुराने चावलों का भात सशर्करा उष्ण गो दूध से खावे। पुनः रात्री के भोजन में अम्ल, तीक्ष्ण और दुष्पाच्य पदार्थों को छोड़कर यथेच्छ भोजन करे। मध्याह्न में दुग्ध भात के साथ जलपान त्याज्य है। रात्री में भोजन के साथ जलपान करना चाहिये।

यह उपक्रम एक दिन का है। अवशिष्ट दिनों में भी यही उपक्रम रहेगा। परिवर्तन केवल यही होगा कि प्रति दिन १-१ पीपल बढ़ाता जावे। जब १० या १२ पीपल का समय आवे तो देखलें कि रोगी किसी

विशेष कष्ट का अनुभव तो नहीं करता है। कष्ट में केवल ऊष्मा की अधिकता ही प्रतीत होगी और कोई कष्ट नहीं होगा। साधारणतः १०-१२ पीपल ही सम्प्रति रोगी महन करते हैं। कई रोगियों को २५-३० पीपल तक बढ़ाया गया है। अस्तु। १० या १२ पीपल का दिन आने पर उसी क्रम से इसे एक २ करके घटाते जाना चाहिए। इस क्रम से २० या २२ दिन में यह प्रयोग समाप्त होता है। इसी काल में आप रोगी में आपाद मस्तक विशेष परिवर्तन अनुभव करेंगे। क्षुधा की विशेष वृद्धि होगी, *उपस्थित दुःखदायी लक्षण नष्ट होंगे अथवा नष्ट* होने के समीप होंगे। एक प्रयोग समाप्त होने पर आवश्यकता रहने से पुनः दूसरा आरम्भ किया जाता है। पिप्पली प्रयोग के लिये ग्रीष्म और शरद ऋतु त्याज्य हैं। यदि ऊष्मा की अधिक वृद्धि अनुभव में आवे तो पिप्पली पान के समय १ तोला गो घृत दूध में मिला लेना चाहिये एवं भातकेसमय भी दूध में गो घृत देने से कष्ट नहीं होता।

भिन्न २ रोगों में इसे भिन्न २ विधानों द्वारा प्रयोग किया जाता है। अनेक रोगों में कुछ विशेष परिवर्तन भी करने पड़ते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन यहां अनुपयुक्त है। जो महाशय विशेष रूपेण जानना चाहें वे पत्र द्वारा पूंछ सकते हैं। सब से सरल यही विधान है।

अब यह जानना शेष रह गया है कि पिप्पली प्रयोग अनुलोम क्षय पर किस प्रकार प्रभाव करता है। एतदर्थ अनुलोम क्षय का पूर्वोक्त "उत्पत्ति क्रम और स्थान" नामक शीर्षक को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्रोतस्थ प्रत्येक उस अवयव की क्रिया को यह पुनरपि उत्तेजित करके प्रत्येक अवयव को इस योग्य बना देता है कि वह अपना कार्य सुचारु रूपेण कर सके। एवं रस ग्राह्यांकुर जो पूर्वावस्था में कफ लिप्त होने के कारण से रसाकर्षण में असमर्थ थे। अब रस आचूषण करने में सक्रिय भाग लेते हैं। रस वर्द्धन से रक्त वृद्धि होती है, तदनु उत्तरोत्तर धातुयें बढ़ती हैं और रोगी *के मुख मण्डल पर रक्त संचार के चिन्ह स्पष्ट दिखाई* देते हैं। यही शुभ लक्षण रोगी को इस महा रोग से मुक्त कराने में सहायक होता है।

## ४-शिलाजतु प्रयोग-

निःसन्देह यह भी दिव्य रसायन है। भगवान् चरक ने इसकी भूरि २ प्रशंसा की है। परन्तु दुर्भाग्य से जो शिलाजीत या उसका पत्थर सम्प्रति प्राप्त हो रहा है वह वास्तव में शिलाजीत नहीं है। वस्तुतः वह धूर्तों के मस्तिष्क की उपज है। "बाबा वाक्यं प्रमाणम्" के सिद्धांत के आधार पर ही वैद्य समुदाय उसे शिलाजीत मानकर व्यवहार कर रहा है। ऐसी वस्तु का प्रयोग जो शिलाजतु के नाम से प्राप्त हो रही है, कभी भी गुणकर सिद्ध नहीं होता।

आशा है इस *क्रिया क्रम* को अपनाते हुए वैद्य समाज अनुलोम क्षय की चिकित्सा में सफलता प्राप्त करेंगे।

卐 卐

# क्षयज उन्माद

लेखक-राजवैद्य श्री० पं० जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल, आयुर्वेद-पंचानन, प्रधान सम्पादक-सुधानिधि, प्रयाग।

## विप्रकृष्ट निदान-

साधारणतः क्षय रोग को फेफड़े की बीमारी समझा जाता है क्योंकि इसमें प्रधान रूप से फुफ्फुस में विकार होता है। ज्वर और खांसी क्षय-रोग के प्रधान लक्षण हैं। किन्तु सोचा जाय तो मालूम पड़ेगा कि क्षय में रस-रक्तादि सभी धातुओं का क्षय होता है। और उसका असर फेफड़े तक ही नहीं सारे शरीर में पहुंचता है। ज्वर का मूल उत्पादक स्थान आयुर्वेद में आमाशय माना गया है। मिथ्या आहार-विहार से आमाशयगत दोष उल्वण होकर वहां से बाहर निकल कोष्ठगत अग्नि को रस के साथ शरीर भर में फैला देते हैं, जिससे शरीर में उष्णता या ताप की वृद्धि होती है, वही ज्वर है। इस प्रकार अनुलोम क्षय का आरम्भ रस के दूषित होने से होता है। रस के उत्पन्न और दूषित होने से आंतों का दूषित होना स्वाभाविक है। रसकी पूर्ती का अभाव शरीर में तुष्टि और पुष्टि के अभाव में परिणत होता है। रस ही यकृत स्थान में पहुंचकर पांच प्रकार के पित्त और रक्त बनाने का काम करता है। रस के उत्पन्न होने से शरीर में उष्णता बढ़ती है। और उससे वायु दूषित होता है। यकृत की यथेष्ट पूर्ती न होने से रक्त यथेष्ट नहीं बनता पित्त का उद्भव यथेष्ट नहीं होता और रक्त के फेन रूप कफ का निकलना आरम्भ होता है। पोषक रूप श्लेष्मा की कमी रहती है। अतएव आमाशय के प्रधान कोष्ठ आन्न और फिर जठर की क्षीणता और दुष्टि आप ही होती है। हृदय कमजोर पड़ जाता है और फुफ्फुस में कफ का संचय होने लगता है। रस और रक्त की कमी से मांस, अस्थि, मेद, मज्जा, और शुक्र कम बनते हैं। ऐसी दशा में मज्जा कसेरुका, वातसंस्थान और संज्ञावह चेष्टावह नाड़ियों का काम यदि शिथिल हो तो मस्तिष्क का पोषण और कार्य सम्पादन क्रिया में अन्तर अवश्य ही आयेगा। ऐसी स्थिति में मानसिक विकार होना सम्भव है और प्रकृति में क्रोध, सनक, एवं विमर्श भाव का बढ़ जाना आश्चर्यजनक नहीं होगा। ऐसी दशा को ही उन्माद कहा जा सकेगा। अतएव मानना पड़ता है कि क्षयरोग के कारण उन्माद -रोग होने की सम्भावना रहती है।

## कारण-

इसी आयुर्वेदिक आधार को लेकर मानना पड़ता है कि अनुलोम या प्रतिलोम क्षय का असर उदर, मस्तिष्कावरण, लसीका ग्रन्थियों, अस्थियों, और सन्धियों में भी पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिक उसे लसीका ग्रन्थियों के क्षय के रूप में अलग मानते हैं; किन्तु है वह क्षय ही। रक्त की कमी से रक्त की संवहन क्रिया भी कम होजाती है। जहां संचय या रुकावट है वहां कोथ अनिवार्य है और कोथ के पश्चात् सड़न से कृमि-सम्भव क्रम प्राप्त है। इसीलिये वैदिक काल से क्षय को कीटाणु जन्य रोग माना जाता था। ये शरीर में उत्पन्न हुए कीटाणु थूक और कफ के

द्वारा निकलकर भोजन, वस्त्र, और श्वास संक्रमण से दूसरों में आगन्तुज क्षय उत्पन्न करने के कारण हो सकते हैं। अतएव क्षय को संक्रामक भी माना जाता है। कीटाणुजन्य (टयूवरकिलोमिस) क्षय को यक्ष्मा और फुफ्फुस जन्य (थाइसिस) क्षय को राजयक्ष्मा कहने की चाल है। मस्तिष्क पर परिणाम दोनों का हो सकता है। फेफड़ों का पुराना क्षय होने पर उसमें कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। बच्चों में पशुओं के क्षय कीटाणुओं का भी संक्रमण हो सकता है। जो ऐसे पशुओं का मांस खाने या उनका दूध पीने से होता है। बकरी में क्षय के कीटाणु पोषित नहीं हो सकते। इसलिये बकरी का दूध और मांस क्षय रोग से बचने के लिये उत्तम माना जाता है। क्षय के कीटाणु रक्त में मिलकर अपने विष से शरीर को बहुत हानि पहुंचाते हैं।

## कीटाणु–

जब कीटाणु उत्पन्न होते हैं तब शरीर में एक प्रकार की खलबली सी मच जाती है, मानसिक शान्ति नष्ट होने लगती है। जहां २ कीटाणुओं का प्रवेश होता है, वहां प्रदाह और शोथ उत्पन्न होता है। शरीर में रक्षा करने की प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, पेशियों की सहायता के लिये लसीकाकण और श्वेतरक्त कण मोर्चा लेने लगते हैं। किन्तु यदि शारीरिक शक्तियां प्रबल न हुई तो कीटाणु अपना नाशक प्रभाव विस्तार करने लगते हैं। वह विस्तार जब ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क को श्लेष्मकला को विकृत करता है तब मानसिक विकार होना अनिवार्य होजाता है। शरीर में जो शरीर संरक्षक प्रतिक्रिया होती है उसके परिणाम स्वरूप ज्वर होता है और खांसी तथा कफ के द्वारा दूषित अंश बाहर निकलने का प्रयास देखा जाता है। इस प्रकार की रोग क्षमता स्वास्थ्य सम्पादन में सहायक होती है।

## पूर्वरूप विकृति–

क्षय रोग से शरीर में कुछ विकृति ऐसी होती है जिस पर चिकित्सक को अवश्य दृष्टि रखनी चाहिये। जिनकी चुल्लिका ग्रन्थि (थायरोइड ग्लैंड) बड़ी रहती है और उससे काफी रस बनता रहता है उन पर क्षय रोग का प्रायः असर नहीं होता। इस ग्रन्थि का अपचय होने पर ही क्षय होसकता है। यकृत और आन्त्र विकृति होने से रक्तचाप कम पड़ जाता है, मांस पेशियां क्षीण हो जाती हैं, त्वचा में श्यामता आ जाती है और वृक्क इन लक्षणों के साथ विकृत हो जाते हैं। विषयेच्छा की अधिकता जनन ग्रन्थियों को क्षीण बनाती हैं, जब शरीर में रक्त की पूर्ति नहीं होती तब रूक्षता के कारण फेफड़ों की लसीका में भी रूक्षता आती है और लसीका संचालन ठीक से नहीं होता। फफड़ों को धमनी सम्बन्धी शुद्ध रक्त यथेष्ट नहीं पहुंच पाता; और फेफड़ों में श्लेष्मा संचित होने लगता है और वहीं कीटाणु भी रुक रहते हैं। साधारणतः फेफड़ों के ऊपरी भाग क्षय रोग से अधिक आक्रान्त होता है। यों भी पहली पसली के छोटी होने और उपपर्शुका के अस्थिरूप होने से वक्ष का ऊपरी द्वार छोटा होता है, जिससे वहां के रक्त और लसीका सञ्चालन में बाधा पड़ती है। जिन पर सर्दी का प्रभाव तुरन्त होता है और जिन्हें जुकाम जल्दी होता है। उनके फेफड़ों और नासा मार्ग में भी उसका प्रभाव

क्षयोन्माद

पृष्ठ २६९ देखिये
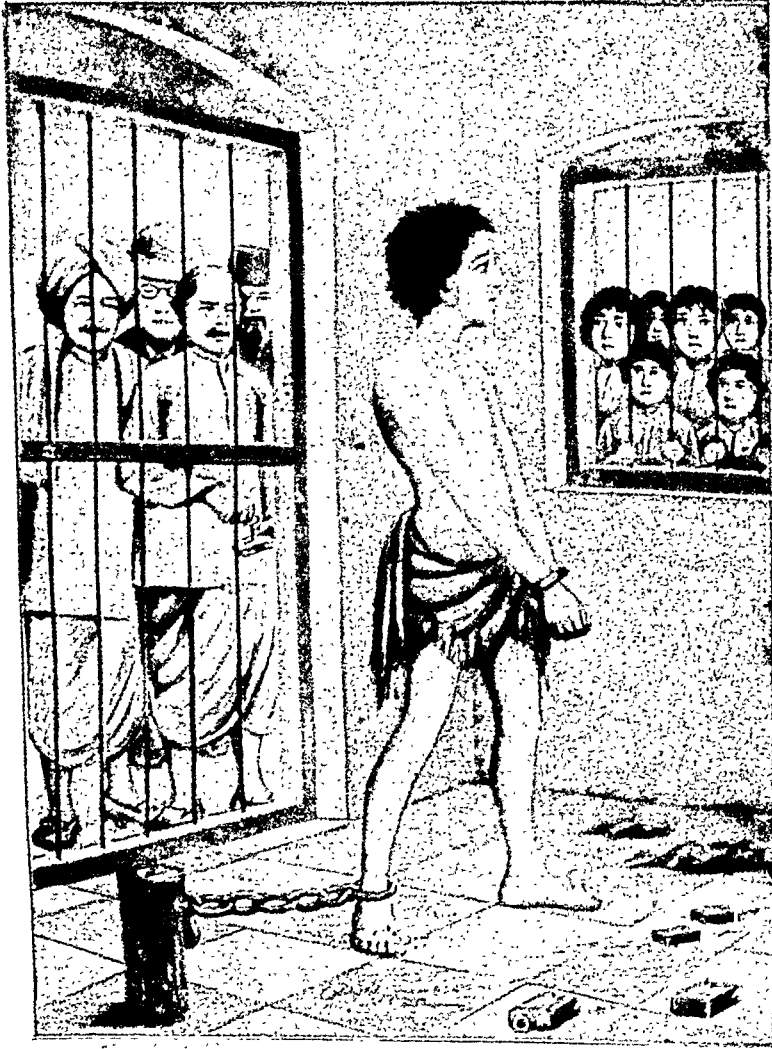
पड़ता है। नासा मार्ग का असर मस्तिष्क तक पहुंच सकता है। इन्फ्लुञ्जा, मोतीझरा, पुराना मधुमेह, चिन्ता और अधिक परिश्रम का प्रभाव भी फुफ्फुस और मस्तिष्क पर पड़ता है। दरिद्रता और पुष्ट आहार की न्यूनता भी वात संस्थान और मस्तिष्क क्षोभ में कारणीभूत होती है। किन्तु मस्तिष्कावरण में असर उग्र और पुराना क्षय होने पर भी होता है। सौ में एक ही को वातसंस्थान और मस्तिष्कावरण के क्षय का शिकार होना पड़ता है।

## लक्षण और सम्प्राप्ति–

पुराना जुकाम होने से क्षय का असर ऊपरी भागों में होता है तब नाक से जो श्लेष्मा जाता है वह चिकना लसदार, मवाद के समान या रक्त मिला हुआ, दुर्गन्धित निकलता है। मस्तिष्क पोषण की शक्ति क्षीण पड़ जाती है और बालों की कोमलता और स्निग्धता घट जाती है, यही नहीं बाल झड़ जाते और गञ्जापन उत्पन्न हो जाता है। हृदय की चाल बढ़ जाती है, कभी २ हृदय में धड़कन होने लगती है, नाड़ी की गति भी द्रुतगामी हो जाती है। यहां तक कि प्रति मिनट १५० से २०० तक हो जाती है। यह स्थिति स्थानीय नहीं रहती, कभी २ इसका दौरा सा होता है और ऐसा दौरा कभी कुछ घण्टों तक और कभी एक दो दिन तक स्थायी रहता है। हृदय फूल जाता है, यकृत विकार बढ़ जाते है, हाथ पैरों में सूजन आ जाती है। ज्यों ज्यों क्षीणता बढ़ती है और कीटाणु विष प्रबल होता जाता है त्यों २ नाड़ी की गति धीमी होने लगती है। रक्तचाप कम पड़ता जाता है। बल्कि रक्तचाप की कमी तो क्षय रोग मे आरम्भ से ही होती है। इसकी सम्प्राप्ति में रक्त संचलन क्रिया बन्द होजाती है और रक्त में रोग कीटाणु हो जाते हैं किंतु रक्त के श्वेत कण निर्बल नहीं होते इसलिये रक्त में प्रायः विकार नहीं होता।

जब असर वात संस्थान पर पड़ता है तब मानसिक विकृति के लक्षण भी मिलने लगते है। वात नाड़ी और स्नायु मण्डल में दुर्बलता आने लगती है। ऐसी दशा में डाक्टर लोग न्यूरेस्थेनियां का सन्देह करने लगते हैं। सुषुम्नाकाण्ड भी कमजोर पड़ जाता है, जिससे शिर और सुषुम्ना में शूल होने लगता है। स्वभाव में चिड़चिड़ापन आजाता है, नींद कम आने लगती है, हृदय में धड़कन होती रहती है, चित्त में उदासी और ग्लानि का बोध होता है, सवेरे उठने पर थकी उदासी और क्लान्ति बनी रहती है। पिंगला नाड़ी में भी विकार बढ़ने से मुख मण्डल के एक ओर चमक अधिक रहती है और उधर का भाग कुछ गरम भी रहता है। नाक का नथुना फूला हुआ सा दिखता है। यहीं नहीं आंख की पुतली फूल जाती है। अंसफलकों में वेदना और वहां दबाने तथा ठोकने से खांसी आने लगती है। गर्दन की रीढ़ में वेदना अधिक रहती है। खांसने और छींकने से दर्द बढ़ता है। कर्णमूलिका मे वायु विकार मालूम पड़ता है। उपद्रव ज्यों २ गहरे होते जाते हैं त्यों २ मानसिक विकार भी बढ़ते जाते हैं, अन्त में उन्हें उन्माद का स्वरूप मिल जाता है।

## क्षयज उन्माद–

जब मानसिक विकार बढ़ जाता है और उसे उन्माद का स्वरूप मिल जाता है तब रोगी को ऊपर की सी वेदना का अनुभव होने लगता है। ऐसी

तैयार किया था, किन्तु अनुभव के पश्चात् यह उतना उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ। होमियोपैथी वालो ने भी क्षयरोगी के कफ से एक प्रकार का इन्जेक्शन तैयार किया है। किन्तु यह उपाय अभी सर्व सम्मति लाभदायक नहीं बन सका है। कीटाणु मारने के लिये भी डाक्टर लोग प्रयत्न करते हैं। किन्तु यह उपाय अभी तक सफल नहीं हुआ। हा, अपने यहा की पारद कज्जली और कपूर तथा स्वर्णयुक्त औषधिया कीटाणुओं की वृद्धि को रोकती और वर्तमान कीटाणुओं को निस्तेज बनाती हैं। भोजन में लहसुन का प्रयोग होते रहने से कीटाणु नष्ट होते हैं। रोगी के निवास स्थान में नीम, चंदन अगर, नागरमोथा, गूगल, लोहवान आदि जलाना चाहिये।

## औषधि–

इस रोग में सुवर्ण ताम्र, अभ्रक, मृगशृङ्ग, मुक्ता मौक्तिक, शंख, प्रवाल, कपर्दी औषधियुक्त औषधिया रोग प्रतीकार में सहायक होती हैं। अड़ूसा, च्यवनप्राश, खदिरसार, सितोपलादि एवं वंशलोचन युक्त औषधिया भी समयानुसार काम देती हैं। ज्वर, खासी और शक्ति संरक्षण के लिये सुवर्ण मालती वसन्त, वसन्त कुसुमाकर, मकरध्वज आदि देवे। मस्तिष्क शोधन के लिये चिन्तामणि चतुर्मुख, सारस्वत चूर्ण, सारस्वतारिष्ट का प्रयोग करे। निद्रा के लिये सर्पगन्धा बहुत लाभदायक है, यह उन्माद नाशक भी है। आतों के दोष दूर करने और यकृत प्लीहा के लिये आरोग्यवर्धिनी रस का प्रयोग उत्तम है। क्षयज उन्माद प्राय रोग की परिपक्वावस्था में होता है। अतएव मस्तिष्कावरण में प्रदाह न होने पावे और श्लैष्मिक कला शुद्ध रहे इसके लिये मुक्ता, प्रवाल, शुक्ति जैसी स्फटिक द्रव्य वाली वस्तुयें बराबर देते रहना चाहिये। सुवर्ण भस्म की क्रिया मस्तिष्क में अच्छी होती है। ज्वर से शरीर में ग्लानि बढ़ती है, अत एव ज्वर नाशक प्रयोग और सुदर्शन अर्क तथा अमृतारिष्ट का भी यथावश्यक उपयोग करना चाहिये। यदि रोग का आरम्भ धातु क्षीणता से हुआ हो तो—

सवेरे—सुवर्णराज वंगेश्वर आधी रत्ती, यशद भस्म १ रत्ती, सुवर्ण भस्म आधी रत्ती, अभ्रक भस्म २ चावल, प्रवाल भस्म १ रत्ती, गुर्च सत्व २ रत्ती, और शिलाजीत १ रत्ती मिलाकर मिश्री से लें।

दोपहर में—द्राक्षारिष्ट लें।

शाम को—सुवर्ण भस्म आधी रत्ती, सुवर्ण माक्षिक भस्म आधी रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, शुद्ध शिलाजीत आधी रत्ती, और गुर्च सत्व १ रत्ती, लवङ्गादि चूर्ण १ माशा मिलाकर मलाई में रख लें।

सोते समय—सर्पगन्धा ३ माशे, मुनक्का बीज निकालकर १२ दाने गुलकन्द १ तोला पानी में पीस छ न कर पीवें।

यदि ज्वर और खासी भी हो तो—

सवेरे—राजमृगाङ्क आधी रत्ती, लवङ्गादि चूर्ण १॥ माशे प्रवाल भस्म १ रत्ती, अकीक पिष्टी मोहरा आधी रत्ती मिलाकर मधु से लें।

दोपहर को—सुवर्ण मालती वसन्त १ रत्ती, सितोपलादि १॥ माशे मधु मे लेकर ऊपर से

शाम को—श्रृङ्गाराभ्र आधी रत्ती, मुक्ता भस्म आधी रत्ती. द्राक्षादि चूर्ण या सितोपलादि १।। माशे च्यवनप्राश के साथ लें। अथवा—

मुक्ता भस्म आधी रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती अभ्रक भस्म चौथाई रत्ती, गुर्च सत्व २ रत्ती और सितोपलादि १ माशे प्रति बार सवेरे दोपहर शाम इतनी ही दवा और च्यवनप्राश १ तोले तक लेवे। रात में गाय या भैंस का दूध पीवे।

यदि क्षय के साथ ही मानसिक आघात के कारण मस्तिष्क विकृति हो, शोक, महत्वाकांक्षा की अपूर्ति, विपरीत परिस्थिति में मन के विरुद्ध मन मार कर रहना पड़ता हो, मानसिक विचारों को कहकर बतलाने की सुविधा न मिलती हो। मानसिक त्रास सहन करना पड़ रहा हो, बड़े २ विचार, महान मनोरथ, उच्च अभिलाषायें रहते हुए भी उनकी पूर्ती की कोई आशा न होने से मनोभङ्ग हुआ हो, मन को शान्ति न मिलती हो, किसी भी परिस्थिति मे समाधान न मालूम पड़ता हो, मानीपुरुष को आत्माभिमान को धक्का लग रहा हो, उच्च शिक्षा जनित महत्वाकांक्षा की पूर्ती न हो रही हो, निराशा से हृदय बैठ गया हो, इच्छानुरूप विवाह न हो सकने से निराशा उत्पन्न हुई हो तो ऐसे उन्माद में—

अकीक भस्म एक रत्ती, मौक्तिक भस्म एक रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती मकरध्वज १ रत्ती, अभ्रक भस्म आधी रत्ती, सबकी २ पुड़िया बना सवेरे शाम सेव के मुरब्बे में रखकर खिलावे।

यदि साथ ही मन्दाग्नि भी हो या शिरो-वेदना रहती हो तो—

सवेरे—महालक्ष्मी विलास, सितोपलादि मधु के साथ देवे।

शाम को—बृहत् वातचिन्तामणि घी के साथ चाट कर ऊपर से दूध पीवे।

प्रलाप और वात विकार भी हो तो—

| | | |
|---|---|---|
| ७३-तगर | पित्तपापड़ा | कुटकी |
| अमलतास का गूदा | | नागरमोथा |
| खस | असगन्ध | ब्राह्मी |
| मुनक्का | | लालचन्दन |
| दशमूल | | शंख पुष्पी |

—क्वाथ करके ऊपर के योग के साथ दोनों समय देवे।

यदि दृष्टि नाश, अपतानक के से आक्षेप, संज्ञा नाश, गले में घुरघुराहट आदि होता हो तो एक समय चिन्तामणि चतुर्मुख और एक समय वह वातचिन्तामणि सारस्वतारिष्ट के साथ दे। और

| | | |
|---|---|---|
| ७४-हरीतकी | बच | रास्ना |
| अमलवेत | | सेंधा नमक |

—क्वाथ कर घी मिलाकर पिलावे।

रोगी को जो भी दवा दीजाय वह ऐसी हो जो कफ को न बढ़ावे। श्लैष्मिककला में शोथ न पैदा करे। वह औषधि सप्त धातुओं को बल देने वाली हो, दीपन और बृंहण हो। विशेष बात यह है कि स्रोतसों के मुख खोलने वाली हो। यह उद्देश्य सुवर्ण, अभ्रक, और स्वर्ण माक्षिक से पूरा होता है। जिस धातु का विशेष क्षय हुआ हो उसके संवर्धन का प्रयत्न करे। रस क्षय में मांस रस और औषधि सिद्ध घृत. रक्त क्षय में यकृत को बल देने वाले लोह, अभ्रक, शंख, शुक्ति, मुक्ता आदि औषधि द्रव्य। मांस क्षय में मांस, गेहूं,

दशा में प्रलाप भी होने लगता है। ऐसा क्षयज उन्माद बालकों में भी देखा जाता है। ऐसे लोगों का चित्त प्रसन्न नहीं रहता, वह हंसता बहुत कम है, हां अकारण रोने अवश्य लगता है। और कभी कभी भागने लगता है. नींद कम आने लगती है, मस्तिष्कावरण के क्षयज उन्माद में रोगी को सवेरे उठना कठिन पड़ता है। ऐसे रोगी को पुरानी आदतें बदल जाती हैं, किन्तु रोगसे आराम होने पर फिर पुरानी आदतें आ जाती हैं। बीमारी की दशा में दयालू मनुष्य कठोर हृदय, उदार मनुष्य कंजूस, और साहसी भीरु बन जाता है। नैराश्यवाद अधिकता से आ जाता है। कभी २ आशावादिता हद से अधिक हो जाती है। कभी २ कामोन्माद से लक्षण दीखते हैं, लोक लज्जा का का ध्यान रोगी को बहुत कम रहता है। ऐसे रोगी स्वार्थी और आप मतलबी हो जाते हैं। अपनी ही बात चीत अधिक करते हैं। अपनी चिन्ता छोड़ आश्रित और परिवार वालों के प्रति लापरवाही प्रकट करने लगते हैं। रोगी स्वयं बढ़िया भोजन करना चाहता है, अच्छे कपड़े पहिनना चाहता है। लोगों से अपनी सुख सुविधा के अनुचित प्रस्ताव प्रकट करता है और उनके पूर्ण करने पर भी कृतघ्नता प्रकट नहीं करता। परिचारकों और चिकित्सकों को इस मनोवृत्ति का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है, अन्यथा वे भूल कर सकते हैं। ऐसे रोगी वहमी और शक्की हो जाते हैं। कोई २ तो अपने गुप्त रहस्य भी प्रकट कर देते हैं। जो धारणा रोगी कर बैठता है, उसी की जिद करता है। उसकी मनक के अनुसार झूठा उपचार करने पर भी उसे सन्तोष हो जाता है और वह लाभ का अनुभव करता है। जब ज्वर अधिक होने पर भी उपद्रव रहने पर भी रोगी समझे कि मैं आराम हो गया हूं अब मुझ में कोई बीमारी नहीं है तब समझें कि रोग असाध्य हो गया है और अब इसकी मृत्यु हो जायगी। ऐसी दशा में वह चिकित्सक की आज्ञाओं की उपेक्षा करने लगता है। क्षयज उन्माद में कभी कभी ऐसी विलक्षणता दीखती है कि मन्द बुद्धि मनुष्य की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाता है। तरुण और विद्वान रोगियों की प्रतिभा विलक्षण बढ़ जाती है। कविता करने, लेख लिखने और कल्पना शक्ति की दौड़ की अभिरुचि बढ़ जाती है। कभी चित्तोद्वेग कहता है, कभी काम करने में खूब मन लगता है। मानसिक उत्तेजना बढ़ी रहती है, उनकी स्मरण शक्ति, तर्क शक्ति और शीघ्र निर्णय करने की शक्ति बढ़ जाती है। एक प्रकार के मद की दशा मदात्यय की भी बनी रहती है। क्षय रोग ग्रस्त माता पिता की सन्तान में बिना क्षय के भी उन्माद हो सकता है। ऐसी दशा में फुफ्फुस विकार के बिना उन्माद के लक्षण आ सकते हैं। क्षयज उन्माद को विमर्शोन्माद के अन्तर्गत समझना चाहिये। क्योंकि इसमें मानसिक वृत्ति या तो अवसाद ग्रस्त होती है या उत्तेजना युक्त होती है। अवसाद युक्त अवस्था में विमर्शोन्माद (मेलाङ्कोलिया) और गृह विरहोन्माद (नष्टालजिया) के लक्षण रहते हैं और उत्तेजना युक्त अवस्था में एकाश्रयोन्माद (मेनिया) के लक्षण रहते हैं। ऐसा रोगी किसी एक विषय में उन्माद का सा व्यवहार करता है, अन्य बातों में वह भले चंगे मनुष्य का सा व्यवहार करता है। दौर्बल्य बढ़ने से मानसिक क्षीणता भी बढ़ती है, जिससे बुद्धि भ्रंश या डिमेनशिया के लक्षण आ-जाते हैं, किन्तु प्रकोपावस्था में प्रलाप बढ़ जाता है

और उस समय बुद्धि की प्रखरता दृष्टिगत होने लगती है। इच्छा शक्ति रोगी की विकृत हो जाती है जिससे उसमें भोजन की अभिरुचि, शान शौकत और स्वार्थी भाव बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था के उन्माद को पश्चिमी वैज्ञानिक इनसैनिटी कहते हैं। अलीक भ्रम की अवस्था भी ऐसे रोगी में रहती ही है। रोग परिणत अवस्था में आने पर क्षिप्तता या उन्माद की अवस्था कही जाती है। ऐसे उन्माद का मूल कारण प्रायः क्षय रोग होता है; इसीलिये इसे क्षयज उन्माद या थाईसिकैल इनसैनिटी कहते हैं।

## चिकित्सा—

चिकित्सा सूत्र—

क्षय जन्य उन्माद को चिकित्सा शास्त्र निष्णात और अनुभवी कुशल चिकित्सक ही कर सकता है। इसमें क्षय रोग नाशक उपाय तो मूल्य भित्ति रूप से रहने ही चाहिये, साथ ही उपद्रव रूप से जो व्याधि उग्र रूप में हो उसे दबाने का भी प्रयत्न होना चाहिये। इसके साथ ही मस्तिष्क शोधन और मानसिक शांति का उपाय अनिवार्य रूप से रहना चाहिये। यह सर्व मान्य सिद्धांत है कि क्षय रोग और मस्तिष्क विकार दोनों के लिये शुद्ध जल वायु के स्थान में रखना सुरक्षित उपाय है। किसी शुद्ध जलवायु के समुद्र किनारे के स्थान में अथवा पर्वत के अनुष्ण शीतल किन्तु अनूप दोष से वर्जित स्थान में रोगी को रखना चाहिये। भोजन पौष्टिक सुरुचिपूर्ण, स्निग्ध और सुस्वादु देना चाहिये। शरीर के श्वेत रक्तकण सबल और सक्रिय रहें, इसके लिए पर्वतीय निवास सहायक होगा। मांस, रस, दूध, मक्खन, घी का आहार में आवश्यक उपयोग होना चाहिये। रोगी के कमरे में स्वच्छ वायु, प्रकाश, और धूप आने की व्यवस्था रहनी चाहिये। रोगी एक ऐसे बर्तन में थूके जिसमें कीटाणु नाशक द्रव्य या चूना पड़ा हो। रोगी के कपड़े नित्य धूप में डाले जाया करें। फलों में टमाटर, नारियल का पानी, नारङ्गी, अनार, पपीता, अंगूर, खजूर, आम, अखरोट, केले आदि का यथावश्यक व्यवहार रखें। मनोहर कथा, वार्ता, गायन, नाच, आदि मनोरंजन के साधन अवश्य रहने चाहिये। आहार सुपाच्य और हलका रहना चाहिये। भोजनोपरान्त एक तोला द्राक्षारिष्ट लेना अच्छा होगा। यह ध्यान रखें कि रोगी का शारीरिक बल घटने न पावे। आवश्यकता हुए बिना रोगी को लंघन न करने दें। विरेचन न दे किन्तु ध्यान रखे कि मल शुद्धि होती रहे। इतना न खावे कि अजीर्ण होजाय। रोगी के शरीर पर कड़ी धूप या कड़े वायु का झोंका अथवा वर्षा की फुहारें नहीं पड़ने देना चाहिये। शाक तरकारियों में कटहल, केला, परवर, ककड़ी, खीरा, पेठा, लहसुन, प्याज सूरण, आलू, भूमिकूष्माण्ड, नरम मूली, सहिंजन मुनगा, चौराई आदि का उपयोग कर सकते हैं। स्मरण रहे कि राई, नारियल, वनस्पति घी, हींग, कुंदुरू, कद्दू और कसैले पदार्थ, खट्टे और तेल के पदार्थ, क्षार, परिश्रम, जागरण, मैथुन वेग विधारण, आंजन, स्वेदन और साहस कर्म से रोगी को बराबर बचाता रहे।

## इन्जेक्शन—

डाक्टर लोग आजकल प्रायः सभी रोगों में सूचीवेध इन्जेक्शन देकर रोग आराम करने का प्रयत्न करते हैं। सन १९९० में डाक्टर काक ने क्षय रोगी के कफ के कीटाणुओं को बढ़ाकर इन्जेक्शन

तैयार किया था, किन्तु अनुभव के पश्चात् यह नतना उ योगी नहीं सिद्ध हुआ । होमियोपेथी वालों ने भी क्षयरोगी के कफ से एक प्रकार का इन्जेक्शन तैयार किया है। किन्तु यह उपाय अभी सर्व सम्मति लाभदायक नहीं बन सका है। कीटाणु मारने के लिये भी डाक्टर लोग प्रयत्न करते हैं। किन्तु यह उपाय अभी तक सफल नहीं हुआ। हा, अपने यहा की पारद कज्जली और कपूर तथा स्वर्णयुक्त औषधिया कीटाणुओं की वृद्धि को रोकती और वर्तमान कीटाणुओं को निस्तेज बनाती हैं। भोजन में लहसुन का प्रयोग होते रहने से कीटाणु नष्ट होते हैं। रोगी के निवास स्थान में नीम, चंदन अगर, नागरमोथा, गूगल, लोहवान आदि जलाना चाहिये।

## औषधि–

इस रोग में सुवर्ण ताम्र, अभ्रक, मृगशृङ्ग, मुक्ता शौक्तिक शख, प्रवाल, कपर्दी औषधियुक्त औषधिया रोग प्रतीकार में सहायक होती हैं। अडूसा, च्यवनप्राश, खदिरसार, सितोपलादि एव वशलोचन युक्त औषधिया भी समयानुसार काम देती हैं। ज्वर, खासी और शक्ति सरक्षण के लिये सुवर्ण मालती वसन्त, वसन्त कुसुमाकर, मकरध्वज आदि देवे। मस्तिष्क शोधन के लिये चिन्तामणि चतुर्मुख, सारस्वत चूर्ण, सारस्वतारिष्ट का प्रयोग करे। निद्रा के लिये सर्पगन्धा बहुत लाभदायक है यह उन्माद नाशक भी है। आतों के दोष दूर करने और यकृत सीहा के लिये लोकनाथ रस का प्रयोग उत्तम है । क्षयज उन्माद प्राय रोग की परिपक्वावस्था में होता है । अतएव असाध्य नहीं तो कष्ट साध्य अवश्य रहता है । मस्तिष्कावरण में प्रदाह न होने पावे और श्लैष्मिक कला शुद्ध रहे इसके लिये मुक्ता, प्रवाल, शुक्ति जैसी खटिक द्रव्य वाली वस्तुयें बराबर देते रहना चाहिये। सुवर्ण भस्म की क्रिया मस्तिष्क में अच्छी होती है। ज्वर से शरीर में क्रान्ति बढ़ती है, अत एव ज्वर नाशक प्रयोग और सुदर्शन अर्क तथा अमृतारिष्ट का भी यथावश्यक उपयोग करना चाहिये। यदि रोग का आरम्भ धातु क्षीणता से हुआ हो तो—

सवेरे—सुवर्णराज वगेश्वर आधी रत्ती, यशद भस्म १ रत्ती, सुवर्ण भस्म आधी रत्ती, अभ्रक भस्म २ चावल प्रवाल भस्म १ रत्ती गुर्च सत्व २ रत्ती, और *शिलाजीत १ रत्ती मिलाकर मिश्री* से लें।

दोपहर में—द्राक्षारिष्ट लें।

शाम को—सुवर्ण भस्म आधी रत्ती, सुवर्ण माक्षिक भस्म आधी रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती शुद्ध शिलाजीत आधी रत्ती, और गुर्च सत्व १ रत्ती, लवङ्गादि चूर्ण १ माशा मिलाकर मलाई में रख लें।

सोते समय—सर्पगन्धा ३ माशे मुनक्का बीज निकालकर १२ दाने गुलकन्द १ तोला पानी में पीस छ न कर पीवें।

यदि ज्वर और खासी भी हो तो—

सवेरे—राजमृगाङ्क आधी रत्ती, लवङ्गादि चूर्ण १॥ माशे प्रवाल भस्म १ रत्ती, जवाहर मोहरा आधी रत्ती मिलाकर मधु से लें।

दोपहर को—सुवर्ण मालती वसन्त १ रत्ती, सितोपलादि १॥ माशे मधु से लेकर ऊपर से द्राक्षारिष्ट पीवें।

शाम को—शृङ्गाराभ्र आधी रत्ती, मुक्ता भस्म आधी रत्ती. द्राक्षादि चूर्ण या सितोपलादि १॥ माशे च्यवनप्राश के साथ लें। अथवा—

मुक्ता भस्म आधी रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती अभ्रक भस्म चौथाई रत्ती, गुर्च सत्व २ रत्ती और सितोपलादि १ माशे प्रति बार सवेरे दोपहर शाम इतनी ही दवा और च्यवनप्राश १ तोले तक लेवे। रात में गाय या भैंस का दूध पीवे।

यदि क्षय के साथ ही मानसिक आघात के कारण मस्तिष्क विकृति हो, शोक, महत्वाकांक्षा की अपूर्ति, विपरीत परिस्थिति में मन के विरुद्ध मन मार कर रहना पड़ता हो, मानसिक विचारों को कहकर बतलाने की सुविधा न मिलती हो। मानसिक त्रास सहन करना पड़ रहा हो, बड़े २ विचार, महान मनोरथ, उच्च अभिलाषायें रहते हुए भी उनकी पूर्ती की कोई आशा न होने से मनोभङ्ग हुआ हो, मन को शान्ति न मिलती हो, किसी भी परिस्थिति में समाधान न मालूम पड़ता हो, मानीपुरुष को आत्माभिमान को धक्का लग रहा हो, उच्च शिक्षा जनित महत्वाकांक्षा की पूर्ती न हो रही हो, निराशा से हृदय बैठ गया हो, इच्छानुरूप विवाह न हो सकने से निराशा उत्पन्न हुई हो तो ऐसे उन्माद में—

अकीक भस्म एक रत्ती, मौक्तिक भस्म एक रत्ती, प्रवाल भस्म २ रत्ती मकरध्वज १ रत्ती, अभ्रक भस्म आधी रत्ती, सबकी २ पुड़िया बना सवेरे शाम सेब के मुरब्बे में रखकर खिलावे।

यदि साथ ही मन्दाग्नि भी हो या शिरोवेदना रहती हो तो—

सवेरे—महालक्ष्मी विलास, सितोपलादि मधु के साथ देवे।

शाम को—बृहत् वातचिन्तामणि घी के साथ चाट कर ऊपर से दूध पीवे।

प्रलाप और वात विकार भी हो तो—

७३–तगर पित्तपापड़ा कुटकी
अमलतास का गूदा नागरमोथा
खस असगन्ध ब्राह्मी
मुनक्का लालचन्दन
दशमूल शंख पुष्पी

—क्वाथ करके ऊपर के योग के साथ दोनों समय देवे।

यदि दृष्टि नाश, अपतानक के से आक्षेप, संज्ञा नाश, गले में घुरघुराहट आदि होता हो तो एक समय चिन्तामणि चतुर्मुख और एक समय वह वातचिन्तामणि सारस्वतारिष्ट के साथ दे। और

७४–हरीतकी बच रास्ना
अमलवेत सेंधा नमक

—क्वाथ कर घी मिलाकर पिलावे।

रोगी को जो भी दवा दीजाय वह ऐसी हो जो कफ को न बढ़ावे। श्लैष्मिककला में शोथ न पैदा करे। वह औषधि सप्त धातुओं को बल देने वाली हो, दीपन और बृंहण हो। विशेष बात यह है कि स्रोतसों के मुख खोलने वाली हो। यह उद्देश्य सुवर्ण, अभ्रक, और स्वर्ण माक्षिक से पूरा होता है। जिस धातु का विशेष क्षय हुआ हो उसके संवर्धन का प्रयत्न करे। रस क्षय में मांस रस और औषधि सिद्ध घृत, रक्त क्षय में यकृत को बल देने वाले लोह, अभ्रक, शंख, शुक्ति, मुक्ता आदि औषधि द्रव्य। मांस क्षय में मांस, गेहूं,

च्यवनप्राश, भूमिकूष्माण्ड, मेद क्षय में च्यवनप्राश, मत्स्यवसा, घृत आदि। अस्थि क्षय में केकडे के मास का सालन, प्रवाल भस्म, मृगशृङ्ग भस्म आदि, मज्जा क्षय में मक्खन, बादाम, आमलकी रसायन च्यवनप्राश और शुक्रक्षय में शतावरी, दूध, वङ्गभस्म, लक्ष्मी विलास घृत आदि का उपयोग स्वतन्त्र या किसी औषधि के साथ करना चाहिये। सुवर्ण, अभ्रक, सूतशेखर, महालक्ष्मी विलास, राज मृगाङ्क, सुवर्ण मालती वसन्त, स्वर्ण घटित लोकनाथ, स्वर्ण पर्पटी, वसन्त कुसुमाकर, चिंतामणि चतुर्मुख, हिरण्यगर्भ मुक्तापचक आदि अवस्थानुसार देना चाहिये।

साराश यह है कि मानसिक स्थिति का सदा ध्यान रखे। यद्यपि क्षय रोग शारीरिक व्याधि है तथापि उसका मानसिक अधिष्ठान भी है। यद्यपि धातु वृद्धि से मनोबल भी बढता है तथापि कभी २ मानसिक विकार प्रबल हो तो धातु वृद्धि होने पर भी मानसिक दोषों की शांति नहीं होती। उल्टा मानसिक दोष से रस रक्तादि का क्षय और शोथ ही होता है। केवल औषधिया द्वारा ही नहीं, किन्तु "गीर्वाणमविज्ञान" आदि उपाय से भी मानस दोषों की शान्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

## निद्रा–

इस बात का विशेष ध्यान रहे कि रोगी को नित्य नियमित निद्रा ८ घण्टे आती रहे। जिन कारणों से नींद न आती हो उनका पता लगाकर दूर करना चाहिये। क्योंकि निद्रा न आने से रोग का जोर बढता है और शारीरिक शिथिलता तथा मानसिक ग्लानि में वृद्धि होती है। रोगी के पास ऐसी कोई चर्चा न की जाय जिससे वह चिन्तित हो। उसके रोग की भयङ्करता की बातें उसके सामने बिलकुल न की जायें। धार्मिक चर्चा, आत्म चिन्तन, पूजापाठ आदि में रोगी का मन जहा तक लगे लगने देना चाहिये। जिस से दिमाग में जोर पड़े ऐसे गहन विचार उसके सामने उपस्थित न करे। रोगी को स्वय पढ़ने का अवसर कम देना चाहिये। दूसरा मनुष्य पढकर सुनावे। स्वय अधिक पढ़ने से नेत्रों पर और मस्तिष्क पर भार पडता है। रोगी को आख मूदकर कुछ देर तक पड़ा रहने दे तो निद्रा आ जावेगी। हरा ताजा प्याज भोजन के साथ देवे। सुवर्ण मात्तिक भस्म और सूतशेखर मुरब्बे में रखकर देवे, इससे नींद आजावेगी। चिन्ता और बेचैनी को सान्त्वना देकर दूर करे। निराशा की जगह आशावाद उत्पन्न करे। कभी २ खासी के कारण भी नींद टूट जाती है। इसलिये खासी आराम करने का उपाय करे। क्षयरोगी को प्राय रात में पसीना आता है, पसीने से शरीर तर हो जाता है और पहनने के कपडे तक गीले हो जाते हैं, इससे भी निद्रा में बाधा पड़ती है। वनकण्डे की राख में थोड़ी सींगिया वा चूर्ण मिलाकर धूरा करने से अथवा अरहर की दाल तवे में कल्हारकर पीस कपड़ छान कर मालिश करने से पसीना रुक जाता है। बिस्तर पर अलसी बिछाकर उसके ऊपर एक बारीक कपड़ा डालें और उसी के ऊपर रोगी को सुलावें तो पसीने में रुकावट होती है। क्षयरोग में फेफड़ों की खराबी से भी श्वास में रुकावट और निद्रा में बाधा पड़ती है। अतएव फेफड़ों के लिये च्यवन

[ शेषाश पृष्ठ २७६ पर देखें ]

# अन्त्रक्षय और उसकी स्वानुभूत चिकित्सा

लेखक—श्री० पं० नागेशदत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य जालना।

आयुर्वेद शास्त्र में त्रिलक्षण क्षय, षड्लक्षण क्षय एकादश लक्षण क्षय, लक्षण विशेष से क्षय के तीन भेदों का वर्णन है। 'सर्वधातु क्षयाच्चैव क्षय इत्यभिधीयते' जिस व्याधि में सभी धातुओं का क्षय हो उसे क्षय कहते हैं। वह क्षय अनुलोम तथा प्रतिलोम क्रम से होती है। शास्त्र में रोग की गति से अवयव विशेष का क्षय होता है, उससे स्थान विशेष मे क्षय विशेष का संज्ञाकरण नहीं हुआ है। अपितु प्रत्येक रोग की मीमांसा करने की यह पद्धति है।

> संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्।
> व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति रोगाणां सभवेद् भिषग्॥

दोषोंका संचय तथा उनका प्रकोप उनका प्रसर उनका संस्थान संश्रय अर्थात् स्थान विशेषका आश्रय उनकी व्यक्ति तथा भेदों को जो जानता है, अर्थात् इस प्रकार से जो रोगों को पहिचानता है वह श्रेष्ठ वैद्य है। इस प्रकार से क्षय रोग के स्थान संश्रय का वर्णन किया जावे तो जिन २ स्थानों को दोष दूषित करते हैं, जिन अवयवों की विशेष रूप से विकृति होती है जिन धातुओं का विशेष रूप से क्षय होता है, उन स्थान विशेष की विकृति से फुफ्फुस क्षय, एवं फुफ्फुसाक्रांत क्षय, उभय फुफ्फुसाक्रांत क्षय, अस्थि क्षय, अन्त्र क्षय, कटिबन्ध क्षय आदि नामों का जन्म होता है।

प्रकृत मे अन्त्र क्षय का वर्णन करना है। फुफ्फुस क्षय जिन्हें होता है, प्रायः अन्त्र क्षय उन्हें होते देखा जाता है। क्षयी मनुष्य के फुफ्फुस जब दुष्ट हो जाते हैं, तब रोगी खांसी, ज्वर और रात्रिको स्वेद से पीड़ित रहने लगता है। खांसी बहुत आती है, कफ को बार २ थूक कर निकालना पड़ता है, थूके बगैर कफ के चैन नहीं मालूम होता। कभी २ रोगी थूक को निगल जाता है. किन्हीं रोगियों को यह कल्पना होती है कि कफ शरीर से निकला जा रहा है, इसी से कमजोरी बढ़ रही है, अतः रोगी कफ को थूकना बंद कर निगल जाता है। और ऐसा रोज करने लगता है। वह दुष्ट कफ आमाशय से लघ्वन्त्र मे जाता है, लघ्वन्त्र और बृहदन्त्र की जहां सन्धि होती है, उसके पूर्व लघ्वन्त्र मे अन्न द्रव्य को अधिक काल तक ठहरना पड़ता है। अतः दोष द्रव्य वहां की लसीका वाहिनियों को दूषित कर देता है, जिस से रोगी के अन्त्र मे व्रण हो जाते हैं। कमजोरी बढ़ जाती है, अन्न का पचन नहीं होता, ज्यादा दस्त होने लग जाते हैं, मल में आंव आने लगता है, पेट में शूल होना है। स्निग्ध और गुरु भोजन करने पर दस्त ज्यादा होने लगते हैं, रोगी अधिक गलजाता है। इससे रोगी घी दूध भारी पदार्थों से चिढ़ने लगता है। अन्त्र क्षयी के मुंह में प्रायः छाले हो जाते हैं, जीभ लाल हो जाती है, नेत्र फीके चेहरा उदास, मध्यान्ह मे बेचैनी और ज्वर बढ़ने लगता है, शाम को हाथ-पांव मे खिंचावट और दर्द होता है। रात्रि मे खांसी ज्यादा आती है, पेट कड़ा और रूखा हो जाता है, रङ्ग पीला और छोटी २ फुन्सियां हो जाती हैं। अतिसार के कारण रोगी

निर्बल और सुप्त हो जाता है। साधारण क्षय से अन्त्र क्षय में शीघ्र ह्रास होता है क्योंकि—

'सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्'।

धातु क्षय के साथ-साथ मल क्षय होते रहने से रुग्ण शीघ्र नष्ट हो जाता है। पुरुष को अन्त्र क्षय रहने पर बहुमूत्र और निद्रा नाश के उपद्रव हो जाते हैं। स्त्रियों को विशेष प्रदर हो जाता है, जब कि अन्त्र में व्रण हो जाते हैं तब रोगी को पान खाने से भी शिर में पसीना, प्यास, बेचैनी हो जाती है। हिंग्वष्टक में हींग या अधिक नमक क्षार के चूर्ण देने से रोगी को कष्ट होता है।

गत वर्ष में मेरे पास दो रोगी ऐसे आये जिनका चिकित्सोपचार वैद्यों के समक्ष उपस्थित करता हूं।

प्रथम—

नाम नन्दू आयु ३२ वर्ष शरीर अत्यन्त कृश हो चुका था, ज्वर रोजाना १००-१०३ सायंकाल में हो जाता था, मध्यान्ह में बेचैनी बढ़ जाती थी, खांसी में पीला दुर्गन्धि युक्त कफ आता था, कभी कभी रक्त के लाल २ कण कफ में आते थे। दस्त दिन रात में १६-१७-१८ तक हो जाते थे। डाक्टरी इलाज पूर्व में दो महीने तक हो चुका था। रक्त की परीक्षा कर डाक्टर ने टी० बी० प्रमाणित किया था। ग्रीष्म ऋतु थी, उपचार आरम्भ हुआ। रोगी को अन्न बन्द कर केवल दूध पर रखा गया, पानी की जगह मौसम्बी का रस दिया जाता था। रोगी को आरम्भ में चन्दनादि लौह ६ रत्ती, अभ्रक शत पुटी ३ रत्ती का मिश्रण ३ पुड़िया ३ समय दिया जाने लगा।

ता० १३-५-४४ से १४-१५-१६-१७ तक यही क्रम रहा। ज्वर क्रमशः घटने लगा, ९९ टेम्परेचर रहने लगा। ता० १८ से पञ्चामृत पर्पटी ३ रत्ती, स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती, शङ्ख भस्म ३ मंडूर भस्म २ रत्ती, त्रिकुटा चूर्ण ३ रत्ती, का मिश्र ३ पुड़िया तीन समय दिया जाने लगा। यह क्रम ता०१२-६-४४ तक रहा, इस मध्य में टेम्परेचर सवेरे ९७ दोपहर को ९८. शाम में ९९ रहता था। रोगी औषधारम्भ में दिन रात के बीच गौ का १॥ सेर दूध पीता था, क्रमशः दूध बढ़ने लगा, दस्त घटने लगे, २६ दिन के बाद दस्त दिन भर में २-३ और रात भर में एक बार होने लगा। करीब २ दूध ऽ४ सेर हजम होने लगा। ता० १३-६-४४ को ज्वर १०२ हो गया, दूसरे दिन १०३ प्यास ज्यादा सताने लगी, भूख लगी ही रहती थी। तब रोगी को सूत-

[ पृष्ठ २७४ का शेषांश ]

प्राशादि औषधि दें और फेफड़े में बादाम तेल और कपूर की मालिश करावें।

यदि सांस फूलती हो तो शृङ्गाराभ्र, शृङ्गभस्म मोती अभ्रकादि देकर उसे ठीक करें। मस्तिष्कावरण के विकार में अक्सर तन्द्रा और बेहोशी रहती है, उसके लिये सर्पगन्धा, जवासे की जड़, अजमोदा, धनियां आदि देवें।

*सारांश जिस प्रकार से रोगी को शांति मिले* और अच्छी नींद आवे उसका उपाय करे। क्षय रोग स्वयं ही जटिल व्याधि है, जिस पर उसके कारण से उत्पन्न उन्माद या मानसिक विकार और भी जटिल है। बुद्धिमान वैद्य कारण परम्परा और निदान विपर्यय का ध्यान रख उचित चिकित्सा करे तो सुयश मिलने की सम्भावना रहती है।

शेखर स्वर्ण घटित २ रत्ती, गुडूची सत्व २ रत्ती, मिश्रण दो पुड़िया दोपहर और शाम प्रातः एक पुड़िया पूर्वोक्त पर्पटी मिश्रण। ता० १४ से १७ तक यही क्रम रहा। ज्वर पुनः साधारण हो गया, कास बिलकुल नहीं, गर्मी ज्यादा मालूम होने लगी अतः दोपहर में २ तोला कूष्मांडावलेह दिया जाने लगा। ता० १८ से प्रातः सायं पर्पटी मिश्रण मध्यान्ह में सूतशेखर १ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, कूष्मांडावलेह के साथ दिया गया। ता० ६-७-४४ तक यही क्रम रहा। दूध दिन रात में पांच सेर हजम होने लगा, फिर भी भूख बनी रहने लगी। तापमान ९७-९८ पर रहने लगा। रोगी को दूध पर रहना असम्भव हो गया, रात दिन अन्न में चित्त रहने लगा। प्रातः सायं नियमोचित बंधे दस्त होने लगे। अन्न का पथ्य दिया गया, धीरे २ अन्न बढ़ाया गया औषधि बन्द कर दी गई, रोगी का शरीर स्वस्थ हो गया। बाद में एक महीने तक केवल कूष्मांडावलेह सेवन कराया गया। रोगी कभी २ मिलता है और स्वस्थ है।

दूसरा—

रोगी नाम पोहकरमल उमर ३२ वर्ष। ज्वर १०१-१०२ बने रहना, शरीर भारी रहना, शिर में दर्द, गले में दर्द, सूखी खांसी शाम में ज्यादा हो जाना, आंतों में सूजन, पेट में दर्द, पेशाब ज्यादा आना, कभी २ दस्त पांच सात आ जाना, कभी २ साफ नहीं आना, एक दो ही आना, भूख बिल्कुल नहीं, मन्दोत्साह, शरीर कृश, फेफड़ों में सूजन, वर्षा ऋतु में इस रोगी का उपचार किया गया। ४० दिन पर्पटी कल्प पर रखा गया, केवल गौ का दूध और मौसम्बी का रस आहार में दिया जाता था। इस रोगी को वृद्धि क्रम से पर्पटी मिश्रण खिलाया गया।

आरम्भ में पञ्चामृत पर्पटी २ रत्ती, स्वर्ण-पर्पटी ½ रत्ती, पुनर्नवा मूल चूर्ण २ रत्ती, मिश्रण ३ पुड़िया तीन समय दो दिन तक। उसके बाद पञ्चामृत पर्पटी ३ रत्ती, स्वर्ण पर्पटी पौन रत्ती, पुनर्नवा ३ रत्ती मिश्रण, दो रोज बाद में पञ्चामृतपर्पटी ४ रत्ती, स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती, पुनर्नवा चूर्ण ४ रत्ती दो दिन बाद में पञ्चामृत पर्पटी ५ रत्ती, स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती, मंडूर भस्म १ रत्ती, जीरक चूर्ण ३ रत्ती दो दिन बाद में पञ्चामृत पर्पटी ६ रत्ती, स्वर्णपर्पटी १ रत्ती, मंडूर भस्म १ रत्ती, मिश्रण १२ दिन तक दिया गया, बाद में पञ्चामृत पर्पटी ७ रत्ती, मंडूर-भस्म २ रत्ती मिश्रण १० दिन तक दिया गया।

इस मध्य में क्रमशः दूध बढ़ता गया, पांच सेर दूध तीन चार दर्जन मौसम्बी का रस अच्छी तरह हजम होने लगा, यकृत और पेट की सूजन देख न पड़ने लगी, शरीर सबल मालूम पड़ने लगा। ज्वर, कास करीब २ नहीं के बराबर, रोगी को भूख बनी ही रहती थी, गर्मी शरीर में बहुत मालूम होने लगी, दोपहर में आंवले के दो तीन मुरब्बे दिये जाने लगे, बाद में १० दिन तक क्रमशः औषधि मात्रा घटाई जाने लगी, दसवें दिन पञ्चामृत पर्पटी २ रत्ती, स्वर्ण पर्पटी ½ रत्ती मिश्रण का क्रम आ गया। दूध साधारण घटाकर अन्न दिया, धीरे २ अन्न बढ़ाया आठ दिन तक और यही औषधि देकर औषधि बन्द कर दी गई। रोगी का शरीर स्वस्थ हो गया, किसी तरह का कष्ट नहीं रहा। बाद में आंवले का

[ शेषांश पृष्ठ २७९ पर देखें ]

# क्षय रोग और कीटाणुवाद

लेखक-श्री० कविराज प० युगलकिशोर जी, द्वारिकाप्रसाद जी शर्मा दधिमथ, आयुर्वेद शास्त्री।

जब से पाश्चात्य जगत में जीवाणुओं का आविष्कार हुआ है तब से चिकित्सक ससार मे एक अजीब हलचल मच गई है। सन् १८४९ ई० में सर्व प्रथम डाक्टर पाश्चर ने जीवाणुओं की खोज की थी, तब से प्रति दिन इस दिशा में अधिक प्रयत्न किया जाने लगा और आज बहुत से रोगों के जीवाणुओं का पता लगा लिया गया है। इस का फल यह हुआ कि पाश्चात्य चिकित्सक रोगों का मूल कारण जीवाणुओं को मानने लगे हैं। इसी प्रकार जीवाणुवाद की नींव पक्की हो जाने पर इस का प्रभाव भारतीय वैद्यसमाज पर पड़ना अनिवार्य था और इसके फल स्वरूप ही आज "क्षय रोग और कीटाणुवाद" विषय पर विचार करना आवश्यक हो गया है।

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में रोगका मूल कारण दोष वैषम्य है। जीवाणुओं को केवल रोग प्रसारक माना गया है। इसलिये इनकी छान बीन नहीं की गई है। परन्तु आयुर्वेद के मूलभूत वेदों विशेष कर अथर्व वेद ) में इनका अधिक स्पष्ट वर्णन मिलता है। वेद तथा आयुर्वेद की संहिताओं (चरक सुश्रुतादि) मे जीवाणु नाम लिखकर '*कृमि*' शब्द का व्यवहार किया है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत से कृमि शब्द का अर्थ वार्म ( Warm ) है जो कि आंख से दीख सकते हैं तथा जीवाणुओं का अर्थ बेक्टीरिया है जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि दृष्टिगोचर नहीं हो सकते, केवल अणुवीक्षण यन्त्र से ही दीख सकते हैं। इसीलिये इनको माइक्रो आर्गेनिज्म कहा जाता है।

अब हमको यह देखना है कि कृमियों के सबध में आयुर्वेद में दिया हुआ वर्णन पाश्चात्य वर्णन से कहा तक मिलता है और पाश्चात्य विद्वानो के नये नये खोजों के बाज आयुर्वेद में भी कहीं हैं या नहीं अत यह निबन्ध कृमियों के सम्बन्ध मे वेद तथा आयुर्वेद इन दोनों मतों का तुलनात्मक वर्णन है।

*प्रथम— भगवत मात्रेयम ग्निवेशोऽत पर सर्व कृमीणा पुरुषसश्रयाणां समुत्थान स्थान संस्थान वर्ण नाम प्रभाव चिकित्सित विशेषान् पप्रच्छोपसगृह्य पादौ। अथास्मै प्रोवाचभगवानात्रेय।* (चरक विमान अ० ७)

भाव यह है कि अपने गुरु भगवान् आत्रेय को चरण स्पर्श पूर्वक प्रणाम करते हुए उनके शिष्य अग्निवेश ने कृमियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि हे भगवान्! कृमि कैसे उत्पन्न होते हैं, कहा रहते हैं किन २ रङ्गों के होते हैं, उनका प्रभाव क्या होता है यानी वे कौन २ से रोगों को उत्पन्न करते हैं और कृमि जन्य रोगों की चिकित्सा कैसी करनी चाहिये इसके पश्चात् महर्षि आत्रेय ने उन्हें कृमियों के विषय मे सब बातें समझाई।

अत्रि—आंतो मे रहने वाले।
जमदग्नि—जन्म से ही अग्नि रूप।
कण्व—बहुत सूक्ष्म।
कश्यप—खून को पीने वाले।
वशिष्ठ—शरीर में ठहरने वाले।

असुर—प्राण नाशक ।

रक्षस्-जीवन रक्षिणी शक्ति को नष्ट करने वाले ।

भूत-अत्यन्त अधिक उत्पन्न होने वाले ।

प्रेत—अत्यन्त अधिक उत्पन्न होने वाले ।

पिशाच—रुधिर मांस के खाने वाले ।

रुद्र—रुला देने वाले ।

कीकट—किट २ शब्द करने वाले ।

गोचर—गौ आदि पशुओं के शरीर में रहने वाले ।

पृथ्वीचर—पृथ्वी में उत्पन्न ।

नभचर-आकाशवासी वायु में घूमने वाले ।

नक्तचर—रात्रि अन्धकार में रहने वाले ।

यातुधान—पीड़ाओं के देने वाले ।

शृङ्गी-सींग जैसे नोक वाले ।

किमीदिन-छोटे २ जन्तुओं को आपस में ही खा-जाने वाले ।

तक्मा—शरीर क्षय करने वाले ।

पाप पाप्मा—शरीर क्षय करने वाले ।

गन्धर्व—भिन्न २ शब्द करने वाले ।

ग्रह—शरीर को जकड़ने वाले

कृत्या—शरीर को काटने वाले ।

किकितिका—विष रूप ।

वज्र-अत्यन्त कठोर अजेय ।

सर्प—बहुत शीघ्र एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाले ।

नट-नाचने वाले पानी में जैसे कुछ सूक्ष्म २ जीव नाचते हैं ।

सूचिका-सुई के समान ।

बभ्रुः-भूरे रङ्ग के ।

गृध्र-शरीर को पकड़ने वाले ।

सरूप-अङ्ग के समान रूप वाला ।

विरूप—विकृत रूप वाला ।

कृष्ण—काला ।

रोहित-लाल और भूरे रङ्ग वाला ।

कोक—कमल पुष्प सदृश रंग वाला ।

शितिपद ( शिति पाद )-नील पाद वाला ।

विश्व रूप-अनेक रूप वाले कृमि ।

प्रभु-बहुत शीघ्र उत्पन्न होने वाले ।

स्वयंभू (विभु)-स्वयं उत्पन्न होने वाले ।

अर्जुन-पीड़ा देने वाले ।

मारक-हाथ में वज्र जैसे ।

त्रिककुद-तीन चोटियों जैसा ।

क्षुद्रक-बहुत छोटे ।

कंकत-कंघी के समान ।

नानद-शब्द करने वाले ।

नीलग्रीव-नील गर्दन वाले ।

कपर्दी-कौड़ियों के रङ्ग वाले ।

शर्व-पीड़ा देने वाले ।

भव-अधिक उत्पन्न होने वाले ।

त्र्यम्बक-तीन शिर वाले तथा तीन नेत्र वाले ।

त्रिशीर्ष-तीन सिर वाले तथा तीन नेत्र वाले ।

पांसव्य-(यजु०१६-४५)-धूल में उत्पन्न होने वाले ।

रजस्य—रज कणों में रहने वाले ।

हारित्य-हरे रङ्ग के ।

वात्य—वायु में उत्पन्न ।

---

[ पृष्ठ २७७ का शेषांश ]

मुरब्बा एक महीने सेवन करता रहा । आज तक स्वस्थ है । हमारा यह अनुभव है कि दूध पर पर्पटी कल्प कराने से अच्छा लाभ होता है । उदर विकारों में पर्पटी कल्प का फुफ्फुस विकारों में सिन्दूर कल्प से उत्तम लाभ होता है ।

हरिकेश—सिंह के बालों जैसे।
सहस्राक्ष-(यजु० १६) बहुत छिद्र युक्त।
अमीवा-कीट विशेष।
मुनिकेश-चारों ओर से सूक्ष्म बालों से घिरे हुए।

इन ऊपर के शब्दों से लौकिक भाषा में पुराण प्रतिपादित आकार एवं स्वरूप वाले अत्रि वशिष्ठादि का ग्रहण भले ही हो परन्तु वैदिक भाष्य में सर्वत्र सूक्ष्म एवं अदृश्य कृमियों का ही बोध होता है।

पाश्चात्य शास्त्रानुसार कृमियों के रहने के अनेक स्थान हैं, यथा हवा, भूमि, जल शरीर आदि। यानी हवा, जल, शरीर आदि में कृमि विशेष हो जाने के कारण रोगों को पैदा करते हैं। यह पाश्चात्य मत सहस्रों वर्ष पहिले स्थापित किये हुए आयुर्वेद के मत से सोलह आना मिलता है, देखिये—

भगवन् ? अपितु खलु जनपदो द्ध्वसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबल सात्म्य सत्ववयसा मनुष्याणां कस्माद् भवतानि। (च० वि० अ० ३ सू ३)

अग्निवेश प्रश्न कर रहे हैं कि हे भगवन्! एक ही रोग सम्पूर्ण देशवासी मनुष्यों का जो अलग अलग प्रकृति, आहार देह, बल, सात्म्य, सत्व और अवस्था वाले होते है कैसे नाश कर डालता है और बड़े २ शहरों को क्यों ध्वंस कर डालता है?

जिसका उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय कहते हैं कि ते तु खल्विमे भावा सामान्या जनपदेषु भवन्ति तद्यथा वायुरुदकं देश काल इति। (च० वि० अ० ३ सू० ४)

भाव यह है कि वायु, जल, देश और काल ये मनुष्यों के लिये साधारण ही होते हैं और ये ही बिगड़ने से जनपद विध्वंसक रोग उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य डाक्टर भी कहते हैं कि वायु जल आदि कृमि की प्रचुरता से बिगड़ कर शहर के शहर बरबाद करने वाले रोगों को पैदा करते हैं।

कीटाणु से व्याप्त संसार—अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने से विदित होता है कि प्रत्येक स्थान मे प्रत्येक वस्तु में कीटाणु है और वर्तमान विज्ञान तेज (अग्नि) में भी इसकी सत्ता मानता है वेद मे भी यही लिखा है—

"ओतो मेधा पृथ्वी ओतादेवी सरस्वती।
ओतौमइन्द्रश्चाग्नि: क्रिमि जमयतामिति॥"
अथर्व ५-२३-१।

अर्थात्-पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि, जल सब कीटाणुओं से व्याप्त हैं।

वास्तव में सृष्टि का उत्पादक और संहारक यही कीटाणु हैं, दूध को दही में परिवर्तन कर्ता, आसव, अरिष्ट, सुरा, सूक्त का उत्पादक कीटाणु ही है, वीर्य और रज में कीटाणु हैं यही गर्भ धारण करता है। वृक्षों पुष्पों से यही कीटाणु फल उत्पन्न करते हैं जहां यह कीटाणु विविध पदार्थों को प्रस्तुत कर हमारी रक्षा करते हैं और जहां यह जीव मात्र के उत्पत्ति के कारण हैं, वहां यह संहार के लियेभी हैं। देखिये उन्हीं वस्त्रों को कैसे खा जाते हैं। प्रथम इनसे रेशम का प्रादुर्भाव और यही पुनः रेशमी कपड़ों के भक्षक हैं। अन्न के उत्पादक कीटाणु और खपरासुर सुरीरी ढोरा आदि रूप से अन्न के संहारक कीट विशेष हैं, हमारे शास्त्रों में यद्यपि सब रोग त्रिदोष के प्रकोप से होने गिने हैं तथापि वह दूसरी संख्या पर है, क्योंकि बहुत से ऐसे रोग हैं, जिनको यही महात्मागण (कीटाणु) उत्पन्न करते हैं, पुनः दूसरी अवस्था में वे रोग त्रिदोष से घिरकर उसी २ नाम से गिने जाते हैं जैसे रोग कीटाणुओं (यह कीटाणु)

मुषकों के शरीर पर रहते हैं ) से उत्पन्न होता है, हैजा कीटाणु से फैलता यह निर्विवाद है। आरम्भ में उत्पादक तो हुए कीट और पुनः वात प्रकृति वाताहार सेवी तथा वात प्रधान देश में होने वाले शरीर में वातज विशूचिका समझी जायगी। ऐसे ही सब कीटोत्पन्न रोगों में समझना चाहिये।

उपदंश, सुजाक, कुष्ट, विशूचिका, प्लेग, इन्फ्लूएंजा, मलेरिया बुखार आदि ऐसे बहुत से रोग हैं जिनको कीटाणु उत्पन्न करते हैं। इसलिये प्लेग आदि का नाम जनपदध्वंसनीय लिखा है। और उपदंश, कुष्ठ, क्षय, प्लेग आदि को इसीलिए कहा है कि-'संक्रामन्ति नरान्नम्'। इस प्रकार कृमियों का सम्बन्ध क्षय आदि संक्रामक रोगों से होना आयुर्वेद से भी ध्वनित होता है।

## यक्ष्मा की निरुक्ति

यक्ष्मा, क्षय, राजयक्ष्मा, राजरोग इन सब शब्दों से एक ही अर्थ आता है। यक्ष्मा का अर्थ सायणाचार्य ने अथर्व वेद ( ३-११-१ ) में यह किया है। "यजपूजायां इत्यस्मात् अतिसुहुसृधृक्षि क्षुभाया वापदियक्षिनीभ्योमत् ( ३-१-१३७ ) इति-मत् प्रत्ययान्तोयक्ष्म शब्दः। यक्ष्माणां रोगाणां राज-क्षय रोगो राजयक्ष्मः।

अर्थात् यज धातु से मत प्रत्यय लगाकर यक्ष्म शब्द रोग वाची बनता है। और रोगों के राजा राज रोग ( क्षय ) को राजयक्ष्मा कहते हैं।

कहने का प्रयोजन यह है कि क्षय भी एक प्रकार के कीटाणु से ही उत्पन्न होता है। कृमिज रोगों में शोष का नाम भी है। 'कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यंद एवच इत्यादि।' इसका वर्णन आयुर्वेद से अधिक वेद में आया है। हम यहां कुछ उद्धृत करते हैं

यद्यपि अथर्व वेद तथा ऋग्वेद में सर्व शरीरगत यक्ष्मा विष का वर्णन आया है तथापि फुफ्फुस के कीटाणु का वर्णन विशद रूप से पाया जाता है। हम इस सूक्त का आगे वर्णन करेंगे। यहां केवल फेफड़े के यक्ष्मा का मन्त्र देते हैं। वेद मे यक्ष्मा का नाम 'प्लाशि' आया है।

"प्लाश्यते सुखेन प्रक्षिप्यते श्वास वायुरनेन इति प्लाशि।"

अर्थात् जिससे सुख पूर्वक श्वास वायु छोड़ा व भरा जा सके। देखिये--

"आंत्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्टोहृदयादधि।
यक्ष्मंमत्स्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो विवृहामिते"

ऋग्वेद।

आंत्रेभ्य (आंतों से), गुदाभ्य (गुदा से), वनिष्टो उंडुक (तिल) से, मत्स्नाभ्यां (गुर्दों से), यक्नः यकृत ( जिगर ) से, प्लाशिभ्य ( फेफड़ों से ) यक्ष्मा को निकालता हूं।

यही मन्त्र कुछ पाठ भेद से अथर्व मे भी आया है

आंत्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्टोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्यां विवृहामिते॥ २-३४-४।

यहां पर उदर, पेट, कुक्षि, नाभि, छाती यह और है। इसी प्रकार अथर्व कांड ९ सू० ८ में भी आया है।

याः पार्श्वे उपसर्पन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलात॥ १४॥

जो कीटाणु दोनों ओर के फेफड़ों में और पसली में घुसे हुए हैं वह बिल से बाहर निकल आवें रोगी को कोई कष्ट न पहुंचावे। इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि हमारे यहां यक्ष्मा का फुफ्फुस पर होना विद्यमान है।

यही नहीं प्रत्युत इन जीवाणुओं से यक्ष्मा के विष का अङ्ग २ में संचार होना लिखा है। देखिये-

"अङ्गे अङ्गे लोम्निलोम्नियस्ते पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं त्व चस्य ते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वंच विवृहामसि

अङ्ग २ रोम २ पर्व २ में और त्वचा में जो यक्ष्मा का विष फैला हुआ है उसको निकालता हूं।

हड्डियां भी यक्ष्मा में गल जाती हैं। इसका भी "ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्" इस मन्त्र में आया है। और देखिये इस सूक्त से प्रथम ३२ वां सूक्त भी कृमिपरक है जिसका कि मंत्र यह है।

उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तुरश्मिभि
ये अन्तः क्रिमयोगवि ॥

• अर्थात् जो पृथ्वी मे ( कूड़े करकट ) में कृमि हैं उन सब को यह सूर्य उदय होता ही नष्ट करता है पूरा सूत्र पाठकों को अथर्व संहिता में ही देखना चाहिये।

एवं कृमि विषयक जो नई थ्योरी बतलाई जाती है जिसके आविष्कारक डाक्टर अपने को कहते हैं पाठक देखें कि हमारे यहां यह प्रथम से ही वर्णितहै

वेद में इस विषय के बहुत सूक्त हैं 'रुद्र' नाम से जो वर्णन आता है, यह प्रायः सब का सब कृमि शास्त्र ही है, इसी से निरुक्तकार ने "रोदनाद्रुद्रः" लिखा है अर्थात् जो व्याधियों से पोडित कर मनुष्यों को रुला देते हैं और इन कृमियों को वेद मे असंख्य-अनगिनती लिखा है, यजुर्वेद का १६ वा अध्याय देखना चाहिये।

यद्यपि महीधरादि ने इसका अर्थ यज्ञ परक लगाया है क्योंकि महीधर, उव्वट, सायण ये सब सारे वेद को ही यज्ञ परक लगाते हैं और आधि दैविक तथा आधिभौतिक अर्थ को एक दम भुला दिया है तथापि सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने पर विदित होगा कि यह सारा रुद्र सूक्त आयुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। हम यहां थोड़ा दिग्दर्शन कराते हैं

## रुद्र वर्णन

"असौयस्ताम्रो अरुण उत बभ्रु सुमङ्गल ।
ये चैन रुद्रा अभितो दिक्षुश्रिता सहस्रशोऽवैषाहेडईमहे ॥६

यह जो सामने के रङ्ग का लाल कपिल वर्ण और सुमङ्गल है इनके चारो ओर जो हजारों रुद्र इसके पास हैं इन सबको निवारण करते हैं।

'असौयोऽवसर्पति, नीलग्रीवो विलोहित " ॥ ७ ॥

यह जो नीली गर्दन वाला और लोहित रङ्ग का है, आगे नील ग्रीव, सहस्राक्ष, हिरण्यबाहु, हरि केश शष्पिंजर, रोहित, विरप, विश्व रूप, गृत्स, अन्नपति, क्षेत्रपति, वनपति, वृक्षपति, औषधि पति इत्यादि नामों से वर्णन आया है।

' नमोह्रस्वायचवामनाय च नमोबृहते च।
वर्षीयसेचनमो वृद्धाय च सं वृधे च नमोऽग्राय च प्रथमाय च

इस ऋचा में ह्रस्व, वामन, बृहत् येह आकार वर्णित है।

रुद्रों की पृथ्वी और अन्तरिक्ष में स्थिति—

असंख्याता सहस्राणिये रुद्रा अधिभूम्याम् ॥५४॥
अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षेभवा अधि ॥ ५५ ॥

पृथ्वी पर असख्य रुद्र हैं। अन्तरक्ष में जो रुद्र हैं—

## द्यु लोक में स्थिति—

'नीलग्रीवा. शितिकण्ठादिवं रुद्रा उपाश्रिता ।५६

नीली गर्दन वाले शिति (पैने कण्ठ वाले वा श्वेत कण्ठ वाले रुद्र द्यु लोक मे स्थित हैं।

इस प्रकार इनकी स्थिति आकाश, पृथ्वी आदि में कही गई है। आगे वृक्षों मे, दिशाओं में

'य एतावंतश्चभूयासश्च दिशोरुद्रा वितस्थिरे"
इत्यादि स्थिति वर्णन की है।

अन्न पान द्वारा मनुष्यों के पेट में जाकर यह रुद्र नामक कृमि रोगोत्पन्न करते हैं। यह भी यहीं लिखा है।

'येऽन्नेपुविविध्यंति पात्रेपु पिबतो जनान'॥

जो कृमि पानी पीते समय, अन्न खाते समय वेधन करते हैं। यहां पर महीधर लिखते हैं—

'विविध्यन्ति–विशेषेण ताड़यन्ति, धातु वैषम्यं कृत्वा रोगा नुपादयन्ती त्यर्थः विध्यन्ति"

अर्थात् ताड़न करते हैं, इसी सूक्त के हरेक मंत्र में 'माहिंसीः' 'पुरुषं' 'जगत्' लिखा है कि जगत को मत मारो।

"शिवेन वचसात्वा गिरिशाऽच्छावदामसि यथानः-सर्व मिज्जगदयक्ष्मा सुमना असत् ॥४॥

जैसे यह सम्पूर्ण जगत यक्ष्मा के रोग से रहित होवे, ऐसे मैं कल्याण वचन कहता हूं।

इस रुद्र सूक्त को ध्यान से पढ़ने से स्पष्ट बोध होता है, कि यह जीवाणु विज्ञान मात्र है। मेरी दृष्टि में वेद में कुछ मन्त्रों को छोड़कर सम्पूर्ण ही वेद चिकित्सा शास्त्र का प्रतिपादन करता है।

पाठकों को इस प्रसिद्ध रुद्र सूक्त को कृमिपरक लगाना शायद अखरता होगा परन्तु "मंत्राणामनेकार्थत्वात्" मन्त्रों के अनेक अर्थ होते हैं इस सिद्धांत से सब घटता है, परन्तु यहां तो कोई खेंच तान नहीं है। सीधे २ शब्द हैं। थोड़ा सा संस्कृतज्ञ भी ठीक २ समझ सकता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का उन्नीसवां सूक्त भी कृमि परक है, पाठकों को वहीं देखना चाहिये। हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते, केवल राजयक्ष्मा के प्रकरण में आये हुए कुछ मन्त्रों के अवतरण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

"ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो येच शब्दिनः।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वावर हांसिधूनुते ॥ ४ ॥

अथर्व का ११ सू० ३६।

इस सूक्त में शतवार नामक औषध का गुण वर्णन किया है। उस प्रसङ्ग में कहते हैं कि जो यक्ष्मा के छोटे २ बच्चे हैं और जो बड़े हैं ऐसे भी कीट होते हैं, जो बाहर के घावों में बड़े २ प्रत्यक्ष कलपलाहट करते देखे गये हैं, उन सब दुर्नाम वालों को शतवार नामक मणि नष्ट करता है।

इस शतावर का अभी तक पता नहीं लगा है। इन कीड़ों के वेद में १०० भेद माने हैं।

"शतंवीरानजयच्छतं यक्ष्मानपावयत्।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वा वर हांसि धूनुते ॥ ४ ॥

अथर्व १६-३६।

यह मणि १०० यक्ष्मा के दुर्नाम वाले राक्षस रूपी कीटों को जीतता है, वे कीट वीर अर्थात् कैसे ही दुर्जेय हों परन्तु यह सबको मारकर रोगी को बचाता है। यही यजुर्वेद में भी लिखा है।

'नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणा पाकारोरसिनाशनी" ६७

यजु० अ० १२।

यह औषधि कफ, बवासीर, उरःक्षत और यक्ष्मा के १०० प्रकार के कीटों को नष्ट करती है। यक्ष्मा का आत्मा कीट ही है—

'आत्मायक्ष्मास्य नश्यति पुराजीव गृभो यथा' ८५

यजु० अ० १२।

इस औषधि के सेवन से यक्ष्मा का आत्मा (कीट) नष्ट हो जाता है।

बस इस वर्णन से स्पष्ट हो गया कि वेद यक्ष्मा के कीट मानता है, वेद में यक्ष्मा के ऊपर कई सूक्त हैं।

राजयक्ष्मा के रोगी को आश्वासन दिया है—

"माबिभेर्नमरिष्यसि जरदष्टिं कृणो मित्वा।"
निरवोचमहं यक्ष्ममंगेभ्योऽङ्ग ज्वरं तव।
अंग भेदे अग ज्वरायश्चते हृदयामयः।
यक्ष्मःश्येनइवप्रापसद् वाचासाढः 'परस्त राम।

हे राजयक्ष्म पीड़ित पुरुष तू मत डर, मैं चिकित्सा करता हूं तू मरेगा नहीं, मैं तेरे अङ्गों से ज्वर को निकाल दूंगा। अङ्गों को तोड़ने वाला, अङ्ग ज्वर यक्ष्म जो श्येन (बाज) के समान आया है जो कि हृदय (फुस्फुस) का रोग है उस सब को नष्ट करता हूं।

ऋग्वेद में "किकिदिवी" इन कीटों का नाम आया है—

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
ऋ० स० १०–९७–१३।

हे यक्ष्मन् इस औषध के योग से किकिदीवि कीट के सहित निकल जा।

अथर्ववेद कांड ५ सू० २२ को पढ़ना चाहिये, इसमें ज्वरों का वर्णन आया है। पुनः दूसरे सूक्त २३ में क्रिमियों का वर्णन रङ्ग रूप सब का वर्णन आया है।

और शितकक्षा विरूपी, कृष्णी, शितबाहू, विशीर्षा, त्रिककुद इत्यादि ऐसे २ विशेषण आये हैं, जिनकी खुर्दबीन से देखने में ही प्रत्यक्ष सत्यता ज्ञात होती है।

"यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यगच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥"
अथर्व० का० ५ अ० ४।

इस मन्त्र में आंख नाक और दांत के कीड़ों का वर्णन आया है।

"ये वाग्मसः कष्कषासःसजत्काःशिपिवित्नुका।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिसता दृष्टस्य हन्यताम्॥"
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रमीन् जम्भयामसि।"

इत्यादि मन्त्रों में दृष्ट अदृष्ट विश्वरूप कपड़ों को खाने वाले कृमियों का वर्णन आया है और सूर्य को इनका नष्ट कर्ता लिखा है।

मच्छरों से ज्वर का होना पुनः मच्छर नाशक औषधि का वर्णन भी अथर्व में ही आया है।

"इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुलामधूः।
साविहुतस्य भेषज्यथो मशक जम्भनी॥"
अथर्व० ७–५८–२।

इन कीड़ों का सूर्य से बहुत द्वेष है

ये सूर्य नतितिक्षन्त आतपन्त ममुं दिवः।
आरायानवस्तवासिनो दुर्गन्धीन् लोहितास्यान् मशकान् नाशयामसि॥१२॥"

'ये सूर्यात परिसर्पन्निस्नुषेवश्वसुरादधि।"

यह कीड़े सूर्य की धूप को सहार नहीं सकते। दुर्गन्धित हैं— दुर्गन्ध में उत्पन्न होने वाल बकरे पर उत्पन्न होते हैं। वेद में इन कीटो का वर्णन इस प्रकार आया है।

"शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥१॥
कर्णाभ्यां ते कंकूषेभ्यः कर्णशूलं विशल्यकम्। सर्व.२।
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः। सर्व ३।
यः कृणोति प्रमोतमंधं कृणोति पुरुषम्। सर्व. ४।
अङ्गभेदं मंग ज्वरं विश्वाङ्गयं विशल्यकम्। सर्व ५।
यस्य भीमः प्रतीकाशः उद्वेपयति पुरुषम्।
तक्मानं विश्व शारदं बहि..............। ६।

अर्थात्-शिरो रोग और कर्ण शूल, तथा कर्ण के अन्य रोगों को नाश करे। २।

जिस हेतु से कान और मुख से (कफादि द्वारा) यक्ष्मा निकलता है।

जो पुरुष को ज्वर वेगों से अन्धे के समान बना देता है। जिसकी भयङ्कर व्यथा से पुरुष डरता है ऐसे अङ्गों को भेदन करने वाले ज्वर को नष्ट करता हूं।

"य उरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके ।
यक्ष्मंते अन्तरंगेभ्यो बहि०.........॥ ७ ॥
यदि कामादपकामाद् हृदयाज्जायतेपरि ।
हृदोबला समंगेभ्योबहि...........॥ ८ ॥
हरिमाणंते अगेभ्यो प्वामन्तरोदरात् ।
यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहि.........॥ ९ ॥
आसोबलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत् ।
यक्ष्माणांसर्वेषां विषांनिरम।चमहंत्वत् ॥१०॥
बहिर्विलं निर्द्रवतु काहा बाहं तवोदरात ।
यक्ष्माणां............................॥ ११ ॥
उदरात ते क्लोम्नोनाभ्यां हृदयादधि ।
यक्ष्माणां....... ..............॥ १२ ॥
या सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्पणी ।
अहिंसन्तीरनामयानिर्द्रवन्तुबहिर्बिलम् ॥१३।
या हृदयामुपसर्पन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः ।
अहिं...... ..................॥ १४ ॥
या पार्श्वे उपसर्पन्त्यनु निक्षन्ति पृष्ठीः ।
अहिं..........................॥१५॥
यास्तिरश्चीरुपसर्पन्त्यर्पणी वेक्षणासुते ।
अहिं.................... ॥१६॥
या गुदा अनुसर्पन्त्य त्रा णामोहयन्तिच ।
अहिं.............................॥ १७॥
यामज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।
अहिं.........................॥ १८ ॥
ये अंगा निमर्दयन्ति यक्ष्मासोरोपणास्तव ।
यक्ष्माणांसर्वेषांविषंनिरमोचमहंत्वत ॥१९॥
विशल्यस्य विद्रधस्य वातीकारस्य बालजेः ।
यक्ष्मा... ...........................॥ २० ॥
पादाभ्यांतेजानूभ्यां श्रोणिभ्यां परिभंससः ।
अनूकादर्पणीरुष्णहाभ्यःशीर्ष्णोरोगमनीनशम् ।२१
संतेशीर्ष्णःकपालानि हृदयस्यचयोविधुः ।
उद्यन्नादित्यरश्मिभिःशीर्ष्णो रोगमनीनशों-
गभेदमशी शमः ॥ २२ ॥
अथर्व० कां० ६ सू० ८।"

जो यक्ष्मा जांघों तक फैलकर सुखा रहा है गवीनिका नाड़ियों में प्रवेश कर मूत्र को दूपित कर दिया है। ऐसे यक्ष्मा के कीटों को तेरे अन्तरंगों से नष्ट करता हूं ७।

जो काम, अकाम, (मैथुन अतिमैथुन) से से निर्बल होकर हृदय में उत्पन्न हुआ ऐसे है, यक्ष्मा और कफ को नष्ट करता हूं। ८।

जो सारा शरीर रुधिर के अभाव से हरा वा पीला हो गया है, ऐसे यक्ष्मा के कीटों को बाहर निकालता हूं। ९।

कफ का नाश हो मूत्र बिना कष्ट के हो और सारे यक्ष्मा के विप को मैं नष्ट करता हूं। १०।

तेरे पेट से जो कि बहुत कष्ट दायक है ऐसे काम रोग को नष्ट करता हूं। ११।

पेट, क्लोम, नाभि, हृदय इन सब में जहां २ यक्ष्मा का विष फैला है, उन सबको नष्ट करता हूं।

जो कीट दौड़ने वाले हैं और मस्तिष्क तक पहुंचते हैं, सीमा को भी लांघ जाते हैं, वह इस मनुष्य को न मारते हुये शीघ्र बाहर निकल आवें।

जो कीटाणु हृदय में घुस जाते हैं और पुनः हंसली की हड्डियों ( गले ) में फैलते है। १४।

जो दोनों पार्श्वों ( फेफड़ो ) में घुस जाते हैं। और पसलियों तक फैलते हैं। १५।

जो छाती में टेढ़ी होकर घुसते हैं। जो गुदा तक जाते हैं तथा आंतों में घुस कर निकल कर देते हैं। जो अंगो को निर्बल कर देते हैं ऐसे यक्ष्मा के (रोपण) कीड़े हैं, उन सब के विष को तेरे अंगों से निकालता हूं। १६ १७-१८ १९।

विसर्प, विद्रधि, वातुरोग, अलजी, और यक्ष्मा के विष को नष्ट करता हूं। पैरों, जानुओं, कूल्हों गुप्त स्थान, रीढ़, गुदा, और शिर से यक्ष्मा के कीड़ो को नष्ट करता हूं। २१।

हे रोगी ! तेरे शिर की हड्डियें स्वस्थ्य हो, हृदय में उत्पन्न क्षय भी नष्ट हो, हे वैद्य ! तूने सूर्य के समान सब रोगों को नष्ट किया। २२।

इन मन्त्रों में सर्पन्ति आदि ऐसी क्रिया है जो स्पष्ट कीट गति को बतलाती है। "अर्पण" ऋप धातु से बना है, अर्पण का अर्थ गति शील कीट के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। "रोपण" शब्द का अर्थ गति जमे हुये उत्पन्न हुये ही है। एक और शब्द "अमीवा" अमीवा कीटाणुओं को कहते हैं और अथर्ववेद में "उपातिष्ठते अनमीवा अयक्ष्मा" ( अथर्व० का० १२ सू० १ मं० ६२ ) इस मन्त्र में यक्ष्मा के कीट रहित ऐसा अयक्ष्मा का विशेषण अनमीवा आया है।

ऋग्वेद में भी यक्ष्मा का वर्णन आया है—

"अक्षीभ्यान्तेनासिकाभ्या कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामिते ॥१॥

तेरी आंखों से, दोनों नासिकाओं से, कानों से, शिर से, ठोडी से, मस्तिष्क से, जीभ से यक्ष्मा को नष्ट करता हूं।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य मांसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामिते ॥

गर्दन, गुद्दी, हंसली की हड्डी, पसली, कंधे, बांहें, इन सब में जो त्रिदोषज यक्ष्मा है उनको नष्ट करता हूं।

आन्त्रेभ्यस्त गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि।
यक्ष्मंमतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो विवृहामिते ॥

आंतों से, गुदा से, उंडुक से, हृदय से, गुरदों से, यकृत् से, फेफड़ो से, यक्ष्मा को नष्ट करता हूं।

यही मन्त्र अथर्ववेद कांड २ सू० ३३ में पाठ भेद से आया है—

ऊरूभ्यांते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भं ससो वि० ॥४॥
मेहनाद्वनं करणाल्लोमभ्यस्तेनखेभ्यः।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि० ॥५॥
अंगादंगाल्लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि यक्ष्मं ॥६॥

अथर्ववेद में यह अधिक है—

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्य स्नायुभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामगुलिभ्योनखेभ्यो वि० ॥

जांघो, घुटनो, पैरों, लिंग, गुदा, योनि, लोम, हड्डी मज्जा, नाड़ी, नस, हाथ पैर अंगुली और नखों से तथा अंग २ में जो यक्ष्मा का विष फैल गया है उसको नष्ट करता हूं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि अदृश्य कृमियों के रूप में जीवाणुओं का वर्णन होने से वेद तथा आयुर्वेद में जीवाणुवाद का अस्तित्व प्रतिपादित है।

# क्षय और कीटाणुवाद

लेखक आयु० वारिष म० सन्तराज शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ( वि० पी० काशी ) शादीवाल जि० गुजरात ( पंजाब )

पंजाब प्रान्त के मध्य भाग में बहती हुइ चन्द्रभागा के पुलीन तथा पुनीत तट पर विहार करने वाले आयुर्वेद विज्ञ प्राच्य महर्षि जी के निकट पहुंच कर जिज्ञासा करने की लालसा से एक अर्वाच्य एलौपैथिक वेत्ता नवयुवक ने विनम्र भाव से कहा—

महाराज ! मैं पाश्चात्य विद्या विज्ञ हूं। उसमें मैंने कतिपय चिकित्सा ग्रन्थों का अध्ययन किया है मैंने सुना है कि हमारे पूर्वज महर्षियों ने भी चिकित्सा विषयक अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें सम्पूर्ण चिकित्सा अङ्गों का भली प्रकार विवेचन किया गया है। मेरी कई दिनों से इच्छा है कि मैं भी आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का अध्ययन करूं किन्तु आयुर्वेद के मूल आर्ष ग्रन्थ संस्कृत में हैं जिन का अध्ययन करना मेरे जैसे संस्कृतानभिज्ञों एवं गृहस्थियों के लिये अशक्य है। आज संयोग से आप जैसे आयुर्वेदिक गुरु महर्षि यतिवरों का योग मिला है. अनुग्रह कर कहिये कि मैं आप से आयुर्वेद रहस्य को कैसे प्राप्त करूं ?

महर्षि—बेटा ! वैसे तो विना शास्त्र का अध्ययन, मनन, निदिध्यासन तथा जिज्ञासा किये आयुर्वेद ही क्या किसी. शास्त्रीय विषय का याथातथ्य नहीं जाना जा सकता किन्तु आप जैसे चिकित्सा विषय के मार्ग को जानने वाले के लिये मेरे विचार से एक जिज्ञासा मात्र ही सुलभ उपाय है। इससे आपके संशय भी दूर हो सकते हैं और आयुर्वेद विज्ञान के रहस्य को भी जाना जा सकता है तथा चिकित्सा प्रणाली भी असंदिग्ध हो सकती है अतः आप किसी विषय को लेकर जिज्ञासा आरंभ करें।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! आपका परम अनुग्रह है जो कि आपने मेरे जैसे अशिक्षित के लिये शिक्षा का सरल मार्ग निकाला है। मुझे आप के अनुग्रह पर पूर्ण आशा है कि आप मेरी विनय को स्वीकार कर तथा मुझे अपना शिष्य एवं जिज्ञासु जान मेरे संशय को दूर करने में कोई बात उठा न रखेंगे, जिससे मैं निज को कृतकृत्य समझूंगा।

महर्षि—बेटा ! ऐसा ही होगा।

नव्य चिकित्सक—गुरुवर ! आजकल बहुधा प्रचलित व्याधि घोरातिघोर जीवन को भी संशय में डालने वाली चिकित्सा से वैद्यों का मुख मोड़ देने वाली नवयुवकों के लिये साक्षात् मृत्यु का आमन्त्रण देने वाली तपेदिक या ( टी० बी० ) नाम से प्रसिद्ध हो रही है। इसमें थोड़ा २ ज्वर, खांसी, फुफ्फुसों की दुर्बलता दिन २ बढ़ती जाती है आंखों और नाखूनों का रङ्ग सफेद होता जाता है, क्रम से खून की कमी और शरीर की धातुयें सूखने लगती हैं। इस तरह मनुष्य असाध्य होकर मौत का शिकार बन जाता है। क्या आयुर्वेद में भी इस बीमारी का वर्णन आया है! तथा यह किस कारण से होती है ? और किस प्रकार की मानी जाती है ?

महर्षि—भाई ! आयुर्वेद में भी इस व्याधि का विस्तृत वर्णन मिलता है, इसे शोष या राजयक्ष्मा

एवं क्षय रोग कहते हैं। आयुर्वेद में सम्पूर्ण रोगों के कारण वात, पित्त और कफ इन दोषोंके विकार यानी बिगाड़ को ही माना है। जब मनुष्य मानसिक संकल्प विकल्पों के आधीन होकर मन की रजोवृत्ति अथवा तमोगुणी वृत्ति का आश्रय लेकर इन्द्रियों का दास बन जाता है और धर्माधर्म पाप-पुण्य आदि का विचार न करके मनमाने आहार और विहारों को करने लग जाता है एवं उसके असंयमित आहार और मनोकल्पित व्यवहार से शरीरकी धातुयें बिगड़ जाती हैं जिससे वात, पित्तादिकों की साम्य अवस्था में गड़बड़ मच जाती है जिससे शरीर और धातुओं में विषमता उत्पन्न होकर अनेक व्याधियों का प्रादुर्भाव हो जाता है, अर्थात् वह विकृत हुए दोष अथवा धातुयें अपने गुण कर्म के सदृश बाहिरी आहार विहारों के गुण कर्मों को प्राप्त कर बलवान हो जाते हैं तथा आपाद मस्तक शरीर में घूमते २ जहां स्वगुणानुकूल स्थान देखते हैं वहां ही कार्य करने लगते हैं। उसे ही व्याधि या रोग का प्रगट होना कहा जाता है।

नव्य चिकित्सक—महाराज! क्या "शोष" और "यक्ष्मा या क्षय" दोनों बीमारियां एक ही हैं?

महर्षि—नहीं, धातुओं की वृद्धि का रुक जाना और मनुष्य के अङ्ग प्रत्यङ्गों का सूखते जाने का नाम "शोष या सूखा" है। और रसादि शुक्रान्त धातुओं के क्षय या क्षरण होने एवं निकलते जाने का नाम "क्षय या राजयक्ष्मा" है।

नव्यचिकित्सक—महाराज! फिर आपने शोष और क्षय को एक कैसे बताया है?

महर्षि—बेटा! शोष रोग तो स्वतन्त्र भी हो जाता है। तथा बिना व्याधि के भी वृद्धावस्था में शोष हो जाता है किन्तु राजयक्ष्मा यानी क्षय रोग बिना किसी प्रकार का धातु शोष हुए नहीं होता अर्थात् शोष के साथ क्षय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि शोष को क्षय रोग राजयक्ष्मा की पूर्वावस्था कहा जावे तो भी हानि नहीं। क्योंकि शोष के और क्षय यानी राजयक्ष्मा के उत्पादक कारण मिलते-जुलते हैं।

नव्य चिकित्सक—महाराज! आपके इस सार गर्भित सद् विवेचन से मेरा बहुत सा सन्देह निवृत्त हो चुका है, मैं यह तो अवश्य मान चुका हूं कि आयुर्वेद शास्त्र प्रत्येक रोग का कारण वात पित्तादि तीनों दोषों को ही मानता है, किन्तु मेरे हृदय में यह बात ठीक नहीं जंचती क्योंकि मैंने "अणुवीक्षण यन्त्र से" अपनी आंखों से मलेरिया फिवर टाइफाइड फिवर वगैरा बहुत से ज्वरों के तथा अन्य बीमारियों के कीटाणुओं यानी छोटे २ कृमियों (कीड़ों) को शरीर में विचरते देखा है। इस शोष रोग और क्षय रोग के भी एक विशेष कीटाणु ही पाये जाते हैं। वात पित्तादिकों तो कहीं भी नहीं देखा है। तो क्या यह हमारा प्रत्यक्ष देखना गलत है? जबकि आजकल के तमाम रिसर्चर और डाक्टर इसको मानते हैं। सो यह गलत कैसे माना जाय।

महर्षि—बेटा! तुम्हारा कथन ठीक है। किन्तु यंत्र केवल स्थूल दृष्टि का विचार करता है। शरीर में विचरने वाले वात पित्तादि सूक्ष्म हैं जो स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं देते, तथा जब तक शरीर में प्राण है श्वासों का गमनागमन बना है तब तक इनके कार्य चलता रहता है। प्राणों के निकलते ही इनका तमाम व्यापार बन्द हो जाता है। अतः यह किसी

यन्त्र से दिखाई नहीं देते, किन्तु ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जासकता है कि वह है या नहीं है। क्योंकि उनके विकार से जो बीमारी शरीर में पैदा होती है उससे उनका होना मान लिया जाता है। एक मनुष्य के वायु प्रकोप से स्वर भङ्ग था। मैंने उसको बतलाया कि आपके स्वर (आवाज) से प्रतीत होता है कि आपके कण्ठ में वायु ने स्वरभङ्ग उत्पन्न किया है, आप डाक्टर से भी दिखा लें, उसने वैसे ही किया, डाक्टर ने एक्सरे से देखकर कहा गले में कोई नुक्स नहीं है, न तो नाड़ियों में सूजन है और न कफ वगैरा की रुकावट फिर पता नहीं कि गले में क्या हुआ है। वस्तुतः वह देखें और बतलावें भी क्या ? वायु विभु सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो योगियों की दृष्टि से ही जानी जा सकती है, हमारी स्थूल चर्म दृष्टि वहां देखने में समर्थ नहीं होती अतएव यह शरीर में होते हुए भी किसी उपाय से दिखाई नहीं देते फिर अणुवीक्षण यन्त्र से क्या दीख पड़ेंगे।

नव्य चिकित्सक--गुरुवर ! कीटाणु तो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। फिर प्रत्यक्ष को छोड़कर अनुमान की क्या जरूरत है।

महर्षि—बेटा ! सारी बातें प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती, मनुष्य शरीर में रक्त का होना जैसे प्रत्यक्ष से जाना जाता है वैसे रक्त में वीर्य का होना प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता, गर्भ में बालक बालिकाओं का होना भी अनुमान से ही ज्ञात होता है, इतना ही नहीं बल्कि शरीर की गति के होने तथा न होने से ही शरीर में आत्मा का होना या न होना ज्ञात होता है, यही बात अणुवीक्षण यन्त्र से क्रिमियां यानी छोटे २ कीड़ों के प्रत्यक्ष देखने की है। उनके विषय में भी विचार करने की जरूरत है। यानी देखना तो यह है कि क्या यह कीटाणु सृष्टिकर्ता परमात्मा ने सृष्टि का निर्माण करते ही निर्माण कर दिये हैं अथवा इनकी उत्पत्ति पीछे से हुई है।

नव्य चिकित्सक–महाराज ! यही देखा गया है कि प्रत्येक बीमारी के कीटाणु बाहिर से जब शरीर में प्रवेश करते हैं तो उनके संयोग से बीमारियां पैदा होती हैं, अन्यथा नहीं।

महर्षि—बेटा ! बाहर कीटाणु कहां से आये यदि परमात्मा ने पैदा किये हैं तो ईश्वर निर्मित और वस्तुओं की तरह यह कीटाणु पहिले भी थे, और अब भी हैं तथा आगे भी रहेंगे। तब तो मानना पड़ेगा कि दयालु प्रभु ने कृपा करके हमारे लिये शुरू से यह बीमारियां पैदा कर रखी हैं जो सतत बनी रहेंगी, तथा सभी को भोगनी पड़ेंगी। फिर हमारा यत्न व्यर्थ है, हां यदि हम कोई ऐसा यत्न करें जिससे ईश्वर निर्मित यह तमाम कीटाणु समाप्त होजावें तो हमें पूर्ण सफलता मिल सकती है, क्या यह बात आपकी समझ में आ गई।

नव्य चिकित्सक—हां, महाराज ! यह तो नहीं कहा जा सकता कि हम लोगों को दुःख में डालने के लिये उस परम पिता परमात्मा ने उन २ व्याधियों के कीटाणुओं को उत्पन्न किया है। पीछे से ही किसी प्रकार के संमीश्रण से इनकी उत्पत्ति हो सकती है, जैसे वर्षा में पानी मिट्टी और अन्य गन्दे बदबूदार पदार्थों की सड़ाँद से मलेरिया के उत्पादक मच्छरों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही दूसरी दूसरी बीमारियों के कीटाणु उत्पन्न होने हैं। क्योंकि यह अक्सर देखा गया है कि कई

क्रिमि एक मौसम में पैदा होते और वह दूसरी ऋतु या मौसम में नहीं रहते, यानी ईश्वर की सृष्टि में नूतन उत्पत्ति और विनाश भी होता रहता है।

महर्षि—वेटा! जब यह बातें सिद्ध होगई कि कीटाणुओं की उत्पत्ति पीछे से कई वस्तुओं के संमिश्रण से होती है। तो अब आप ही विचार कर कहें कि वह वस्तुयें कौन २ सी हैं, बाहिर के और शरीर के भीतर के क्रिमि किस २ वस्तु की मिलावट से उत्पन्न होते हैं।

नव्य चिकित्सक—महाराज इतनी गहराई तक तो मैं नहीं पहुंच सकता मगर इतना जरूर कह सकता हूं कि जैसे वर्षा काल में बूदार पानी और गन्दे कीचड़ वगैरा से मच्छरों की पैदायश होती है वैसे ही मौसम की आबहवा सरदी, गर्मी, धूप या गैसें और धुआं वगैरह से और २ बीमारियों के जरमस पैदा होते हैं। जैसे गन्दे, बासे, बूदार पदार्थों के खाने या गन्दी जगहों का पानी वगैरह पीने से पेट में बदहजमी के कारण विशूचिका यानी हैजा के कीड़े पैदा होते हैं और वह हैजा या महामारी कालरा वगैरा को पैदा करते हैं। वैसे ही और २ बीमारियों के भी कीड़े शरीर के भीतर किसी खराबी से पैदा होते हैं किन्तु अर्वाचीन विद्वान यह नहीं बता सकते कि किस खराबी से कौन से क्रिमि पैदा होकर कौन सी बीमारी पैदा करते हैं। हां पैदा शुदा बीमारी में अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा कीड़ों को देखकर उनकी फोटो ली जाती है तथा उससे यह बताया या निश्चय किया जाता है कि यह अमुक बीमारी के क्रिमि हैं। इनकी शक्ल या आकृति इस प्रकार की है।

महर्षि—वेटा! धन्य हैं तुम्हारे विचार, बहुत अच्छे हैं तथा आपने जिन विचारों को सुना या पढ़ा है भली भांति विचारा है, अगर उनमें कुछ कमी है तो उस नवीन विज्ञान में कमी है। आपके विचारों में नहीं मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूं। वेटा! क्या अब तुम बतला सकते हो कि क्या सभी बीमारियां एक ही गुण कर्म स्वभाव वाली होती हैं? अथवा भिन्न २ गुण कर्म स्वभाव वाली होती हैं, और ऐसा क्यों?

नव्य चिकित्सक—महाराज! कई एक समान स्वभाव वाली और कई अलग २ गुण कर्म स्वभाव वाली होती हैं। जैसे कोई बुखार सरदी लगकर आता है और किसी में सरदी नहीं लगती, इसी तरह किसी में बेचैनी प्यास और खांसी वगैरह होती है, किसी में कुछ भी नहीं होता। यह बातें तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं इसमें पूछना ही क्या है। अकेले मलेरिया बुखार में ही कई किस्में पाई जाती हैं, लेकिन आप इन बातों को स्वयं पूछ रहे हैं ये बातें तो सीधी हैं, जिनको सब लोग जानते हैं।

महर्षि—वेटा तुम को समझाने के लिये।

नव्य चिकित्सक—गुरूजी कैसे?

महर्षि—वेटा! तुमने कहा है कि अणुवीक्षण यन्त्र से हम प्रत्यक्ष उन २ रोगों के सूक्ष्माणुओं को देखते हैं। वात, पित्तादि दोषों को नहीं देख पाते। अतः क्रिमियों द्वारा व्याधि की उत्पत्ति मानना तथा उसी प्रकार से चिकित्सा करना श्रेयस्कर जान पड़ता है।

नव्य चिकित्सक—हां महाराज! मेरा भाव तो मोटी तौर पर यही है, कि जो वायु, पित्त वगैरा हमें दीख ही नहीं पड़ते। उनके द्वारा चिकित्सा करना तो अन्धे कूप में पत्थर फेंककर पानी को टटोलना है।

महर्षि—बेटा ! तुम यह भी मान चुके हो कि इन रोगोत्पादक कीटाणुओं की उत्पत्ति नूतन किसी प्रकार के जलवायु के संमिश्रण से होती है जैसे मलेरिया अथवा हैजा के जन्तुओं की।

नव्य चिकित्सक—हां महाराज ! इसमें क्या शक है। क्या ईश्वर इनको पैदा करके हमारे लिये बीमारियां खड़ी कर सकते हैं। हरगिज नहीं।

महर्षि—आपने भी स्वीकार कर लिया है कि बीमारियां सभी एक ही गुण कर्म स्वभाव वाली नहीं होती बस फिर रहा क्या ?

नव्य चिकित्सक—कैसे महाराज ! आपकी बात समझ में नहीं आई इससे क्या सिद्ध हुआ ?

महर्षि—बीज से अंकुर उत्पन्न हुआ तो बीज समान गुण कर्म स्वभाव वाला होगा। जैसे गेहूं यानी कनक, लाल फारम, गोजी, काली, लम्बी वगैरा जिस प्रकार के बीज से उत्पन्न होगी उसकी आकृति वा गुण कर्म स्वभाव उसी बीज के समान होंगे। वैसे ही जवारी-बाजरा-,चावल, चने-मटर वार्ताक आदि अपने २ बीज के सदृश स्वभाव वाले ही उत्पन्न होंगे। प्रायः पिता के तुल्य पुत्र और माता के तुल्य कन्या गुण कर्म स्वभाव के देखे गये हैं।

नव्य चिकित्सक—इन सबकी पैदायश और गुण कर्म स्वभाव के बनने में आबहवा और जमीन के गुण कर्म स्वभाव भी तो मददगार माने जाते हैं उनका भी असर इन पर पड़ेगा।

महर्षि—हां बेटा ! बीज का और आबहवा तथा भूमि के गुणों का प्रभाव भी अवश्य अंकुर और उससे उत्पन्न होने वाले गेहूं चने वगैरा फलों पर पड़ेगा ठीक है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! तो इससे क्या सिद्ध हुआ ?

महर्षि—बेटा ! अब आप यह तो जान गये हैं कि गेहूं, चने, मटर, धान वगैरह जितनी भी वस्तुयें भूमि मे अथवा वृक्ष आदि वनस्पतियों से उत्पन्न होती हैं, उन पर भूमि, उदक, वायु और जल एवं सूर्य तथा बीज वगैरह का प्रभाव जरूर पड़ता है अर्थात् एक ही जाति के गेहूं, चने, चावल वगैरा अगर भिन्न २ प्रान्तों की भूमि में उत्पन्न होंगे तो उस २ प्रांत की भूमि जल और वायु के प्रभाव से भिन्न २ गुण कर्म स्वभाव वाले होंगे यह बात ठीक है न ?

नव्य चिकित्सक—महाराज ! यह जरा पेचीदा मामला है, मेरी समझ में नहीं आया।

महर्षि—बेटा ! कोई पेच वाली बात नहीं, जरा ध्यान दो। मुम्बई के इलाका की गेहूं जरा काली और लम्बी होती है, उसे कितना भी घी दूध चुपड कर एक बार खा लेवें तो दूसरी बार भूख नहीं लगती। ऐसे ही सिन्ध की हालत है, उस प्रांत मे लोग जवारी और बाजरी एवं गर्म मसाला और लाल मिर्च अधिक सेवन करते हैं। किन्तु पञ्जाब की गेहूं दोल दानेदार सफेद अथवा लाल रङ्ग की होती है, उसे दिन में दो तीन बार खाने से अथवा किसी मुल्क में किसी प्रकार रूखी-सूखी खा लेने से भी भूख प्यास वगैरह में कोई नुक्स नहीं खड़ा होता। इससे जान पड़ता है कि सभी धान्य राशि एक समान होने पर भी प्रांत २ की जमीन जल और वायु के प्रभाव से भिन्न २ गुण कर्म स्वभाव वाली हो जाती हैं अर्थात् एक जाति की वस्तुओं में जो गुण कर्म में विभिन्नता दीखती है वह प्रांतीय

गुण कर्म स्वभाव की विभिन्नता से होती है। तो अब आप यह बतायें कि प्रांतीय गुणों में भिन्नता क्यों होती है। यानी मुल्क २ की आबहवा निराली निराली क्यों पाई जाती है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! ठीक है आपका कहना है. हर एक प्रान्त की आबहवा जब एक जैसी नहीं होती तब उस एक इलाका में पैदा होने वाली वस्तु एक ही गुण कर्म स्वभाव वाली कैसे हो सकेगी। लेकिन महाराज ! प्रान्त २ की आबहवा में तो इसलिये अन्तर नजर आता है कि कोई प्रांत ऊंचा है और कोई नीचा है, किसी मे सूर्य ताप अधिक है तो किसी मे हवा ज्यादा चलती है और किसी म रेती २ ही उड़ती है, क्या इसमे भी कोई बात सिद्ध होती है।

महर्षि—बेटा ! हां इस अन्तिम निर्णय से ही तो सब बातें सिद्ध हो जाती हैं, आओ जरा अब आपको आयुर्वेद सिद्धान्त बतलावें तथा वायु, पित्त कफ आदि के गूढ़ रहस्य को सुलझावें।

नव्य चिकित्सक-महाराज आपका परम अनुग्रह है, कहिए कैसे ?

महर्षि-बेटा ! पुरातत्ववित् त्रिकालदर्शी महर्षियों का माना हुआ, सृष्टि के आदि काल से प्रचलित आयुर्वेद शास्त्र मानता है कि ईश्वर निर्मित सृष्टि में उसकी आज्ञा से सूर्य, सोम ( चन्द्र ), और वायु यह तीन शक्तियां ही दुनियां में तमाम वस्तुओं के भरण पोषण का काम करती हैं। सूर्य का ही रूप अग्नि और सोम (चन्द्र) का रूप जल और वायु का रूप हवा मानी है। एवं भूमि और आकाश यह पांच वस्तुयें दुनियां के कारोबार को चलाती हैं। मौसम में भी सूर्य चन्द्रमा और वायु के परिवर्तन से ही परिवर्तन होता रहता है। कभी गर्मी ज्यादा पड़ती है तो कभी जाड़ा, और कभी हवा ज्यादा चलने लगती है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों के गुणों की कमती और बढ़ती में तमाम गुण बदलते रहते हैं। इनके संयोग से जो २ वस्तु जिस २ प्रांत में जब २ पैदा होगी, उस २ वस्तु में उनका वह २ गुण प्रधान रहेगा। क्या यह बात आप की समझ में आ गई।

नव्य चिकित्सक-हां महाराज ! अच्छी तरह समझ गया हूं लेकिन इसमें वात, पित्त, कफ का तो ठिकाना भी नहीं ?

महर्षि-बेटा ! ठहरो अभी बतलाये देता हूं। बेटा ? तुम यह तो जानते हो कि हम जैसा अन्न खाते हैं हमारा जिस्म भी वैसा ही बनता है. यानी यदि हम गेहूं, घी, चावल वगैरा पौष्टिक वस्तुओं को खावेंगे तो हमारा शरीर पुष्ट और ताकतवर होगा और अगर हम रूखा सूखा और सड़ा भुना निस्तेज अन्न खावेंगे तो हमारा शरीर निर्बल और निस्तेज होगा।

नव्य चिकित्सक-हां महाराज ! यह तो बात बनी ही है कि चिकना-चुपड़ा खाने से बदन अच्छा होता और मन, बुद्धि, दिमाग वगैरा अच्छा काम करते हैं। नहीं तो शरीर भी भद्दा और दिमाग भी भद्दा हो जाता है।

*महर्षि—बेटा ! ऐसा क्यों होता है ?*

नव्य चिकित्सक—महाराज ! यह एक २ चीज का गुण होता है और दूसरी में वह नहीं होता।

महर्षि—बेटा! अब जरा और गहरी दृष्टि डाल कर इस बात को विचारो कि जब उन वस्तुओं को

ताकत पैदा करने का गुण और निर्बलता उत्पन्न करने का दोष हमारे शरीर में आ जाता है तो क्या यह वस्तुयें जिस मौसम या जिस जमीन तथा जल-वायु से पैदा हुई हैं, उन २ वस्तुओं यानी अग्नि, जल और वायु का प्रधान २ गुण अर्थात् गर्म ठण्डा और खुश्क आदि गुण वा दोष उन २ वस्तुओं में नहीं आता ? यह कैसे माना जावे ? जरा सोचो?

नव्य चिकित्सक—महाराज ! इससे तो जान पडता है कि उस वस्तु के सभी गुण फिर चाहे वह खुद के हों या भूमि जल वा मौसिम के लिहाज से हों, हमारे शरीर में आ सकते हैं यानी अगर हम अग्नि गुण प्रधान वस्तुओं को खावें तो जल अथवा वायु का गुण हमारे शरीर में आ सकता है। इसमें शक नहीं लेकिन वात, पित्त आदियों का पता नहीं लगा।

महर्षि—बेटा ! अब तो वात पित्त आदियों की सिद्धि तुम्हारे सामने खड़ी है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! कैसे ?

महर्षि—बेटा ! तुम यह तो मान गये कि दूध वगैरा ताकतवर चीजों का गुण और रूखी चीजों का निर्बलता पैदा करने का दोष हमारे शरीर में आजाता है, इस तरह दूध घी चणे बाजरी वगैरा जिस ऋतु ( मौसम ) तथा देश वा जिस आबहवा में पैदा हुए हैं, उनके संयोग से जो गर्मी खुश्की वा तरी उन पदार्थों में अपना प्रभाव दिखा रहा है, उन पदार्थों के खाने पीने से हमारे शरीर में जो रस रक्त मांस मेद आदि धातुएं बनेंगी उन धातुओं में भी गर्मी सरदी खुश्की वगैरा के गुण व दोषों का प्रभाव जरूर पड़ेगा। क्या यह ठीक है न।

नव्य चिकित्सक—हां महाराज ! यह बिलकुल ठीक है। इसे सब दुनियां मानती है।

महर्षि—बस, अब शरीर में रहने वाले वायु पित्त आदि को समझ लो, शीतल वस्तु के खाने पीने से जो शीत का गुण हमारे शरीर में उत्पन्न होता है उसे "वात" और गर्म वस्तुओं के खाने पीने से तथा गर्म मुल्क की जलवायु से एवं वैसे ही व्यवहार से जो गुण हमारे शरीर में उत्पन्न होता है उसे "पित्त" और भारी चिकिनी लेसदार चीजों के खाने पीने से तथा जल प्राय प्रदेश में रहने एवं दण्ड कसरत व्यायाम वगैरा न करने से जो गुण हमारे शरीर में उत्पन्न होता है उसे आयुर्वेद ने "कफ" कहा है। किन्तु यह वस्तु ताकतवर है, और यह वस्तु निर्बल है, इस बात को विज्ञान नहीं जान सकता है। उस वस्तु के खाने पीने से जो शरीर पर प्रभाव पड़ता है उससे जाना जाता है। वैसे ही शरीर में विचरने वाले वायु पित्त और कफ का ज्ञान उनके प्रभाव से हो सकता है, यानी उनसे जो बीमारियां पैदा होती हैं, उनमें जिसमें सरदी के गुण अधिक पाये जावें उसे वायु की और जिसमें गर्मी के गुण ज्यादा हों उसे पित्त की और जिसमें तरी के ( कफ ) के गुण बहुत हो उसे कफ की व्याधि माना जाता है। फिर चिकित्सा करते समय ये सब बातें देखी जाती हैं कि बीमारी किस जगह और किस ऋतु अथवा किस काल में तथा कैसे खान पान वगैरा व्यवहार से पैदा हुई हैं। उस रोगी की प्रकृति गर्म सरद या कफ वाली है। वह किस देश वा माता पिता से उत्पन्न हुआ है। उनका खान पान व व्यवहार कैसे था इत्यादि बातों का विचार कर फिर आयुर्वेद की चिकित्सा या इलाज का आरम्भ होना है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! धन्य हो आपका परम अनुग्रह है, आपने बहुत सरलता से इस कठिन सिद्धान्त को मुझे समझा दिया है, मैं खूब अच्छी तरह से इस सिद्धान्त को समझ गया हूं, वस्तुतः महर्षियों का निर्मित यह आयुर्वेद सिद्धान्त अमूल्य सिद्धान्त है और इसको भली प्रकार जानकर की हुई चिकित्सा भी अकाट्य है, किन्तु क्षय रोग अथवा जरमस थीवरी यानी कीटाणुवाद पर जो परामर्श चल रहा था उसका निर्णय कैसे किया जाये।

महर्षि—बेटा ! क्षयरोग वा ज्वर आदि सम्पूर्ण व्याधियां हमारे खाने पीने और वाकी के व्यवहार के बिगड़ जाने से अथवा माता पिता की जो धातुएं बिगड़ी हुई सन्तान में आती हैं, उनसे या अदृष्ट पीछे किये पुण्य पाप और धर्माधर्म से हमारी शरीर की धातुओं को बिगाड़ कर शरीर में प्रगट होती है। अथवा आपके मच्छरों से पैदा होने वाले मलेरिया की तरह किसी प्रकार को जहरीली वस्तु के शरीर में विकार उत्पन्न कर देने से पैदा होती है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! फिर क्या आपके विचार से भी कीटों के जहरीले खून से बीमारियां पैदा होती है ? तो आयुर्वेद भी कीटाणु वाद यानी कीटों से बीमारियों का पैदा होना मानता है ?

महर्षि—बेटा ! तुम्हारी समझ में थोड़ा अन्तर है।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! कैसे ?

महर्षि—बेटा ! यह पहिले बताया जा चुका है कि आबहवा भूमि जल और सूर्य तथा मौसम के सम्बन्ध से जिस २ गुण वा दोष वाली जो २ वस्तु प्राणियों के खाने पीने या व्यवहार में आती है, उसका असर हमारे शरीर पर पड़ता है। वह शरीर की बिगड़ी हुई धातु जब दूसरे शरीर में किसी प्रकार प्रवेश कर जावेगी तो उस शरीर में वही बीमारी पैदा कर देगी, जैसे मच्छरों से अगर मलेरिया उत्पन्न होता है तो वह मच्छर जिस गर्म शरद तथा खुश्क आबहवा देश व मौसम में उत्पन्न होगा उसकी रस रक्त आदि धातुओं मे वही गुण प्रधान होंगे, फिर उसका खून जिसके शरीर मे चला जावेगा उसकी धातुओं पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा और वैसे ही गुण वाली बीमारी पैदा होगी।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! इसका तात्पर्यार्थ क्या हुआ ?

महर्षि—बेटा ! आयुर्वेद में अपने शरीर के बिगड़े वात पित्तादि दोषो से उत्पन्न हुई बीमारी को दोषज और बाहर की गर्मी सर्दी जहर वगैरा से पैदा हुई बीमारी को आगन्तुज माना है। सभी मे वात पित्तादि दोष ही कारण है, फिर चाहे वह अपने शरीर के हों अथवा बाहिर की वस्तुओं के हों।

नव्य चिकित्सक—महाराज ! अगर ऐसी बात है तो क्या फिर आयुर्वेद के मत से कीटाणु है ही नहीं ?

महर्षि—नहीं बेटा ! कीटाणुओं से जैसे यह बाहरी ब्रह्माण्ड भरा दीखता है वैसे ही हमारा शरीर भी इनसे भरा है। रस में रक्त में मलमूत्र अन्न विष्ठा आदि में शुक्रान्त धातुओं में कृमि रहते हैं। लेकिन वह रोगोत्पादक नहीं होते, जो

धातुएं वात पित्तादिकों के बिगाड़ से बिगड़ जाती हैं, उनमें कीचड़ की सड़ान की तरह जो रोग विशिष्ट जन्तु पैदा होंगे वह जरूर शरीर में व्याधि को फैलावेंगे और दूसरों में जाकर बीमारी पैदा कर सकेंगे। अर्थात् आयुर्वेद मानता है कि शरीर में कोई विकार या बीमारी पूर्वोक्त रीति से वात पित्तादिकों से ही प्रथम उत्पन्न होती है, पीछे उसके चिरकाल रहने से या उसमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होने से कीटाणु या कृमि उत्पन्न होजाते हैं। किन्तु वृक्ष के मूल की तरह सभी बीमारियों का मूल वात पित्तादि तीनों दोष ही हैं।

नव्य चिकित्सक--महाराज! छूत की बीमारियां यानी कोढ़, भगंदर, ज्वर, दाद और क्षय रोग वगैरा में दूसरे के शरीर में क्या वस्तु प्रवेश करेगी। रोगी के जरमस या वात पित्तादि दोष ?

महर्षि—बेटा! एक साथ खाने पीने बैठने उठने या श्वासोपश्वास लेने देने से वात पित्तादि दोषों से मिले प्रमाण तथा उनके विकार से बने जरमस या कृमि भी दूसरे के शरीर में प्रवेश करते हैं, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

नव्य चिकित्सक--महाराज! आपके अनुग्रह से मेरा सन्देह दूर होगया, मैं अच्छी तरह समझ गया हूं कि नव्य चिकित्सक ऊपर २ खोज करते हैं और आयुर्वेद गहरी सतह तक पहुंचा हुआ है, धन्य है।

---

# परीक्षित प्रयोग

## क्षयामृत-

७५-मुक्ता मुक्ता की जड़
श्वेत धान्य अभ्रक मोती अनविधि
वैकान्त —प्रत्येक ३-३ माशा

—पांचों को पृथक २ तीन-तीन दिन नीबू के रस में खरल करें, फिर सबको मिला कर उसमें बुरादा या वर्क सोना और बुरादा या वर्क चान्दी ३-३ माशा और मिला कर तीन तीन दिन रस नीबू, रस तुलसी, रस पान और रस मकोय मे खरल करके टिकिया बना लें, और गुलाब पुष्प पाव भर लेकर लुगदी करके अंदर में टिकिया रख कर ७—८ सेर कण्डों की अग्नि देवें। अगर उत्तम भस्म न हो तो कांटे वाली चौलाई के रस में खरल करके टिकिया बना कर चौलाई की लुगदी में रख कर वैसे ही अग्नि देवें, उत्तम भस्म होगी, उसको खरल में डाल कर एक पाव उत्तम अर्क गुलाब में खरल कर लें। इसकी मात्रा एक रत्ती है।

यह क्षय और राजयक्ष्मा के वास्ते अति उत्तम योग है, एक बार या दो बार गधी के दूध से देवें, गधी का दूध न मिले तो बकरी का दूध लेवें। "च्यवनप्राश" आदि औषधि साथ २ जारी रहे।

मक्खन या मलाई से यह योग पौष्टिक और वीर्य विकारों का नाशक भी है।

—कविविनोद वैद्यभूषण श्री० पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा वैद्य, लाहौर।

## क्षय हर अनुभूत योग-

क्षय रोग असाध्य है। यह बड़ी कठिनता से पूर्ण आयु के योग होने पर आराम होता है। इसको आराम करने वाले वैद्य तथा औषधियां बहुत कम हैं। जिन्हें इस बीमारी को मिटाने की दवाइयां याद हैं। वे बताने को तैयार नहीं हैं। परन्तु धन्वन्तरि पत्र क्षय रोग पर उपकार के लिये विशेषांक निकाल रहा है। अत. रोगियों के तथा धन्वन्तरि के ग्राहकों को अपने अनुभूत प्रयोग भेंट करता हूं।

याद रखिये जब तक इन्द्रियों के कार्य्य ( बोल चाल, खान-पान, उठना-बैठना, दिमाग, दिल, फुफ्फुस ठीक रहे, सुगन्ध, दुर्गन्ध, देखना, सुनना ) नहीं मिटता और मांस मेदा रक्त रहता है। तब तक ये दवाइयां फायदा करती हैं। रस रक्त मांस मेदा मज्जा शुक्र नष्ट होने पर दवाई फायदा नहीं करती है।

## श्वेत दुर्वादि योग-

७६-श्वेत दूर्वा का चूर्ण १ तोला प्रति दो घण्टे पर बिना मीठे के गाय या बकरी के दूध आध पाव के साथ दिन में ६ बार देना चाहिये। भूख अधिक लगे तो दूर्वा प्रति बार २ ३-४ तोला तक प्रति बार और दूध जितनी भूख लगे बढ़ाकर देना चाहिये।

७७-कडुवी लोणा।) भर जिसके लदमणा, मृत-संजीवनी, कटु लोणा आदि अनेक नाम हैं। काली मिर्च ११ नग घोट कर प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल पीना चाहिये। पथ्य

केवल गाय का दूध औटाकर भूख के अनुसार बिना मीठा डाले पीना चाहिये। यह ४० दिन का प्रयोग है।

## नरकपालस्थि योग–

७८–रोग रहित युवा पुरुष जिसको फांसी हुई हो उसके खोपड़ी के भीतर की फुकी हुई हड्डी या फेफड़े की हड्डी का महीन चूर्ण १ माशा, मक्खन १ तोले में मिला कर चाटना चाहिये। पथ्य में केवल गाय का दूध पान करना चाहिये, अन्य कुछ नहीं।

## कर्कट योग–

७९–ऽ॥ या ऽ३ के एक केकड़े को हांड़ी में रख कर शराव सम्पुट कर क्षय रहित मृत मनुष्य की चिता में भस्म कर लेवें। भस्म श्वेत होनी चाहिये। यदि भस्म श्वेत न हो तो फिर भस्म सफेद बनाना चाहिये। मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक। मधु १ तोला और मक्खन २ तोला मिलाकर चाटना चाहिये। पथ्य में बिना मीठे का दूध पीना चाहिये। यदि शर्करा देकर पीनी हो तो काले सर्प की खाद देकर उत्पन्न की हुई ईख की चीनी देकर पीना चाहिये। यह अपूर्व और अव्यर्थ प्रयोग है।

## इक्षुप्रयोग–

८०–काले विषधर सर्प को मारकर मिट्टी में मिला कर ईख तैयार करे वह ईख नित्य प्रति चूसने से निश्चय यक्ष्मा रोग नष्ट होता है।

प्रथम दिवस गन्ना ( ईख ) खाते ही रोगी को अमृत के समान गुण करने से रोग रहित हो जाता है। यदि काला सर्प जहर युक्त न होगा तो गुण नहीं कर सकता।

नवीन अनुसन्धान से पता लगा है कि विषधर काले सर्प की खाद से उत्पन्न ईख की शर्करा खाने से भी क्षय मिटता है, इसका प्रयोग भी करके देखा गया है।

## पारद योग–

८१–पारद और हीरा को मिलाकर बनाई हुई भस्म से क्षय अवश्य मिटता है। इसमें पारद बुभुक्षित होना चाहिये। इससे क्षुधा बहुत होती है। इसमें केवल असली घृत का हलवा, रबड़ी, मलाई, दूध, पूरी, खीर खाना चहिये।

इससे शरीर मोटा, तेजस्वी और कोसों तक चलने की शक्ति होजाती है। काया कल्प ( नवीन शरीर ) हो जाता है। इसमें सब प्रकार की खटाई, मिर्च, स्त्री का एक बार सेवन भी काल है, इससे बचना चाहिये।

—श्री० पं० भागीरथ स्वामी जी कलकत्ता।

## राजयक्ष्मा पर अपूर्व योग–

८२–गिलोय सत्त वंशलोचन
छोटी इलायची —तीनों ७–७ माशे
सत्त मुलेठी ( घन सत्व ) ९ माशे
कहरवा समई ९ माशे
कद्दू की मिगी १ तोला
गिले अरमनी पपरिया कत्था
लाख पीपल की बैसाखी –७-७ माशे
कतीरा गोंद बबूल भुना
दोनों ३—३ माशे

—इनको कूट छान कर शर्बत बनफसा में दे, सवेरे

शाम। मात्रा—१-३ माशे देना। इससे शुष्क कास, छाती की जलन, कफ के साथ रक्त आना, ज्वर की ऊष्मा शीघ्र नष्ट हो जाती है।

## क्षयार्कः—

८३-अडूसे के फूल ऽ१। सेर
मुलैठी बहेड़े का बकल
भारङ्गी डेढ़ डेढ़ पाव
पीपर छोटी आध पाव
अनार का छिलका ऽ॥≈ छटांक
सोंठ पोहकरमूल अमली
कटेरी की जड़ —५-५ छटांक

—सबको कूटकर जल १५ सेर में भिगोना फिर बकरी का दूध १० सेर डालकर भभके से अर्क खींचलेना। मात्रा॥ तोला। सवेरे और शाम पिलाना। इससे कफ जनित कास, श्वास नला में घर २ शब्द होना, कफ का अधिक मात्रा में निकलना और अधिक बनना इत्यादि प्रतिश्याय जनित रोग शीघ्र नष्ट होते हैं।

## अमृत विन्दु तैल कफ श्वास पर—

८४-जायफल जावित्री बादाम की मिंगी
मफेद चन्दन बड़ी इलायची के दाने
लौंग काले तिल पिस्ता
अकरकरा अजमायन
लोहबान कौड़ियां त्रिकुटा
शुद्ध गन्धक आमलासार

—इनको कुचल कर बालुका यन्त्र से तेल निकाल लेना। मात्रा—४-५ बूंद पान पर चुपड़ कर देना, इससे वात कफ जन्य रोग जैसे कास, श्वास, प्रमेह, मन्दाग्नि, शोथ, क्षय, उदर रोग, नष्ट होते हैं।

—श्री० पं० लक्ष्मीनारायण जी वैद्य फिरोजाबाद।

## गरीबों प्रयोग—

८५-चन्दन बुरादा सफेद मलियागिरी १ तो०
धनियां ६ माशे
मक्कजराइल १ माशे
इलायची सफेद मय बकल के २ माशा

—इनको पानी में पीस छानकर बकरी के पाव भर दूध में आधी छटांक शक्कर डालकर पीना चाहिये। ४० दिन तक प्रयोग ब्रह्ममुहूर्त में होना चाहिये। भगवती चाहेंगी तो कल्याण हो जायगा।

—श्री० वैद्य बैजनाथ प्रसाद, बरेठी।

## क्षय जनित खांसी पर वांसावलेह—

८६-क्वाथ—
अडूसा २ तोला
कटेरी की जड़ मुलेठी
काकड़ासिंगी बब्बुल की छाल
प्रत्येक १—१ तोला
जूफा भाङ्गी ६-६ माशे
हंसराज ३ माशे
लिसोड़ा १५ नग मुनक्का ११ दाने
क्वाथ जल ४० तोला
शेष जल १० तोला
मिश्री २० तोला

प्रक्षेप—
नागकेशर वंसलोचन पीपल
केशर प्रत्येक १॥-१॥ माशे
तज गिलोयसत्व १-१ माशा
चांदी के वर्क १५ नग

मात्रा—६ माशा से १ तोला तक।
गुण—श्वास, कास, रक्तपित्त और क्षय आदि में लाभदायक है।

—वैद्य रतनलाल जी जैन, मालपुरा (जयपुर)

## —आवश्यक-निवेदन—

श्री धन्वन्तरि भगवान की अनुकम्पा से आज नूतन वर्ष का नवीनतम विशेषांक "क्षय-रोगाङ्क" आप लोगों के कर कमलों मे देते हुए परम प्रसन्नता होरही है। निरन्तर दो-तीन महीने तक परिश्रम करने पर भी मनोऽनुकूल विशेषांक नहीं बना सका, इसका मुझे खेद है। वास्तव में मनुष्य जो सोचता है वह नहीं होता, यदि मनुष्य के इच्छानुकूल कार्य सम्पादन होता जाय तो न जाने मनुष्य क्या से क्या कर दे। परन्तु ऐसा विधि नियम नहीं है, होता वही है जो उस परमात्मा की इच्छा होती है। फिर भी जैसा बन सका आप लोगों की सेवा में समर्पित है। आशा है यह विशेषांक आप लोगों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा।

हमारे बहुत से पाठक तो प्रतीक्षा करते २ ऊब से गये होंगे, कुछेक प्रिय पाठक महोदय जो ने तो हम को पत्र द्वारा इस विशेषांक के लिये ऐसे २ प्रेरणात्मक शब्द का प्रयोग किया है कि मैं उसे पढ़कर क्षुब्ध हो जाता था किन्तु करता ही क्या, समय और परिस्थिति ने मुझे विवश कर दिया था, फिर भी उन महोदयों को समुचित उत्तर देकर सन्तोषित कर देता था। हां ऐसा हो सकता है कि इस पत्रोत्तरादि के बीच में कभी किसी महानुभाव के प्रति मैं कटूक्ति लिख दी हो जिससे वे महानुभाव मुझ पर रुष्ट होंगे, मैं उनसे क्षमा मांगते हुए अपनी विवशता तथा विशेषांक में विलम्ब क्यों हुआ संक्षेपतः इसका विवरण नीचे दिये देता हूं।

### विशेषांक में विलम्ब क्यूँ—

यह विशेषांक आज एक माह पश्चात् प्रकाशित होकर आप महानुभावों की सेवा में उपस्थित हुआ है। इसमें इतनी देर क्यों हुई, यह एक असाधारण प्रश्न है। आधुनिक महा संग्राम की प्रचण्ड ज्वालायें ऐसी भीषण रूप धारण कर इधर उधर दौड़ लगा रही है कि प्रायः कोई भी आबाल वृद्ध ऐसा नहीं होगा जो कि इस ज्वाला की लपट में न आया हो। फिर मैं कैसे अछूता रह जाता।

प्रिय पाठक गण! प्रथम तो हमको लेखों के लिये ही चिर दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब इसकी पूर्ति जैसे तैसे हुई तो प्रेस का सामान ( कागज, स्याही, ब्लाक ) आदि के लिये बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। यहां तक कि कई बार शिमला, देहली और आगरा आदि जाना पड़ा, फिर भी कार्य में असफल ही रह जाता था, ऐसा भी मौका आ गया कि विशेषांक की छपाई जब करीब ६० –७० पेज की रह गई तब कागज के अभाव से मुझे आठ-दस दिन तक बेकार बैठना पड़ा। फिर यह समस्या हल होने पर ब्लाक के लिये भी प्रतीक्षा करनी पड़ी। मेरा विचार था कि गत विशेषांकों की तरह इसको भी चित्र से भर दूंगा, किन्तु मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि मैंने Tuberculosis Association of India जिसके संरक्षक श्रीमान वायसराय महोदय हैं, वहां से १५ तिरंगे चित्र क्षय रोगियों के मंगाये थे, परन्तु हम उन्हें छपाने के

विचार में ही थे कि एकाएक उक्त संस्था से लौटा देने की खबर आ गई और वे चित्र बगैर छपे हुए वापिस कर देना पड़ा। इन्हीं कई कारणों से विलम्ब हुआ, आशा है कि पाठक महानुभाव हमारी विवशता पर ध्यान देते हुये क्षमा प्रदान कर मेरी तुच्छ सेवा से सन्तुष्ट हो मुझे उत्साहित करते रहेंगे। मैं अपने पाठकों को एक—

## आवश्यकीय सूचना—

द्वारा निवेदन कर देना चाहता हूं, वह यह कि हमारे बहुत से पाठक "धन्वन्तरि" समय पर नहीं पहुंचने या उसे पुनः भेजने आदि की शिकायत करते रहते हैं, उन महानुभावों को सूचित किया जाता है कि जिस महीने में धन्वन्तरि निकलता है, उस महीने के अन्त तक प्रतीक्षा कर उससे दूसरे महीने के १५ तारीख तक कार्यालय में सूचना मयपोस्ट-मास्टर के लिखित पत्रों के सहित आ जाना चाहिये कि हमको 'धन्वन्तरि' नहीं मिला है, आप भेज दें। उन्हें तो कार्यालय अङ्क भेज सकता है, अन्यथा इस अवधि के पश्चात् कोई भी सुनवाई नहीं होगी, क्योंकि अङ्क उतना ही छपता है जितने कि ग्राहक हैं। साथ ही अपना पता स्पष्ट अक्षर ( हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू ) में अपने ग्राहक नम्बर के साथ लिख भेजें। क्योंकि मेरा अनुमान है कि पते की गड़बड़ी से ही अङ्क ग्राहकों के पास नहीं पहुंचता है। कार्यालय में बहुत से ऐसे भी पत्र पड़े हुए हैं जिनमें पता का नाम तक नहीं और शिकायत से चिट्ठी भरी पड़ी है। ऐसे भी पत्र आते रहते हैं जिनका पता पढ़ना मुश्किल हो जाता है, ऐसी अव्यवस्था नहीं होनी चाहिये। ऐसी अव्यवस्था से दोनों को परेशानी होती है, ग्राहक महानुभाव इसे अवश्य सुधारने की चेष्टा करें।

आप से पुनः प्रार्थना है कि इस बार अधिक से अधिक ग्राहक बनाकर हमारी सहायता करें, यदि आप लोग दो दो चार-चार ग्राहक बनाकर हमारी मदद करेंगे तो आशा है कि भविष्य में और भी अधिक सुसज्जित रूप में धन्वन्तरि आपको देखने के लिये मिलेगा।

अन्त में मैं इस अङ्क के प्रधान सम्पादक कविराज श्रीयुत् प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर आर्य्य औषधि भण्डार लिमिटेड देहली, प्रिन्सिपल आयुर्वेदीय कालेज हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस (अवकाश पर) के विशेष कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस विशेषाङ्क का सम्पादन किया है। हम अपने लेखक महोदयों को भी नहीं भूल सकते जिनकी कृपा दृष्टि से इस रूप का महत्वपूर्ण विशेषांक पाठकों की सेवा में उपस्थित कर सका हूं। आशा है भविष्य में भी हमारे लेखक महोदय इसी तरह की लेख द्वारा सहायता करते रहेंगे। मैं अपने प्रेम कर्मचारियों को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने अठारह २ घंटे तक परिश्रम कर इस विशेषाङ्क का कार्य सम्पादन किया है। इतिशम्।

निवेदक—

व्यवस्थापक।

# इस विशेषांक में चित्र की कमी क्यों ?

प्रिय पाठकगण ! यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि तात्कालिक व्यवसायियों का जीवन किस महासंघर्ष के साथ व्यतीत हो रहा है। किसी भी व्यवसाय में सौविध्य नहीं है। फिर पत्रकारों के लिये तो ऐसा भयङ्कर समय आ गया है कि उनकी अक्ल कुछ काम ही नहीं देती है। चारों तरफ मुसीबत ही जान पड़ती है, यदि पत्र में छपाई आदि की सफाई नहीं रही, तथा पत्र में देर हो गई तो ग्राहक महानुभाव रुष्ट हो जाते हैं। हमको अपने ग्राहकों की प्रसन्नता के लिये आगरा, देहली, शिमला एतदतिरिक्त और भी जिनसे हमें कुछ काम होने की आशा दिखाई देती है उन लोगों के खुशामद करते एवं दौड़ लगाते २ कितनी परेशानी उठानी पड़ती है। यह हम ही जानते हैं या कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। विशेष खेद तब होता है जब अथक परिश्रम एवं व्यय करने पर भी कार्य सफल नहीं होता है। उदाहरण के लिये आप प्रस्तुत विशेषांक को ही लीजिये।

मेरा पूर्ण विचार था कि इस "क्षय रोगांक" विशेषांक को चित्रों से भरकर 'पुरुष-रोगांक' से उत्तम प्रकाशित करूंगा और मैंने अपनी शक्ति भर यत्न भी किया। २-३ बार देहली सेक्ट्रीयट में गया तथा और भी अधिकारियों से मिला, जब वहां काम नहीं चला तब शिमला भी गया। वहां जाकर भी अनेक प्रयत्न किया और आशा हो गई कि चित्र छापने की आज्ञा मिल जायगी। तब चित्रों के ब्लाक बनवाने में जुट गये तथा क्षय एसोशियन ने भी अपने १० चित्र ३ रङ्ग के देने का वचन भी दे दिया, बड़ी खुशी हो रही थी। उधर पत्र पर पत्र शिमला भेज रहे थे उत्तर न मिलने पर तार दिया, तब उसका उत्तर आज्ञा स्वरूप जो मिला वह पाठकों की जानकारी के लिये प्रकाशित कर रहे हैं, उसे पढ़ कर हम एक दम किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये। अनेक विचार परामर्श के बाद सरकारी आज्ञा मानना ही तय हुआ और हमारे सब प्रयत्नों पर पानी फिर गया। भगवान् की इच्छा बलीयसी होती है।

अब आगामी विशेषांक के लिये हम अपने उन कृपालु ग्राहकों से प्रार्थना करते हैं जिनका सम्बन्ध गवर्नमेन्ट से है कि वह अधिक से अधिक चित्र प्रकाशन की आज्ञा दिलवा सकें। उनको अब भरसक प्रयत्न कर हमारी सहायता करनी चाहिये।

No. NP—3 (13) / 45
Government of India
Department of Industries and Civil Supplies,
Newsprint Control Branch.

Simla, the 20th June 1945.

From

Hans Raj, Esquire, B. A ,
Assistant Secretary to the Government of India,

To

The Proprietor,

the Dhanwantari,

Bijaigarh ( Aligarh )

Sir,

With reference to the correspondence ending with your telegram dated the 12th June 1945, I am directed to say thet the Government of India are pleased to permit you to use art paper for four pages of inside illustrations and two pages for the cover of the proposed Special Number of your newspaper the Dhanwantari

A certificate testyfying to the fulfilment of the conditions laid down above together with a copy of the proposed Special Number should by forwarded to this Department in due course

The reply paid vouchers received with your two telegrams are sent herewith

I have the honour to be,

Sir,

Your most obedient servant,

*Assistant Secretary to the Government of India*

## —शिमला से प्राप्त अंग्रेजी पत्र का अनुवाद—

नं० न० प०—३ ( १३ ) । ४५

गवर्नमेंट आफ इन्डिया

इन्डस्ट्रीज एन्ड सिविल सप्लाई डिपार्टमेन्ट, न्यूजप्रिन्ट कन्ट्रोल ब्राच

शिमला २० जून १९४५

प्रेषक—

श्री० हसराज जी बी० ए०

असिस्टेन्ट सेक्रेटरी, गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया

प्रोप्राइटर—"धन्वन्तरि" बिजयगढ ( अलीगढ )

श्रीमान्—

आपके पत्र व्यवहारानुसार जो १२ जून के तार तक था सूचित किया जाता है कि गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया आपको आर्ट पेपर के चार पृष्ठ अन्दर के चित्रों के लिये और २ पृष्ठ टाइटिल पेज के लिये प्रयोग करने की आज्ञा देती है।

एक प्रमाण पत्र ( जिसमें उपरोक्त शर्त का पालन किया गया हो ऐसा दिखाते हुये ) मय एक विशेषांक की प्रति के हमारे यहां भेजी जावे।

साथ में आपके प्रेषित दोनों जवाबी तारों के फार्म वापिस भेज रहे हैं।

आपका

असिस्टेन्ट सैक्रेटरी गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया।

मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी

प्रथम रत्न—

# मकरध्वज वटी

## (निराश-बन्धु)

आयुर्वेद का अनुपम रत्न सिद्ध मकरध्वज से यह औषधि निर्माण की गई है इसलिये यह अपूर्व प्रभाव दायक चमत्कारिक महौषधि है।

यह वह रत्न है जिसका प्रयोग कर हजारों दुखी व्यक्ति भी सुखी बन कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसको हमने लाखों बार रोगियों पर प्रयोग किया है और शतप्रतिशत लाभ उठाया है।

इसके सेवन से सब प्रकार के प्रमेह, स्वप्नदोष एवं अन्य सम्पूर्ण वीर्य-रोग और उनके द्वारा उत्पन्न समस्त व्याधियां, इस प्रकार नष्ट होती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होने से अन्धकार नष्ट होजाता है। हम इसके लाभों का वर्णन लिखकर कर ही नहीं सकते। यदि आप इसका गुण देखना चाहते हैं तो या तो इसे किसी को सेवन कराइये अथवा स्वयं सेवन करिये।

हम दावा के साथ कहते हैं कि जो व्यक्ति इधर उधर की औषधियां सेवन करके थक गये हों वह हमारी इस "मकरध्वज वटी" को सेवन करें और जीवन सुखमय बनायें।

मूल्य—एक शीशी ॥=) मात्र।

निर्माता—

**धन्वन्तरि कार्यालय (रजिस्टर्ड)**
**विजयगढ़ (अलीगढ़)**

मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी मकरध्वज वटी

रोगियों की कहानी उन्हीं की जबानी
मकरध्वज वटी के गुणों पर रीझ कर हजारों रोगी प्रति-दिन अपने प्रशंसा पत्र लिख २ कर भेजते रहते हैं। हमने उनमें से कुछ पत्रों के ब्लाक बनवाये हैं जो आपके समक्ष उपस्थित हैं। जिसने जैसा लाभ उठाया है, लिखा है। आपभी इसकी परीक्षा करें और चमत्कारिक गुण देखें।
POST CARD
POST CARD

द्वितीय रत्न—

# शिरो-विरेचनीय सुरमा

## जुकाम, शिरशूल, पुराना शिरशूल

के लिये अव्यर्थ औषधि

चाहे जैसा रुका हुआ जुकाम क्यों न हो आप इसे प्रयोग करिये, थोड़ी ही देर में समस्त पानी शनैः-शनैः निकल जायगा। आपके सर में भारापन हो, आंखों में जुकाम के कारण सुर्खी हो, सर में एक तरफ दर्द अथवा समस्त शिर में दर्द, आदि समस्त उपद्रवों को आंखों में लगाने से ही दूर भगाता है। नये पुराने शिरशूल के लिये तो अव्यर्थ औषधि है।

सेवन विधि—यदि आपका जुकाम रुक गया हो और सैकड़ों तदबीर करने पर भी न निकलता हो तो आप काजल की तरह सफाई से इस सुरमे को सुबह के समय लगाइये। आपकी आंखों में तरावट प्रतीत होगी, परन्तु धीरे-धीरे आंखों में जलन होने लगेगी (कभी २ यह जलन नहीं भी होती) और तमाम पानी बूंद बूंद कर नाक से बहने लगेगा। यदि आंखों में जलन हो तो चिन्ता न करिये, यह आंख को कुछ भी हानि न करेगा। पुराने नये शिरशूल में भी इसके लगाने से दूषित रुका हुआ जल नाक और आंख से निकल दर्द दूर हो जायगा। परीक्षा प्रार्थनीय है। आप इसे हर समय अपने साथ रख सकते हैं और दूसरों को अथवा स्वयं अपने को जादू की तरह इस रोग से मुक्त कर यश के भाजन बन सकते हैं। आप इसके प्रयोग को करके कभी भी असफलता न उठायेंगे, यह हमारा दावा है। नमूना के लिये ~)॥ की टिकट भेजिये।

मूल्य—एक तोला १)

मिलने का पता—

तृतीय रत्न—

# ज्वरारि

## (कुनैन रहित)

यह हमारा नवीन आविष्कार है। हमने इसके बारे में काफी प्रशंसा पत्र पाये हैं। ज्वर, जूड़ी के लिये तो रामबाण ही प्रमाणित हुई है। पिछले समय में इसकी इतनी मांग हुई कि हम पूरा आर्डर शायद ही किसी का सप्लाई कर सके। इसका कारण इसकी उपादेयता ही है।

यह समस्त प्रकार की जूड़ी (मलेरिया) की अचूक औषधि है। इसके कुनैन रहित होने का दावा है।

मूल्य -१० मात्रा—१), २० मात्रा—१॥) और ५० मात्रा—३)

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

---

चतुर्थ रत्न—

# पायरिया मंजन

आपने पायरिया के लिये अनेकों औषधियों का नाम एवं विज्ञापन देखा होगा। परन्तु आपने उनसे शतप्रतिशत लाभ न पाया होगा। हम आपको इस मंजन द्वारा शत-प्रतिशत लाभ होने का दावा करते हैं। आप इसे नित्य प्रयोग कर सकते हैं, किसी भी प्रकार से बाजारू मंजनों की तरह हानिप्रद नहीं है।

मूल्य—॥) प्रति शीशी

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

पंचम रत्न—

# श्वासामृत

जब रोगी को श्वास का वेग होता है तो उसका खाना-पीना, बैठना, उठना, सोना हराम हो जाता है, और वह व्याकुल होकर इससे छुटकारा पाने के लिये छटपटा उठता है। उस समय की व्याकुलता वही सज्जन जानते हैं, जिन्होंने अभाग्यवश कभी भी इसका दुखदाई फन्दा सहा है।

ऐसे व्यक्तियों के लिये हमारा यह आविष्कार रामवाण ही प्रमाणित होता है। दवा के गले में पहुंचते ही श्वास नलिका में रुका कफ निकल जाता है और रोगी इस भयङ्कर व्याधि से छुटकारा पाता है। यदि इस औषधि को निरन्तर व्यवहार किया जाय तो इस व्याधि से सदैव के लिये छुटकारा मिलता है। और रोग जड़ से ही नष्ट हो जाता है।

मूल्य—एक शीशी ३)

---

षष्ठम रत्न—

# स्त्री-सुधा

स्त्रियां राष्ट्र के भावी युवकों को उत्पन्न करती हैं, जिन पर कि प्रत्येक राष्ट्र की आशा लगी रहती है। यदि स्त्रियां ही दुर्बल होंगी तो फिर सन्तान ही क्यों कर बलवान् हो सकती है। और जब युवक ही निर्बल एवं क्षणिक जीवन वाले होंगे, तो फिर राष्ट्र का पतन ही निश्चय है। उत्थान होना तो दूर की बात है।

भारतवर्ष की स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षित हैं। वह अपने स्वास्थ्य की चिन्ता ही नहीं करती। पर अन्त में जब अत्यन्त दुर्बल एवं असाध्य प्रायः हो जाती हैं तब उन्हें चिन्ता होती है। मनुष्य को तो कभी चिन्ता ही नहीं। हां जब घर के कार्य में अव्यवस्था हो जाती है तब उन्हें चिन्ता होती है। उस समय जल्दी आराम कराने के लिये वह जादू, टोने एवं अन्य अशुद्ध औषधियां उन्हें देते हैं, जिनसे उनकी स्थिति सुधरने के स्थान पर अधिक बुरी हो जाती है। उस समय वे भागे-भागे घूमते हैं। परन्तु जब रोग असाध्य हो गया तब फिर आराम कैसे हो?

हमने इस औषधि को इसी समय के लिये निर्माण की है। और सैकड़ों बार इसकी परीक्षा भी करली है। यह प्रदर, योनि शूल, कुक्षि शूल, मासिक धर्म की अव्यवस्था आदि सभी विकारों के लिये सर्वोत्तम प्रमाणित हुई है। प्रदर और गर्भाशय के समस्त विकारों के लिये तो रामवाण है।

मूल्य—एक बोतल ३॥) और १ शीशी १॥)

सप्तम रत्न—

# कुमार कल्याण घुटी

'Child is the father of man' कहावत के अनुसार यदि यह बच्चे ही स्वस्थ न होंगे तो फि बड़ों से क्या आशा की जा सकती है। आजकल की माताओं के अस्वस्थ होने के कारण बच्चे भी अस्व रहते हैं। यही कारण है कि भारत में बच्चों की मृत्यु संख्या अन्य समस्त राष्ट्रों से अत्यधिक है।

पुराने समय में जब बच्चों को कोई रोग हो जाता था तो मातायें उन्हें घुटी दिया करती थीं परन्तु वह ज्ञान आजकल की 'निरक्षर भट्टाचार्य' माताओं में कहां! वह तो पुत्र के अस्वस्थ होते 'नीम हकीम' एवं 'पैसा-पटु पंसारियों' द्वारा बनाया शर्बत उन्हें सेवन कराकर काल के गाल में भेजने सहायक ही बनती हैं। इसीलिये भारत की बच्चों की मृत्यु संख्या इतनी अधिक है।

हमने कुमारकल्याण घुटी बच्चों के लिये एक संजीवन बूटी के समान तैयार की है। बच्चे इसके मी होने के कारण बड़े चाव से पीते हैं। यह हम दावा से कहते हैं कि आप उन्हें किसी भी प्रकार व शिकायत होते ही पिलावें अवश्य ही लाभ होगा। इसके सेवन से ज्वर, हरे-पीले दस्त, अजीर्ण पेट व अफरा, कीड़े, दस्त साफ न होना, खांसी, पसली चलना, दूध पलटना आदि समस्त रोग नष्ट होते और बच्चे बलवान् एवं स्वस्थ बनते हैं।

मूल्य—१ शीशी ।—)

---

अष्टम रत्न—

# ग्रहणी-रिपु

ग्रहणी (संग्रहणी) बहुत बुरा रोग है। इस रोग की प्रथमावस्था में रोगी जो कुछ खाता है पचता नहीं। पेट में हर समय गुड़ गुड़ शब्द होता रहता है। बार बार पतले दस्त होते हैं। भूक क तो नाम भी नहीं रहता। इसी अवस्था में रोगी की लापरवाही करने से रोग बढ़ जाता है और फि रोगी के बचने की आशा ही नहीं रहती।

आप इस औषधि को प्रथमावस्था में सेवन कराइये और लाभ देखिये। इस रोग पर अचूक लाभ करती है।

मूल्य—१ शीशी १॥)

( यदि आप इस रोग को जड़ से नष्ट करना चाहते हैं, तो हमें लिखिये )

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ ( अलीगढ़ )

# हमारे कुछ शतप्रतिशत
# लाभकारी
# परीक्षित सैट
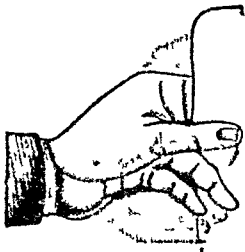
## १—नपुंसकत्व-हर सैट—

[ मकरध्वज वटी, कामदीपक तिला और क्लीवत्व हर पोटली ]

**मकरध्वज वटी** सम्पूर्ण वीर्य रोग पर सेवन योग्य टानिक है।

**कामदीपक तिला**—बचपन की बुरी संगत से, हस्तमैथुन, गुदा मैथुन के कारण इन्द्रिय की नसें फूल जाना और उसमें टेढ़ापन आदि रोग हो जाना इसके प्रयोग से दूर होते हैं। इन्द्री बलवान एवं दृढ़ होती है। हजारों ही रोगी ठीक हो चुके है।

**क्लीवत्व हर पोटली**—इसके द्वारा घोर नपुंसकता दूर होती है। रग पुट्ठे पुनः शक्ति पाते हैं।

उपर्युक्त तीनों औषधियां साथ-साथ ही व्यवहार की जाती हैं। इनके व्यवहार से अनेक नपुंसक पुरुष पुंरुत्व प्राप्त कर चुके हैं। मूल्य ६)

## २—प्रदर-रोग-हर सैट—

[ स्त्रीसुधा और मधुकाद्यावलेह ]

प्रदर स्त्रियों के लिये बड़ा भयङ्कर रोग है। इसे दूर करने का शीघ्र ही उपाय करना चाहिये।

**स्त्री सुधा**—स्त्री-रोगों पर अव्यर्थ औषधि है। सर्व प्रकार का प्रदर, कुक्षि शूल आदि अनेक रोग नष्ट करती है। हमारी हजारों बार की परीक्षित है।

**मधुकाद्यावलेह**—यह प्रदर रोग पर शास्त्रीय औषधि है। इसके सेवन से कठिन से कठिन सब प्रकार के प्रदर रोग नष्ट होते हैं। १५ दिन के लिये दोनों औषधियों का मूल्य ६)

## ३—श्वेत कुष्ठारि सैट—

[ श्वेत कुष्ठारि अवलेह, घृत और वटी ]

श्वेत कुष्ट (सफेद दाग) घृणित रोग है। पास के उठने बैठने वाले संकोच करते हैं और बुरी दृष्टि से देखते है। जब यह रोग बढ़ जाता है तब तो स्वरूप भी कुरूप कर देता है। लड़कियों के यह राग होने पर उनके विवाह-सादी भी बड़ी कठिनता से और रोग छिपा कर किये जाते हैं। हमने इस दुष्ट रोग की तीन औषधियां बनाई और हजारो रोगियों पर परीक्षा की है एक बार व्यवहार कर देखिये। मूल्य—तीनों औषधियां १५ दिन के सेवन योग्य का ५) रुपये।

## ४- हिस्टेरिया हर सैट-

[ हिस्टेरिया-हर बटी, क्षार, आसव ]

यह तीनों औषधि सब प्रकार के हिस्टेरिया के लिये लाभप्रद हैं । हम इनकी अच्छी तरह से परीक्षा कर चुके हैं । अनेकों ने इसकी प्रशंसा की है । परीक्षा प्रार्थनीय है। १५ दिन की दवा का मू. ७)

## ५- सुजाक हर सैट-

[ सुजाक हर कैपशूल, आसव, पिचकारी की दवा ]

**सुजाक हर कैपशूल**-सुजाक की प्रधान एवं चमत्कारिक औषधि है । नया या पुराना कैसा भी सुजाक हो, इसके सेवन से अवश्य नष्ट होता है ।

**चन्दनासव**-यह प्रमेह, शुक्रमेह, सुजाक की प्रसिद्ध आयुर्वेदीय औषधि है । मूत्र-नली में दर्द होने वाले घावों को दूर कर जलन, पीड़ा आदि सब नष्ट करता है ।

**सुजाक की पिचकारी की दवा**-इसके लगाने से टीस, मूत रुक-रुक कर आना, मवाद आना, आदि समस्त उपद्रव नष्ट होते हैं । तीनों औषधियों का ५)

## ६- रक्त दोष हर सैट-

[ आयुर्वेदीय सालसा परेला, इन्द्रवारुणादि क्वाथ, तालकेश्वर रस ]

**आयुर्वेदीय सालसा परेला**-समस्त विदेशी सालसों से अधिक गुण-प्रद है । हमने हजारों रोगियों पर इसका अनुभव किया है । विदेशी सालसों को प्रयोग करने वालों से प्रार्थना है कि इसको भी प्रयोग कर देखें ।

**इन्द्रवारुणादि क्वाथ** इस क्वाथ से उपदंश और उससे होने वाले रक्त विकार आदि समस्त रोग उपद्रव दूर होते हैं । यह आंव निकालकर रक्त-विकार, उपदंश आदि समस्त विकार नष्ट करता है ।

**तालकेश्वर रस**-यह तबकी हरताल द्वारा शास्त्रीय विधि से निर्मित रक्त-विकार के लिये महौषधि है । इसके सेवन से गलित कुष्ठी भी आरोग्य लाभ पाते हैं ।

उपर्युक्त सेट के सेवन से कैसा भी कुष्ठ क्यों न हो अवश्य आराम होता है । हमने हजारों रोगियों को इस औषधि से इस दुष्ट रोग से मुक्त किया है । १५ दिन की तीनों औषधियों का मू० ६)

# श्वेत कुष्ठारि सैट के..

## बारे में अपने अपने विचार—

श्री

भुसावल

ता. १५।३।३८

श्री महाशयजी:

आपके कार्यालयके श्वेतकुष्ठारि अवलेहादि उपचार हमारे केसकु चालू कर दिया है. अत्यानंद है की १५ दिनमे महा रुग्णको बहुत आराम हो गया है. सो पत्र देखत एक महीनेकी दवाई भेज देना.

श्वेत कुष्ठारि अवलेह, श्वेत कुष्ठानिवारक और श्वेत कुष्ठारि घृत एक महीनेका औषध व्ही-पी- से तुरन्त भेज देनेकी कृपा करना. कुछ ज्यादा है सो थोड़ा घृत ज्यादा भेज देना. उसकी मूल्य देनेकु हम तयार है

जरूर जरूर तुरन्त व्ही-पी- भेज देना.

आ. H R Barhate

पत्ता- श्री शंकर आयुर्वेद सेवाश्रम

भुसावल- पू-खा-

### पं० हरिनाथजी उपाध्याय आयुर्वेद भूषण

राजगिरि (पटना)

"एक रोगी जो कृच्छ्र साध्य और बहुत दीन था, वह धन्वन्तरि कार्यालय के प्रधान वैद्य बांकेलाल जी से निःशुल्क चिकित्सा कराकर आया है। उसे वात–प्रधान कुष्ठ रोग था। वैद्य जी ने अति दीन रोगी समझ कर औषधालय की क्षति की ओर ध्यान न देकर दत्त-चित्त हो चिकित्सा की।

पहिले पञ्च कर्म विधि-पूर्वक कराकर पीछे रक्त-शोधक तालकेश्वर रस आदि औषधियां दीं। रोगी को बहुत लाभ है। वैद्य जी के अनुभव से, कृच्छ्र-साध्य तथा असाध्य रोगियों को लाभ प्राप्त करना चाहिये।

# अग्नि-वल्लभ क्षार

## स्वादिष्ट एवं गुणप्रद ।

---

मिथ्या आहार-विहार के कारण ही कोष्ठाग्नि (जठराग्नि) कुपित होकर अनेक रोग उत्पन्न करती है। अतः सम्पूर्ण चिकित्सा का सार यह ही है कि जठराग्नि की रक्षा की जाय । चाहे सैकड़ों दोष कुपित क्यों न हों, हजारों रोग शरीर में क्यों न भरे पड़े हों परन्तु उनकी परवा न करके एक जठराग्नि की रक्षा करता हुआ मनुष्य अपने जीवन की रक्षा कर सकता है। जब जठराग्नि द्वारा आहार पच जाता है तब ही रस-रक्तादि शारीरिक धातु बन कर शरीर को बलवान करते हैं। लेकिन आज जिधर देखिये उधर यही शिकायत सुनने में आती है कि हमारी अग्नि कमजोर है खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि। अग्निवल्लभक्षार सच्चा अग्नि का प्यारा है। अग्निवल्लभक्षार के सेवन से अग्नि प्रज्वलित होती है, खाया हुआ खाना हजम होता है, भूख न लगना, दस्त साफ न होना, खट्टी २ डकारों का आना, पेट में दर्द तथा भारीपन होना, तबियत बिगड़ना, अपान वायु का न सरना, इत्यादि सामयिक शिकायतें दूर होती हैं। परदेश में रह कर सेवन करने वालों को जल दोष नहीं सताता, गृहस्थों के लिये संग्रह करने योग्य महौषधि है, क्योंकि जब किसी तरह की शिकायत देखी चट अग्निवल्लभक्षार सेवन करने से, उसी समय तबियत साफ होजाती है।

सेवन-विधि—मात्रा—१ माशे से १॥ माशे पर्यन्त। अनुपान—गरम जल। समय—प्रातः सायं अथवा भोजनोपरान्त। पेट के दर्द के समय गरम जल के साथ। मलावरोध में गरम जल में घोलकर अन्यथा साधारण जल के साथ। मूल्य १ शीशी ।)

**धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)**

# कुछ अकसीर दवायें

१–अग्नि संदीपन चूर्ण—अजीर्ण आदि के लिये सर्वोत्तम औषधि है। भोजन के पश्चात् सेवन करने योग्य अत्यन्त स्वादिष्ट चूर्ण है। मूल्य १ शीशी ।=)

२–धन्वन्तरि वाम—सिर दर्द के लिये अचूक औषधि है। कैसा ही दर्द क्यों न हो तत्काल आराम होता है। मूल्य १ शीशी ।।।)

३–दाद की दवा—दो तीन बार के प्रयोग से दाद की खुजली बन्द होजाती है। और ३, ४ दिन के बराबर प्रयोग से इस रोग से सदा को पीछा छूट जाता है। मू० १ शीशी ।।।)

४–मुख के छालों की दवा—मुख मे होजाने वाले छालों के लिये अक्सीर दवा है। इसके उपयोग से ८० फीसदी आराम होता है। मूल्य—१ शीशी ।)

५–कर्णामृत तैल—कान में होने वाले दर्द, पीव निकलना आदि व्याधियों के लिये उत्तम औषधि है। मू०–१ शीशी ।।=)

६–स्तम्भन वटी—स्तम्भन का यदि सुख लेना है तो इस औषधि को रात्रि मे १ घण्टे पहिले दूध के साथ सेवन करिये। मू० १ शीशी १।)

७–करंजादि वटी—ज्वर, जूड़ी आदि के लिये वटी रूप में औषधि है। मू० १ शीशी ।।)

८–उपदंश हर कैपशूल—उपदंश रोग के लिये ८० प्रतिशत काम देने वाली वस्तु। परीक्षा प्रार्थनीय है मूल्य—१ शीशी ७।।)

९–अर्श हर वटी—यदि अर्श (ववासीर) से छुटकारा पाना चाहते हैं तो शीघ्र ही इस औषधि को सेवन करिये। और लाभ उठाइये।

मूल्य—१ शीशी १)

१०–अर्शान्तक मलहम—मस्सों पर लगाने के योग्य उत्तम मलहम। इसके लगाने से मस्से शीघ्र नष्ट होते हैं। मूल्य—१ शीशी ।।)

११–बल्लभारिष्ट—रक्त और चर्म विकारों में सर्वोत्तम औषधि है।

मूल्य—१ शीशी १।)

१२–मधुमेहान्तकरस—मधुमेह (डाइबिटीज) के लिये उत्तम औषधि १५ साल से परीक्षित है। सैकड़ों आरोग्य लाभ कर चुके है।

मूल्य—५० गोली १०)

१३–निम्बादि मलहम—कृमि नाशक एवं चर्म रोगों पर आशुफलदायक औषधि है।

मूल्य—१ शीशी ।)

१४–कामिनीगर्भ रक्षक—पुरुषों में वीर्य-रोग और नवयुवतियों में रज सम्बन्धी रोग अत्यधिक फैले हुए हैं। गर्भस्राव एवं गर्भ-पात के रोकने को अत्यर्थ औषधि है। इसके सेवन से गर्भ पुष्ट होता है। और फिर गर्भ-पात आदि का भय नहीं रहता। परीक्षा प्रार्थनीय।

मूल्य—१ शीशी ७)

१५–वातारि वटिका—वात-रोग बड़ा भयानक रोग है। जब वात का दर्द होता है तो जो पीड़ा होती है उसे एक रोगी ही जानता है। हमारी इस औषधि को सेवन कराने से वात-रोग अवश्य ही नष्ट होता है। यह सन्धि और मज्जागत वायु को बाहर निकाल देती है।

मूल्य—१ शीशी २)

१६–स्वप्न-प्रमेह-हर वटी—स्वप्नदोष को अति लाभदायक है। चन्दनासव के साथ सेवन करने से शीघ्र लाभ होता है। मूल्य—१ शीशी १।।)

१७–वृ० द्राक्षासव—निर्बलता एवं क्षय रोग के लिये सर्वोत्तम टानिक है। मूल्य—१ बोतल ५)

१८-बाल अपस्मार वटी—बालकों के अपस्मार के लिये सर्वोत्तम है। मूल्य-१ शीशी ॥)

१९-कास हर वटी—खांसी के लिये सर्व साधारण में बांटने योग्य उत्तम औषधि है।
मूल्य—१ शीशी ।—)

२०-आम निस्सारक वटी—१ गोली को जल में सेवन करने से ही सुबह दस्त होकर आंव निकल जाती है। मूल्य-१ शीशी १)

२१-रक्त वल्लभ रसायन—किसी भी मार्ग से रक्त निकल रहा हो सेवन से तुरन्त ही बन्द होता है। साथ ही ज्वर में भी लाभदायक है।
मूल्य-१ शीशी १)

२२-अण्ड वृद्धि हर रसायन-इसके सेवन से बिना ओपरेशन के ही अण्ड वृद्धि नष्ट हो जाती है। अण्ड वृद्धि के लिये खाने की यह प्रथम ही औषधि है। मूल्य-५)

२३-अण्ड वृद्धि हर लेप—अंड वृद्धि में इसका लेप करना अत्यन्त लाभदायक है।
मूल्य-१ शीशी १) दोनों औषधियों का ५॥)

२४-सरलभेदी वटिका—मूल्य-१ शीशी १)

# वनौषधि—विभाग

आयुर्वेद में सब से मुख्य वस्तु वनौषधी है। इसमें जड़ी बूटी ही नहीं परन्तु समस्त कच्चे द्रव्य जिनसे औषधियां निर्मित की जा सकती हैं, सम्मलित हैं। अब आप सोच सकते हैं कि आयुर्वेदीय औषधियों की विशुद्धता किस पर निर्भर है? यह बात जानकर आप यह भी अनुमान कर सकते हैं कि वनौषधि किस संस्था से ली जानी चाहिये और किससे नहीं। सब वनौषधियां प्रत्येक स्थान पर नहीं मिल सकतीं। अतः "कोई वस्तु कहीं से और कोई कहीं से" इस प्रकार बड़ी कठिनता से समस्त वनौषधियां एकत्रित की जाती हैं। परन्तु आजकल मार्ग की अव्यवस्था के कारण यह आयोजन सफल नहीं बन पा रहा है। क्योंकि रेलों द्वारा सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना दूभर हो गया है। फिर भी हम कभी २ थोड़ी सी वस्तुयें एकत्रित कर लेते हैं परन्तु वह हमारे योग्य भी नहीं हो पातीं।

हमारे पास जो वस्तुयें हैं उनके भाव (रेट्स) भी प्रति-दिवस घटते बढ़ते रहते हैं। इसलिये हम लगभग समस्त वनौषधियों की बिक्री बन्द कर चुके हैं। परन्तु हमारे मान्य ग्राहक महोदय हमें बाध्य करते हैं कि आप वनौषधि भेजना बन्द न करिये। इसलिये हमने कुछ वस्तुयें जो आसानी से प्राप्त नहीं हैं एकत्रित की हैं और कहैं बाजार भाव ही सप्लाई कर सकते हैं। अतः बाजार भाव का ही आर्डर भेजना चाहिये।

# भस्म बनाने की योग्य उत्तम वस्तुएं

भस्में आयुर्वेदीय औषधि-समुदाय में विशेष स्थान रखती हैं। प्रायः सभी वैद्य इन्हें व्यवहार करते हैं। आजकल की अन्धाधुन्धी से घबड़ा कर बहुत से वैद्य स्वयं ही भस्में बनाने लगे हैं। किन्तु भस्मों के लिये उत्तम द्रव्यों का मिलना भी जरा कठिन हो रहा है। वैद्यराजों के आग्रह से हमने इन सब वस्तुओं का संग्रह किया है। आवश्यकतानुसार आर्डर दीजिये।

**ताम्र चूर्ण**—ताम्र भस्म के लिये तांबे का बहुत ही बारीक चूर्ण। इसमें किसी भी तरह की मिलावट नहीं है। अशोधित ७) सेर।

**फौलाद चूर्ण** (लोह भस्म के लिये) उत्तम फौलाद का अपने सामने चूर्ण कराया गया है। इसमें किसी भी प्रकार की मिलावट नहीं है। इसके लिये अब तक बड़ी परेशानी होती थी और फिर भी उत्तम नहीं मिलता था। अब आप इसे निःसंकोच व्यवहार करें। मूल्य अशोधित ३) सेर।

**शुद्ध जस्ता**—[यशद भस्म के लिये] यह भी शास्त्रीय-विधि से तक्र, कांजी, तैल, गौमूत्र, कुलथी आदि की ७-७ भावनायें देकर शुद्ध किया है। मू० ५) सेर। अशोधित ३॥) सेर

**स्वर्ण माक्षिक**—खास तौर से संग्रह की है। इसकी भस्म कीजिये और फिर गुणों को देखिये हमारी स्वर्ण माक्षिक भस्म के आश्चर्यप्रद गुणों का कारण इस स्वर्ण माक्षिक की उत्तमता ही है। मूल्य ४) सेर।

**वज्राभ्रक**— सभी दोषों से रहित। न अग्नि पर किसी प्रकार का शब्द होता है, न फूलता है। मूल्य ४) सेर।

**धान्याभ्रक**—वज्राभ्रक को खूब साफ करकर और शास्त्रीय-विधि से धान्याभ्रक किया हुआ। मूल्य ४) सेर।

**शंख के टुकड़े**—शंख भस्म करने के लिये। मूल्य १) सेर।

**मोती की सीप**—३) सेर। **पीली कौड़ी**—कपर्द भस्म के लिये ३) सेर।

असली मोती सीप का चूरा भी हमने संग्रह किया है। मू० ७॥) सेर।

**शुद्ध कीट चूर्ण**—[मांडूर भस्म करने के लिये] १ हजार वर्ष पुराने किलों मे संग्रह कराया गया है और फिर चूर्ण करके शुद्ध किया गया है। मूल्य ७॥) सेर

नोट—इन वस्तुओं के भाव दिन प्रतिदिन बदलते रहते हैं अतः आर्डर देते समय यह शब्द अवश्य लिखिये "यदि भाव बढ़ गये हों, तो जो उचित भाव हों उन्हें लगाकर माल भेजिये" अन्यथा आर्डर सप्लाई नहीं किया जायगा।

**सर्पगन्धा**—रक्तचाप (ब्लडप्रैसर) की प्रसिद्ध महौषधि है । उन्माद (पागलपन) चित्त भ्रम अनिद्रा के लिये रामवाण । इसके सेवन से नींद खूब आती है, दस्त साफ होता है, जिससे पागल रोगी जिसको नींद नहीं आती इसके सेवन से वह रोगी नींद में मस्त होजाता है, और रक्त चाप कम हो जाने से उसका पागलपन जाता रहता है आजकल इसका व्यवहार खूब बढ़ रहा है। मूल्य—५ तोला ०)

**उलट कम्बल** यह स्त्री रोग की प्रसिद्ध औषधि है। यदि आपने इसका व्यवहार अभी तक नहीं किया है तव आप अपनी रोगणियों पर इसका व्यवहार कर इसके चमत्कारिक गुणों को देखें। मू० पत्र द्वारा पूछिये।

**दशमूल**—आज कल बाजार मे दशमूल के नाम से अटसंट अनेक औपधियां रख दी जाती हैं। यही देख हमने दशमूल नामक पुस्तक प्रकाशित की थी कि जिससे वैद्य अत्तार पंसारी जान सके कि दशमूल क्या है? उसकी १० औपधियों के प्रथक २ क्या नाम और पहिचान है । हमने उन ही दस औपधियों को संग्रह कर यह दशमूल बनाया है । एक बार व्यवहार कर देखिये!
मू० १ सेर का १॥) और १ पुड़िया (२ तोले की) का ‒)

**नागकेशर**—असली पहाड़ी नागकेशर। मू० १ सेर ८)

**तालीसपत्र**—असली है नकली न खरीदिये। मू० १ सेर २)

**गिलोय का सत्व**—असली की गारन्टी हैं। मू० १ सेर १५) १ तोला ।)

**मुलहठी का सत्व**—हमारे यहां का वना शुद्ध और असली एक बार अवश्य परीक्षा करें।
मू० १ सेर ६)

**ब्राह्मी**—असली ब्राह्मी गंगा तट की। मू० १ सेर २)

**यवक्षार**—जवाखार हमारे यहां का निकला हुआ असली। मू० १ सेर ८)

**अष्टवर्ग**—हमने ऊचे २ पहाड़ों से संग्रह कराकर मगाया है। एक वार मंगाकर देखिये।
मू० १ सेर १०)

**धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)**

॥ धन्वन्तरि विजयते ॥

# निखिल भारतवर्षीय एकोनविंशतितम् वैद्यसम्मेलनम् ।

| | | |
|---|---|---|
| अन— |  | नासिक |
| स्थानम | | शकाब्दा |
| स्वागत | | १८५१ |
| समितितः | | |

श्री मद्भ्यां वैद्य बांकेलाल गुप्तेति-नामभ्यां विजयगढ़ ( अलीगढ़ ) वास्तव्येभ्यो प्रदर्शन मन्दिरं वनस्पति प्रणेन नितराम् मोष्ठमापादितम्- एतदर्थं दीयते सहर्षमिदं प्रशस्ति पत्रकम् ।

| स्वागत सभापति | मंत्री | सभापति |
|---|---|---|
| कृष्ण शास्त्री देवधर, | वामन शास्त्री दातार | जो. श्रीनिवास मूर्ति |

॥ श्री धन्वन्तरयेनमः ॥

# इन्द्रप्रस्थ

## निखिल भारतवर्षीय दशम वैद्य सम्मेलन

चित्र
भगवान्
धन्वन्तरि
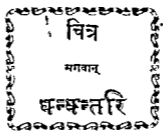
## प्रदर्शन प्रमाणपत्रम्

वैद्यान्पायाद पायाच्च गुरुर्धन्वन्तरिस्सदा ।
धात्रादपर्शिशात्तयन्तु मुनयो वेद पारगाः ॥

सम्वत १९९५ मधु मास कृष्णपक्ष दशाम्यां इन्द्रप्रस्थे (देहल्यां) प्रवर्तित निखिल भारतवर्षीय दशम वैद्य सम्मेलन स्वागत कारिणी समिति सभ्यैरिदप्रमाण पत्र वैद्य बांकेलाल गुप्ताय प्रथम वर्गीय स्वर्ण पदकञ्च सप्रमोदमस्माभि चन्द्रोदयाद्यौषधि कार्ये पर्य्यालोच्य समर्प्यते यद्भवद्भिरायुर्वेद प्रचुरप्रचारे प्रयतितव्यम् ।

| हस्ताक्षराणि सभापते | हस्ताक्षराणि मंत्रिणे । |
| --- | --- |
| अजमलखां | पं० शिवनारायण मिश्र |
| प० मथुराप्रसाद | पं० भागीरथ स्वामी |

## आयुर्वेद का सर्व विदित रत्न

# च्यवनप्राश

यह वह सर्वोत्तम, गुणदायक एवं शास्त्रीय औषधि है जिसने भारतवर्ष के वृद्ध और नेत्र-हीन ऋषि "च्यवन" को नव यौवन और नेत्र-ज्योति प्रदान की थी। इसका आविष्कार देव वैद्य अश्वनी-कुमारों द्वारा किया गया था। और च्यवन ऋषि के कारण "च्यवन प्राश्य" कहलाया। यह निर्बलता, कास, जीर्ण ज्वर, प्रमेह और क्षय तक के लिये प्रसिद्ध औषधि है।

इसके प्रयोग में आंवला तथा अष्टवर्ग काम में आता है। परन्तु आजकल के पैसा पटु व्यापारी आंवला पाक ही तैयार करके च्यवन प्राश्य के स्थान पर जनता को दे रहे हैं। ऐसे च्यवनप्राश्य को प्रयोग करना अपने शरीर को रोगी बनाना है। सच तो यह है कि आजकल गुण का आदर नहीं परन्तु रूप, रङ्ग और तड़क-भड़क का ध्यान अधिक दिया जाता है। ग्राहक भी यही चाहते हैं। चाहे वस्तु गुण में मिट्टी सदृश्य ही क्यों न हो। हमारा—

# च्यवनप्राश

आपको अति उत्तम एवं गुणप्रद मिलेगा। इसकी तैयारी में **हम रूप, रङ्ग का ध्यान नहीं रखते** परन्तु गुण का ध्यान अधिक रखते हैं।

# नवीन प्रशंसा-पत्र-

"कुछ अर्सेपहिले मैंने आपके यहां से ८२ सेर च्यवनप्राश अवलेह मंगाया था। पहिले मेरा विचार था कि इस अवलेह के नाम पर अधिकांश आंवलापाक ही सर्वत्र बिक रहा है। परन्तु आपके यहां के अवलेह ने मेरे इन विचारों में तुरन्त परिवर्तन कर दिया और मैं अपनी कूप—मंडूक वाली बात पर पछताने लगा। मैंने अन्य मित्रों को भी सलाह दी कि वे आपकी यहां की औषधियों को सेवन कर लाभ उठावें और लम्बे-चौड़े विज्ञापनों की लच्छेदार और भड़कीली भाषा के जाल में न फसें। लिखते हुए, अत्यन्त हर्ष होता है कि आपकी औषधियां शास्त्रोक्त गुण दिखाने वाली, शुद्ध और जादू का सा चमत्कार दिखाने वाली हैं।

एन० एल० माथुर अध्यापक, जयपुर सिटी

मूल्य—एक पाव १॥)

# मकरध्वज और उसके भेद—

मकरध्वज आयुर्वेद शास्त्र की प्रमुख औषधि है और अनुपान भेद से सभी रोगों को नष्ट करने वाली है। किन्तु आजकल इसके विषय में बड़ी ही अन्धाधुन्धी है। कोई ६०) तोला मकरध्वज बेच रहा है तो कोई ४) तोला में ही सर्वोत्तम मकरध्वज देने को कहता है। ऐसी अवस्था में किस पर विश्वास किया जाय और किसे अच्छा समझा जाय ? वास्तविक बात तो यह है कि—

## मकरध्वज

पारद, गन्धक और स्वर्ण के संयोग से बनता है। इन वस्तुओं के एवं क्रिया के थोड़े अन्तर से ही, गुणों में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। पारद के जितने अधिक संस्कार किये जायंगे, वह उतना ही उत्तम होगा और उसमें स्वर्ण के प्राप्त करने की उतनी अधिक शक्ति हो जायगी। इसलिये जितने अच्छे (संस्कारित) पारद से मकरध्वज बनाया जायगा, वह उतना ही अधिक गुणकारी होगा।

दूसरा भेद गन्धक का है। पारद के साथ जितने अधिक समय तक गन्धक जारण किया जायगा मकरध्वज उतना ही अधिक प्रभावशाली बनेगा, इसीलिये षड्गुण और चतुर्गुण गन्धक जारण मकरध्वज बनाने का शास्त्रों में विधान है। इन भेदों के अतिरिक्त अन्तर्धूम का भी बहुत बड़ा भेद हो जाता है अर्थात् गन्धक जारित करते समय शीशी का मुख बन्द कर दिया जाय, तब गन्धक विलम्ब से जारण होगा और मकरध्वज विशेष प्रभावशाली तैयार होगा। इसके विपरीत शीशी का मुख खुला रखकर बनाया जाय तो मकरध्वज अन्तर्धूम की अपेक्षा न्यून गुणकारी होगा

पारद जितने समय तक अग्नि पर रहेगा, मकरध्वज उतना ही अधिक प्रभावशाली बनेगा। पर आजकल तो कोयले की तेज अग्नि एवं बिजली के तेज ताप से १ दिन या १८ घण्टे में ही मकरध्वज बनाकर और उसे ही सर्वोत्तम रासायनिक प्रक्रिया से बना हुआ कहकर प्रचारित किया जाता है।

उनको यह पता ही नहीं कि आयुर्वेदानुसार इस सर्वोत्तम औषधि के बनाने का क्या ढङ्ग होना चाहिये।

लकड़ी की मधुर अग्नि जो मन्द २ आंच देती हो, उससे मकरध्वज तैयार करने में ४-५ दिन तो अवश्य लग जाते हैं। पर यह गुण और प्रभाव में अद्भुत रहता है और यही रोगियों का रोग नष्ट करके वैद्यों को धन और यश दिलवाता है।

हमने पाठकों की सुविधा के लिये उपर्युक्त उद्देश्यों के अनुसार सभी प्रकार के मकरध्वज बनाये हैं और उसी के अनुसार भाव भी रखे हैं, ताकि आवश्यकतानुसार आप जिस प्रकार का मकरध्वज चाहें, ले सकें। मूल्य सूची मंगा कर देखिये।

हमारी स्वप्रकाशित

# ग्रन्थ-माला

## जीवन विज्ञान

( सचित्र आसन चिकित्सा )

ले० श्रीमान् कविराज अत्रिदेव जी गुप्त विद्यालङ्कार स्नातक-गुरुकुल आयुर्वेद विद्यालय, कांगड़ी।

इस पुस्तक में १२ प्रकरण है। और उनमें पुरुष की उत्पत्ति, वीर्य, ओज, आर्तव, त्रिगुण, त्रिदोष दोष-विकृति विज्ञान, चिकित्सा सूत्र, आसनों का उद्देश्य, आसनों की तैयारी की विधि तथा उनसे रोग निवृत्ति, अनागत रोग प्रति बन्ध, गृह-चिकित्सा, रसायनाधिकार, वाजीकरण संस्कार आदि शीर्षक हैं। इनसे ही पाठक पुस्तक की उपयोगिता का अनुमान कर सकते हैं।

साथ ही आसनों के चित्र इतने स्पष्ट और अधिक हैं कि आसनों की विधि में सन्देह नहीं रह जाता। छपाई व चित्र दर्शनीय हैं। मू० २)

## उपदंश विज्ञान

ले०-श्रीमान कविराज पं० बालकराम जी शुक्ल आयु० प्रोफेसर आयुर्वेद महाविद्यालय, ऋषिकेश।

इस पुस्तक में उपदंश [गरमी, चांदी] रोग का वैज्ञानिक कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा का वर्णन किया है। पुस्तक के कुछ शीर्षक यह हैं:—उपदंश परिचय, प्राच्य पाश्चात्य का साम्यवाद, संक्रामण, निदान, सिफलिस के भेद, उपदंश, प्राथमिक कील, लिङ्गार्स, उपसर्गिक सकल रोग, उपदंश विकृतियां, मस्तिष्क विकार, फिरङ्ग चिकित्सा, पारद प्रयोग, पथ्यापथ्य आदि २ उपदंश सम्बन्धी सब ही विषय इसमें वर्णित हैं। कोई भी आवश्यक विषय छूटने नहीं पाया। मूल्य १)

## प्रयोग पुष्पावली

ले०-माननीय वैद्य शिरोमणि पं० महावीरप्रसाद जी मालवीय 'वीर' वैद्यराज।

( प्रथम भाग )

( अप्राप्य )

( द्वितीय भाग )

इसमें अनेकों उत्तमोत्तम सुगन्धित एवं औषधियों के तैल, अर्क, शरबत, गुटिकायें, मलहम, पेनबाम, आचार, चटनी, मसाले, सिरके, पकान, मोदक बनाने, सत्व आदि निकालने की नित्य उपयोगी और प्रचुर लाभदायक विधियां बनाई गई हैं। जिससे वैद्य, गृहस्थ और बेरोजगार भी खूब फायदा उठा रहे हैं। मूल्य केवल १)

## दोषधातु विज्ञान (सचित्र)

ले०-श्रीमान् पं० मुरारीलाल जी शर्मा वैद्यराज।

दोष क्या है? वे कैसे उत्पन्न होते हैं? इनके नाम। दोष क्यों कोप करते हैं? किस कारण से दूषित होने से क्या २ हानियां करते हैं? और कुपित होने पर कैसे चिकित्सा करनी चाहिये आदि आदि तथा सप्त-धातुएं भी इनमें विस्तार रूप से सरल भाषा में वर्णित हैं। मूल्य ॥=)

## सूर्यरश्मि चिकित्सा

ले०-श्रीमान् वैद्यभास्कर बांकेलाल जी गुप्त आयुर्वेदाचार्य, प्रधान सम्पादक—'धन्वन्तरि'।

सूर्यरश्मि-चिकित्सा को अंग्रेजी में क्रोमोपैथी (Chromopathy) कहते हैं। अंग्रेज इस चिकित्सा के आविष्कर्ता अमेरिका के डाक्टरों को मानते हैं।

पर वास्तव में यह चिकित्सा अति प्राचीन है और हमारे शास्त्रों में यहां तक कि वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसको पढ़ पाठक देखें कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें हमारे शरीर को कितनी लाभदायक हैं और इसके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं। जो सुकुमार स्त्री पुरुष औषधि सेवन से डरते हैं उनके लिये तो अमृत ही है।

पुस्तक अपने विषय की पहली ही है। और हमने इस पुस्तक की छपाई बड़ी ही चित्ताकर्षक कराई है तथा अनेक रङ्गीन चित्र भी दिये गये हैं। द्वितीय संस्करण, मू० ॥।) मात्र

## बालरोग चिकित्सा

ले०—श्री वैद्य पं० महावीरप्रसादजी मालवीय 'वीर'

भारतवर्ष में बालकों की मृत्यु-संख्या पर जब दृष्टि डाली जाती है तब बड़ा खेद होता है। बालक के उत्पन्न होने पर उसके माता पिता बड़ी॰ आशायें करने लगते हैं। किन्तु उनके पालन पोषण की विधि न जानने से एवं नित्य प्राप्त होने वाले रोगों से रक्षा न कर पाने से व सब आशाओं और बच्चे से भी हाथ धो बैठते हैं।

इस पुस्तक में दूषित दुग्ध पान के लक्षण, दुग्ध शुद्धि के लिये स्तनरोग-चिकित्सा, धृतपान, उबटन, और स्नान, औषधि मात्रा, उग्रवीर्य औषधियाँ, बालरोग का परिज्ञान, उपयोगी नियम, पारिग्रमिक रोग समूह का लक्षण तथा बालकों के समस्त रोगों का वर्णन, निदान, लक्षण और उनकी परीक्षित चिकित्सा लिखी गई है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी प्रत्येक गृहस्थी में रखने योग्य है। अधिकांश प्रयोग हमारे स्वयं परीक्षित हैं। मूल्य भी ॥।≈) मात्र है।

## रसायन संहिता

[ भाषा-टीका सचित्र ]

आयुर्वेदीय साहित्य के अनमोल रत्न अपनी अलौकिक प्रतिभा के साथ अन्धकार के आवरण से ढके हुये हैं। अमूल्य पुस्तकें यत्र तत्र पड़ी हुई हैं जिनके प्रकाशन की आवश्यकता है।

यह पुस्तक एक ऐसा ही रत्न है। अनुभवी और विचारशील लेखक महोदय ने हिमालय पर्यटन में परिश्रम से इसकी खोज की है। उन्हीं के प्रशमनीय प्रयत्न से यह पुस्तक-रत्न वैद्य समुदाय की सेवा में उपस्थित कर सके हैं। इसमें अनेक आश्चर्य प्रयोग, औषधियों के सत्व प्रस्तुत विधि, उपधातु का शोधन, कारण प्रभृति अनेक विषय दिये गये हैं। इसके प्रकाशन में जो परिश्रम और अर्थ व्यय किया गया है उसकी सफलता गुण-ग्राही साहित्य प्रेमियों पर ही निर्भर है। मू० केवल १)

## कुचमार तन्त्र

[ भाषा-टीका ]

—श्रीमद् कुचमार मुनि प्रणीत—

प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन और अत्यन्त गोपनीय है। इसमें इन्द्रिय वृद्धि, स्थूल-करण, कामोद्दीपन, लेह, बाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन, सङ्कोचन, केश पतन, गर्भाधान सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भली-भांति बताये गये हैं। इसकी भाषा टीका सुबोध भाषा में की गई है। छपाई चित्ताकर्षक। मूल्य ।≈) मात्र।

## दशमूल (सचित्र)

ले०—श्रीमान लाला रूपलाल जी वैश्य

दशमूल किसको कहते हैं? किन १० औषधियों से बनता है? उन औषधियों की आकृति कैसी है? यह बिरले ही जानते हैं। इस पुस्तक में दशमूल की दस औषधियों का सचित्र वर्णन है।

साथ ही उनके पर्यायनाम, गुण और प्रयोग बताये गये हैं। तथा दशमूल, पचमूल से बनने वाले अनेक योगों की विधि भी दी गई है। चित्र इतने स्पष्ट हैं कि देखते ही झट पहिचान सकते हैं। मूल्य ।।) मात्र।

## शल्यतन्त्रम्

लें०—श्रीमान् आयुर्वेदाचार्य पं० धर्मानन्द जी शास्त्री

शल्य क्रिया में ही वैद्य-समाज को पश्चात्पद बताया जाता है। पर इस ग्रन्थ को देखने से प्रकट होता है कि इस ओर भी आयुर्वेद कितना पूर्ण था इसमें शल्य, व्रण, शोथ, की सामान्य और दूषित सभी अवस्थाओं के लक्षण और उपचार, बन्धन, छेदन भेदन विम्लापन, पाचन रक्तमोक्षण, स्नेहन, लेखन, ऐषण, आहरण, सीवन, पाड़न, निर्वापन, शोधन, रोपन, अवसादन, क्षारकर्म, प्रतिसारण, लामोत्पादन, कृमिनाश सबका वर्णन है।

आंत निकलना, अण्डकोष फटना, गोली लगना विषज व्रण, पिच्छिल व्रण, उनकी व्याप्ति, उपद्रव, लक्षण और चिकित्सा में काम आने वाले पचास शस्त्रों के सचित्र वर्णन और प्रयोगों का विधि बड़ी अच्छी तरह समझाई हैं। प्रत्येक चिकित्सक को पास रखने योग्य ग्रन्थ है। मल्य २॥),

## आयुर्वेदीय औषधोपचार पद्धति

( प्रथम भाग )

ले०—वैद्यभास्कर बांकेलाल गुप्त, सम्पादक-धन्वन्तरि

जिन पुस्तकों को वैद्यराज और गृहस्थ भी चाहते हैं। वे यही हैं। प्रथम भाग में चार सौ से भी अधिक रस, रसायन, वटिका, गुग्गुल, घृत, तैल, क्वाथ, अरिष्ट, आसव, सत्व, क्षार, आदि औषधों के गुण, अन्तर, भिन्न २ दशाओं में अलग २ अनुपान मात्रा, व्यवहार विधि, समय आदि सब कुछ बड़ी सरल भाषा में समझाया गया है। मूल्य ॥)

( द्वितीय भाग )

इस भाग में ज्वर, मलेरिया, सन्निपात, विषम जीर्ण ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, अर्श, मन्दाग्नि, विशूचिका, कृमि, पांडु, कामला, हलीमक, रक्तपित्त क्षय, कास, श्वास, वात-व्याधि, वातरक्त, आमवात, अजीर्ण, अरुचि, हिक्का, स्वरभेद, छर्दि, तृष्णा मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, सुजाक, पथरी, मधुमेह, प्रमेह दोष, अपस्मार, उरुस्तम्भ, शूल, अ... हृद्रोग, उदररोग, जलोदर, शोथ, कांच ...ना, उपदंश, फिरङ्ग, कुष्ट, अम्लपित्त, मसूरिका, मोती-ज्वर, शीत पित्त, उदरावर्त वृद्धि, अण्ड वृद्धि, कण्ठ-माला, व्रण, नड़ीव्रण, इन्द्रलुप्त, दारुणक, मुंहासे, नपुंसकता, शीघ्रपतन, प्रदर, हिस्टेरिया, प्रसूति, कष्टार्त्तव, वन्ध्या, गर्भपात, योनिकण्डु, बालरोग, मुखपाक, दन्तरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, शिरशूल आदि सब व्याधियों पर अनुभव सिद्ध व्यवहारिक सरल चिकित्सा दी है। मू० ॥) मात्र

## मरणोन्मुखी आर्य चिकित्सा

लेखक— ला० राधावल्लभ जी वैद्यराज।

आयुर्वेदीय चिकित्सा मरने को तैयार है। प्राण सिसक रहे है मृत्यु शय्या बिछाई जा रही है। क्यों? उनके पुत्र बुड्ढी माता की परवाह नहीं करते। क्या मर जाने दें। भारतवासी वैद्यो! पूछो अपने मन से इस निबन्ध मे आयुर्वेदीय चिकित्सा की जो दुर्दशा है उसका ओजस्विनी भाषा में वर्णन है। इसमें साहित्य पठन, पाठन, ज्ञानोपार्जन, कर्तव्य निरूपण, सामिग्री सम्पादन, प्रतिष्ठा स्थापन, शक्ति संगठन शीर्षक, विचार पूर्ण लेख हैं इस निबन्ध के पढ़ने से अपनी सच्ची अवस्था मालूम होगी बार २ पछताना होगा मिथ्या अभिमान के कान पकड़े जांयगे, एक बार पढ़कर देखिये तो सही मू० ।)

अति प्राचीन और अत्यन्त गोपनीय

## रति रहस्य

( भाषा टीका सहित )

श्रीमद् विद्वद्वर श्री कोक्कोक मुनि प्रणीत।

इस पुस्तक में जात्या, चन्द्रकला, सुरत भेद, सामान्य, देश ज्ञान, आलिङ्गन, चुम्बन, नरम बाह्यरति, सुरत, कन्याविश्रम्भदय, भर्य्यापारदारिक वशीकरण, सर्वयोगाधिकार रस प्रकार १५ अध्याय या अधिकार है। इन १५ अधिकारों में कामकला सम्बन्धी सभी आवश्यक पहलुओं पर अच्छी तरह वर्णन किया गया है। यह अति प्राचीन पुस्तक कोका रचित असली काम शास्त्र है। मू० १ प्रति २)

**स्त्री रोग-चिकित्सा**—इसमें सम्पूर्ण स्त्री रोग, योनि सम्बन्धी रोग, उदर, आर्तव यूरेलेजिआ, जरायु, प्रदाह, गर्भाशय में होने वाले रोग आदि का पूर्ण वर्णन एवं अनुभव पूर्ण चिकित्सा दी है। मू० बरालोकपुर से प्रकाशित ।।)

**मनुष्य का आहार**—इस पुस्तक के लेखक को पुस्तक की उत्तमता के लिये नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने पदक दे सम्मानित किया है। इसमें खान-पान सम्बन्धी प्रायः सब ही विषयों का विस्तृत सुबोध और स्पष्ट वर्णन है। मू० १) एक रुपया।

**सुगन्धित तैल**—तैलों का प्रचार आजकल भारतवर्ष में बहुत अधिक है इस पुस्तक में बहुत प्रकार के सुगन्धित तैलों के नुस्खे हैं। यदि एक प्रयोग भी बनाकर बाजार में चलाया जाय तब काफी लाभ हो सकता है। पृष्ठ संख्या ८५ मू० ।।) आना।

**हरिधारित ग्रन्थ-रत्न**—समस्त रोगों के सुलभ प्रयोग। भाषा टीका सहित। मू० ।=)

**व्रणोपचार पद्धति**—इसमें विद्रधि, जहरवाद, नहरुवा, अग्नि से जलना, चोट लगना, कण्ठमाला भगन्दर आदि रोगों की अनुभूत चिकित्सा वर्णित है। मू० ।=)

**सिद्धौषधि प्रकाश**—(द्वितीय संस्करण) इसमें सैकड़ों शतशोनुभूत अव्यर्थ प्रयोग भरे पड़े हैं, जो अनुभूत योगमाला में समय २ पर प्रकाशित हुये हैं। पृष्ठ ११२ कीमत १)

**राजयक्ष्मा**—विद्वानों का कहना है कि जितने मनुष्य समस्त रोगों के कारण मरते हैं। उससे कुछ अधिक मनुष्य इस दुष्ट रोग क्षय (तपेदिक) से मरते हैं। इस पुस्तक पर नि० भा० सम्मेलन पर स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ है। विषय पर अच्छा विवेचन है। पृष्ठ संख्या ७३ मूल्य ।) चार आना।

**श्वास-रोग चिकित्सा**—इस पुस्तक में श्वास (दमा) के सम्पूर्ण लक्षण तथा उनके भेद आदि सविस्तार वर्णित हैं। प्रयोग चिर परीक्षित एवं आसान हैं। कीमत ।)

**अण्ड तथा अन्त्रवृद्धि चिकित्सा**—पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। रोग का पूर्णनिदान लक्षण, चिकित्सा आदि सविस्तार दी है। लेखक पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य हैं। मू० ।)

**भारतीय रसायन शास्त्र**—हिन्दी वाले यदि ध्यान पूर्वक इसका अवलोकन करेंगे तो उन्हें ऐसे विषय की खोज का महत्व मालूम होगा। विद्वानों को इस विषय में मन लगाना चाहिये। जिससे उन्हें मालूम हो कि हमारी रसायन विद्या कहां कहां बिखरी पड़ी है। और उसमें कितने महत्व का विषय है। पुस्तक अपने ढङ्ग की निराली ही है। मूल्य ।।) मात्र।

**आयुर्वेद सूत्र**—विस्तृत संस्कृत व्याख्या और सरल हिन्दी भाषा टीका सहित। यह पुस्तक आयुर्वेद विद्यार्थी और चिकित्सकों के लिये बड़ी उपयोगी है। आयुर्वेदिक सिद्धान्त, निदान चिकित्सा कल्पना आदि विषयों से युक्त आयुर्वेद सिद्धान्त ग्रन्थ है। मूल्य १) रुपया।

**आरोग्य-सूत्रावली**—प्रत्येक रोगी तथा आरोग्याभिलाषी स्त्री पुरुषों को पाठ करने योग्य है। मूल्य ।=) छः आना मात्र।

**सन्तति-रहस्य**—इस महत्व-पूर्ण पुस्तक में रज, वीर्य, ब्रह्मचर्य, गर्भस्थिति, सहगमन, गर्भ पर तात्कालिक परिस्थिति का प्रभाव, गर्भ के समय स्त्री पुरुष का व्यवहार, बांझपन, नपुंसकता आदि विषयों पर डाक्टरी, वैद्यक तथा यूनानी मतों द्वारा तुलनात्मक प्रकाश डाला है। पुस्तक सचित्र और बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ॥) मात्र।

**पेटेन्ट औषधि और भारतवर्ष**—इसमें भारतवर्ष की सभी पेटेन्ट औषधियों का भण्डाफोड़ किया गया है। अमृतांजन, बालामृत आदि ४५३ प्रसिद्ध २ पेटेन्ट औषधियों के प्रयोग विधि, गुण आदि दिये हैं। निर्माता एक आने की दवा का १) से भी अधिक ले लेते हैं। अतः स्वयं बनाकर लाभ उठाना चाहें तो शीघ्र मंगा लें। कीमत—प्रथम भाग ॥), द्वितीय भाग १)

**अर्श-रोग चिकित्सा**—अपने ढङ्ग की यह एक ही पुस्तक है। इसमें बवासीर रोग की उत्पत्ति कारण एवं निदान भली-भांति सरल भाषा में लिखी गई है। मूल्य केवल ॥) मात्र।

**क्रोमोपैथी**—सूर्य की किरणों द्वारा जल, तैल, खांड बनाकर उनसे ही सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने की विधि लिखी गई है। मू० ≡)

**विष चिकित्सा नं० १**—इसमें जहरों के इलाज के आवश्यक नोट हैं और विषोपचार के संक्षिप्त सिद्धांतों का यूनानी, वैद्यक और अंग्रेजी मत से वर्णन है। मक्खी, मच्छर, भिड़, छिपकली, चूहा, व सांप इत्यादि भगाने के उपाय भी दिये हैं। मू० ।≡)

**विष चिकित्सा नं० २**—इसमें तम्बाकू, शराब, चरस, अफीम, गांजा इत्यादि का वर्णन, इनके विष उतारने के इलाज, विधियां, इनके दुष्परिणाम और छुड़ाने की अनेक विधियां अङ्कित की गई हैं। मू० १।=)

**शोधन विधि**—इसमें धातु उपधातु, रस उपरस, रत्न उपरत्न, सब पदार्थों की जो खाद्य औषधियों में डाले जाते हैं, शुद्ध करने की विधियां लिखी हैं। जिस द्रव्य की शोधन विधि लिखी है उसका सविस्तार विवरण भी पहिले दे दिया है। उससे प्रत्येक भाषा के नाम और आकार, उत्पत्ति और भेद तथा पहिचान सब दी गई हैं। रस और भस्म बनाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पास इसका होना परम आवश्यक है। मू० १॥)

**शीतला का वर्णन** इस पुस्तक के भीतर शीतला का सविस्तार वर्णन, उसके विषय में सार्वजनिक विचार, उनकी व्याख्या, शीतला के रोगी की सम्पूर्ण सावधानियां जिन से वह शीघ्र स्वस्थ हों और कोई अङ्ग भी खराब न हो, शीतला के टीका की हानि, लाभ सब बातों का पूरा वर्णन है। मूल्य प्रति जिल्द १)

**प्रदर-रोग**—इसमें आर्तव की अधिकता और रज के समय प्रवाह का कारण व लक्षण और इलाज अङ्कित किया गया है। मू० ।=)

**गुप्त प्रकाश**—हिन्दुस्तान के ७० से अधिक प्रसिद्ध २ वैद्यों का जीवन-चरित्र और उनके फोटो तथा अनुभूत योग जो बहुत ही लाभ दायक और उत्तम हैं दिये गये हैं। इसके ४४६ योग हैं। पुस्तक अपने ढंग की प्रथम है। मू० २॥) रुपया।

**फिरङ्ग रोग (सचित्र)**—ऐसी पुस्तक आज तक इस विषय पर नहीं लिखी गई है। इस पुस्तक में फिरङ्ग रोग (आतशक) का वर्णन विस्तार सहित किया है। आतशक रोग किस प्रकार होता है, इसके लक्षण क्या हैं, यह कितने प्रकार का होता है और इसकी चिकित्सा किस तरह होनी चाहिये, यह सब भली-भांति इस पुस्तक में लिखा गया है। विषय को भली भांति समझाने के लिये इसमें लगभग ५० तिरङ्गे और एक रङ्ग के हाफटोन फोटो ब्लाक के चित्र दिये गये हैं। अन्त में ३०० से अधिक हर प्रकार के प्रयोग दिये हैं। जिनसे हर दर्जे को प्राप्त अथवा पैतृक आतशक दूर किया जा सकता है। बड़े २ वैद्यों, हकीमों, डाक्टरों के अनुभूत प्रयोग और गुप्त भेद लिखे हैं। रोग को दूर करने वाले प्रयोगों के अतिरिक्त इससे बचने के उपाय भी लिखे हैं मूल्य ३) तीन रुपया।

**निःसंतान क्या करें**—इस विषय पर आज तक कोई भी पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुई। केवल कुछ साधनों तथा प्रयोगों का सेवन करने से सफलता प्राप्त हो सकती है। नवीन अनुसन्धानों द्वारा जो विकार निःसन्तानता के प्रकट हुए, उनका स्पष्ट वर्णन किया है तथा उन विकारों को दूर करने के उचित उपायों का भी वर्णन है। अपने ढङ्ग की निराली पुस्तक है। फिर भी मूल्य केवल =)

**रसतन्त्र सार व सिद्ध प्रयोग संग्रह**—आयुर्वेद विषय का अपूर्व ग्रन्थ है। ऐसा उत्तम ग्रन्थ आज तक देखने में नहीं आया। इसमें औषधियों के नाप तोल, अभाव वर्ग, शोधन विधि, भस्म करने की सरल विधियां, कूपीपक्व, पर्पटी, सिन्दूर, बालुका यन्त्र, अग्नि देना, पारद शोधन विधि आदि विस्तार पूर्वक समझाई हैं। हजारों शास्त्रीय प्रयोग उनके गुण, मात्रा अनुपानादि दिये हुये हैं। मू० ६)

**चिकित्सा तत्व प्रदीप (दोनों भाग)** इस पुस्तक में औषधि गुण परिणाम, व्याधि प्रतिकार आदि विषयों की गौण रूप से, वैज्ञानिक रूप रेखा पर विचारणा की है। पृष्ठ संख्या ३२० मू० १॥)